

वीर सेवा मन्दिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष ३६ : कि० १

जनवरी-मार्च १९८३

इस अंक में—

क्रम	विषय	पृ०
१.	उपदेशी पद—कवि बनारसीदास जी	१
२.	जैनधर्म का प्राचीनत्व—डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन	२
३.	महाकवि रङ्गकृत रिट्ठणेमिचरिउ में सोनागिर की भट्टारकीय गद्दी का उल्लेख —डॉ० राजाराम जैन	५
४.	स्थानीय संग्रहालय पिछोर में सरक्षित जैन प्रतिमाएं—श्री नरेशकुमार पाठक	७
५.	ज्ञायक भाव—श्री बाबूलाल 'वक्ता'	८
६.	जैनदर्शन में सप्तभगोवाद—श्री अशोककुमार जैन	१०
७.	विश्वशान्ति में महावीर के सिद्धान्तों की उपादेयता —कु० पुखराज जैन	१४
८.	बिबेकी विद्वानों के लिए—श्री महाचन्द जैन	१८
९.	विद्यानुवाद और कैंसर रोग : —श्री प्रभुदयाल कासलीवाल	२१
१०.	विचारणीय प्रसंग—पद्मचन्द्र शास्त्री	२२
११.	आवक की ग्यारहवीं प्रतिमा—पद्मचन्द्र शास्त्री	२५
१२.	जरा सोचिए—सम्पादकीय	२६
१३.	अग्रणी साहित्यान्वेषी स्व० अग्रचन्द नाहुटा —डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन	आवरण २
१४.	डॉ० सीतलप्रसाद जन्म शता० समारोह डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन	३

प्रकाशक

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

अग्रणी साहित्यान्वेषी स्व० अग्रचन्द नाहटा

गत १२ जनवरी १९८३ को स्वनगर बीकानेर में, लगभग ७२ वर्ष की आयु में, लब्धप्रतिष्ठ साहित्यसेवी श्री अग्रचन्द नाहटा का देहान्त हो गया। वह अति सादा वेषभूषा, आहार-विहार एवं आदतों वाले, धार्मिक प्रवृत्ति के सद्गृहस्थ एवं सफल व्यापारी थे। शिक्षा-दीक्षा भी अति सामान्य काम-चलाऊ चटसाली रही। किन्तु इस पृष्ठभूमि वाले व्यक्ति से जिस बात की आशा प्रायः नहीं की जाती, उसे स्व० नाहटा जी ने आश्चर्यजनक रूप में करके दिखा दिया। साहित्य के क्षेत्र में जिस चाव, उत्साह, लगन और अध्यवसाय के साथ वह लगभग पचास वर्ष निरन्तर साधना करते रहे और परिणामस्वरूप जैसी और जो उपलब्धियाँ उन्होंने प्राप्त की, उसके अन्य उदाहरण अति विरल हैं।

पुरानी हस्तलिखित प्रतियों की खोज-तपास, अपने निजी अभय जैन ग्रन्थालय एवं शकरदान कलाभवन में उनका सग्रह-संरक्षण, उन पर शोध-खोज करना तथा उसके परिणामों से विद्वज्जगत को तत्परता के साथ परिचित कराते रहना, नाहटाजी की प्रमुख साहित्यिक प्रवृत्तियाँ रही। इस क्षेत्र में उन्हें श्वेताम्बर समाज का 'आचार्य जुगलकिशोर मुस्तार' कहा जा सकता है। मुस्तार साहब की भाँति नाहटाजी की दृष्टि भी मूलतः ऐतिहासिक रही और झुकाव तुलनात्मक अध्ययन की ओर विशेष रहा। स्वभावतः नाहटाजी का कार्यक्षेत्र मुख्यतः जैन साहित्य रहा, उसमें भी विशेषरूप से देश-भाषाओं, हिन्दी, राजस्थानी आदि में रचित श्वेताम्बर साहित्य, किन्तु वह वही तक सीमित नहीं रहा। दिगम्बर साहित्य भी जब जहाँ उनके दृष्टिपथ में आया, बिना साम्प्रदायिक पक्षपात के वह भी उसी प्रकार उनकी दिलचस्पी का विषय बना। इतना ही नहीं, जैनतर हिन्दी एवं राजस्थानी साहित्य की शोध-खोज में भी उनका योगदान महत्वपूर्ण रहा। अनेक साहित्यान्वेषियों एवं शोधार्थियों को भी उनसे अमूल्य सहायता मिलती रही। कई साहित्यिक पत्रिकाओं, अभिनन्दन-स्मृति ग्रन्थों आदि के सम्पादन में योग देने के अतिरिक्त, नाहटाजी ने साधक एक दर्जन पुस्तकों की रचना भी की, और जैनाजैन पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित उनके लेखों की संख्या तो लगभग चार सहस्र होगी। दूसरे लेखकों की कृतियों की समीक्षा भी खरी करते थे और उनकी त्रुटियों को बिना किसी तकल्लुफ के गिना डालते थे।

हमारे तो बन्धुवर नाहटाजी के साथ लगभग चालीस वर्ष से निकट साहित्यिक-मैत्री सम्बन्ध रहते आये और उनके सैकड़ों पत्र हमें प्राप्त हुए। कई बार मतभेद भी हुए परन्तु सम्बन्धों में कभी भी कटुता नहीं आई, वरन् सीधाई में वृद्धि ही हुई। मित्रों को लिखने को निरन्तर प्रेरणा देने वालों में भी उन जैसे बहुत कम देखने में आये। साहित्य साधना में उनका जो सतत अध्यवसाय रहा वह किसी तपस्वी की तपःसाधना से कम नहीं, 'विद्वानेव विज्ञानाति विद्वज्जन परिश्रमम्'। वीर सेवामन्दिर के मुखपत्र अनेकान्त पर उनकी सदैव कृपा रही और उनकी विभिन्न किरणों में उनके दर्जनों लेख प्रकाशित हुए। वस्तुतः नाहटाजी के निधन से हिन्दी साहित्य संसार की अपूरणीय क्षति हुई है।

हम स्वयं अपनी ओर से तथा वीर सेवामन्दिर एवं अनेकान्त परिवार की ओर से दिवंगत आत्मा की शान्ति एवं सद्गति की भावना करते हुए, उनके परिजनो के साथ हादिक संवेदना अनुभव करते हैं।

ओम् अहम्



परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमयनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष ३६
किरण १

वीर-सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२
वीर-निर्वाण सवत् २५०८, वि० स० २०३६

{ जनवरी-मार्च
१९८३

उपदेशी-पद

चेतन, तू तिहुंकाल अकेला ।
नदी-नाव संयोग मिले ज्यों, त्यों कुटुम्ब का मेला ॥
यह संसार असार रूप सब, ज्यों पटपेखन खेला ।
सुख-संपत्ति शरीर-जल-बुदबुद, बिनशत नाहीं बेला ॥
मोह-मगन आनमगुन भूलत, परी तोहि गल-जेला ।
मैं मैं करत चहुंगति डोलत, बोलत जैसे छेला ॥
कहत "बनारसि" मिथ्यामति तज, होय सुगुरु का चेला ।
तास वचन परतीत आन जिय, होइ सहज सुरभेला ॥
X X X X
चेतन, तोहि न नेक संभार ।
नख सिख लों दिढ़बन्धन बेड़े, कौन करे निरवार ।
जैसे आग पषाण काठ में, लखिय न परत लगा र ।
मदिरा पान करत मतवारो, ताहि न कछु विचार ॥
ज्यों गजराज पखार आप तन, आपहि डारत छार ।
आपहि उगल पाट को कीरा, तनहि लपेटत तार ॥
सहज कबूतर लोटन को सो, खुल न पेच अपार ।
और उपाय न बनै 'बनारसि', सुमिरन भजन अपार ॥

जैनधर्म का प्राचीनत्व

□ इति० मनीषी डॉ० ज्योति प्रसाद जैन

किसी धर्म की श्रेष्ठता एवं उपादेयता उसकी प्राचीनता अथवा अर्वाचीनता पर अनिवार्यतः निर्भर नहीं होती, किन्तु यदि कोई धार्मिक परम्परा प्राचीन होने के साथ-साथ सुदीर्घ कालपर्यन्त सजीव, सक्रिय एवं प्रगतिवान् बनी रहती है और लोक के उन्नयन, नैतिक वृद्धि तथा सांस्कृतिक समृद्धि में प्रबल प्रेरक एवं सहायक सिद्ध हुई होती है तो उसकी प्राचीनता जितना अधिक होती है वह उतना ही अधिक उक्त धर्म के स्थायी महत्व तथा उसमें निहित सार्वकालिक एवं सार्वभौमिक तत्त्वों की सूचक होती है। इसके अतिरिक्त, किसी भी संस्कृति के उद्गम एवं विकास का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने तथा उसकी देनों का समुचित मूल्यांकन करने के लिए भी उसकी आधारभूत धार्मिक परम्परा की प्राचीनता का अन्वेषण आवश्यक हो जाता है।

यह प्रश्न हो सकता है कि जैनधर्म की प्राचीनता में शंका करने की अथवा उसे एक अत्यन्त प्राचीन धर्म परंपरा सिद्ध करने की आवश्यकता ही क्यों हुई? स्वयं जैनों की परम्परा अनुश्रुतियाँ तो सुदूर अतीत में, जबसे भी वह मिलनी प्रारम्भ होती है, निर्विवाद एवं सहज रूप में उसे सर्वप्राचीन धर्म मानती ही चली आती हैं। साथ ही, बौद्ध एवं ब्राह्मणीय (हिन्दू) अनुश्रुतियाँ भी अत्यन्त प्राचीनकाल से जैनधर्म की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करती चली आती हैं। इस विषय में भारत वर्ष के पुरातन आचार्यों एवं मनीषियों ने कभी कोई विवाद नहीं उठाया। अतएव जैनधर्म की प्राचीनता सिद्ध करने की कोई आवश्यकता नहीं थी। किन्तु आधुनिक प्राच्यविदों एवं इतिहासकारों ने भारतीय इतिहास के अन्य अनेक तथ्यों की भाँति उसे भी एक समस्या बना दिया।

अठारहवीं शती ई० के अन्तिम पाद में यूरोपीय प्राच्यविदों ने जब भारतीय इतिहास, समाज, धर्म, संस्कृति,

साहित्य, कला आदि का अध्ययन प्रारम्भ किया तो उन्होंने उस आधुनिक ऐतिहासिक पद्धति को अपनाया जिसमें वर्तमान को स्थिर बिन्दु मानकर प्रत्येक वस्तु के इतिहास को पीछे की ओर उसके उद्गम-स्थान या उदयकाल तक खोजते चला जाना था। जो तथ्य प्रमाण, सिद्ध होते जाते और अतीत में जितनी दूर तक निश्चित रूप से ले जाते प्रतीत होते, वही उनका अथवा उनकी ऐतिहासिकता का आदिकाल निश्चित कर दिया जाता। कालान्तर में नवउपलब्ध प्रमाणों के प्रकाश में उक्त अवधि को और अधिक पीछे की ओर हटा ले जाना सम्भव होता तो वैसा करने में भी विशेष सकोच न होता। उन्नीसवीं शती के प्राच्यविदों द्वारा पुरासंस्कृत एवं कायान्वित यह खोज-शोध पद्धति ही आज के युग की सर्वमान्य वैज्ञानिक अनुसंधान पद्धति मानी जाती है। इस परीक्षा-प्रधान बौद्धिक युग में प्रत्येक तथ्य को परीक्षा द्वारा युक्तियुक्त प्रमाणित करके ही मान्य किया जाता है। इसी पद्धति के अवलम्बन द्वारा गत डेढ़-सौ वर्षों में जैनधर्म की ऐतिहासिकता सातवीं शताब्दी ईस्वी में बौद्धधर्म की शाखा के रूप में प्रगट होने वाले एक छोटे से गौण सम्प्रदाय की स्थिति से शनैः-शनैः उठकर कम से कम वैदिक धर्म जितने प्राचीन तथा सुसमृद्ध संस्कृत से समन्वित एक महत्वपूर्ण भारतीय धर्म की स्थिति को प्राप्त हो गई है। वर्तमान युग में जैनधर्म सम्बन्धी ज्ञान के विकास की तथा परिणामस्वरूप उसकी ऐतिहासिकता एवं आपेक्षिक प्राचीनता के निर्णय की एक अपनी कहानी है जो रोचक होने के साथ-साथ ज्ञानप्रद भी है। इस समय उसमें न जाकर जैन परम्परा की प्राचीनता के कतिपय प्रमुख प्रमाण प्रस्तुत किये जाते हैं।

जैन परम्परा के चौबसवें एवं अन्तिम तीर्थंकर निग्रेन्ध ज्ञातपुत्र श्रमण भगवान् यद्वर्मान महावीर का निर्वाण विक्रम पूर्व ४७०, शकशालिवाहन पूर्व ६०५ तथा ईसा पूर्व ५२७

में हुआ था। वह बौद्ध धर्म के प्रवर्तक एवं संस्थापक शाक्य मुनि तथागत गौतम बुद्ध के ज्येष्ठ समकालीन थे—भगवान् बुद्ध के निर्वाण की तिथि में अनेक मतभेद हैं, किन्तु बहुमान्य आधुनिक मत के अनुसार उनका परिनिर्वाण ईसा पूर्व ४८३ में हुआ माना जाता है। बौद्धों के पालिनिपिटक नामक प्राचीनतम धर्म-ग्रन्थों में भगवान् महावीर का उल्लेख निगंठनातपुत्त (निग्नन्थज्ञातुपुत्र) नाम से हुआ है और उन्हें श्रमण परम्परा में उत्पन्न उस काल के छः तीर्थंकरों (सर्व महान् धर्ममार्ग प्रदर्शकों) में परिगणित किया गया है। बौद्ध ग्रन्थों में प्राप्त भगवान् महावीर एवं जैनधर्म सम्बन्धी उल्लेखों से डॉ० हर्मन जेकोबी प्रभृति प्रकाण्ड प्राच्यविदों ने यह फलित निकाला है कि 'इस विषय में कोई सन्देह नहीं है कि महावीर और बुद्ध एक-दूसरे से स्वतन्त्र किन्तु परस्पर प्रायः समकालीन धर्मोपदेष्टा थे। प्राचीन बौद्ध-ग्रन्थों में जैनधर्म का एक प्रबल प्रतिद्वन्द्वी धर्म के रूप में तो उल्लेख किया गया है, किन्तु इस बात का कहीं कोई संकेत नहीं है कि वह एक नव-स्थापित सम्प्रदाय था। इसके विपरीत, उनके उल्लेख इस प्रकार के हैं कि जिनसे यह सूचित होता है कि बुद्ध के समय में निर्ग्रन्थों (जैन) का सम्प्रदाय पर्याप्त प्राचीन हो चुका था—वह बौद्धधर्म की स्थापना के बहुत पहले से चला आ रहा था।' बौद्ध साहित्य से यह भी प्रतीत होता है कि बोधि प्राप्त करने के पूर्व गौतम बुद्ध ने सत्य की खोज में जो विविध प्रयोग किये थे उनमें एक जैन मुनि के रूप में रह कर जैन विधि से तपश्चरण आदि करना भी था। इस तथ्य का समर्थन उस जैन अनुश्रुति से भी होता है जिसके अनुसार बौद्धधर्म की स्थापना एक जैन साधु द्वारा हुई थी। दोनों धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन में यह बात भी स्पष्ट हो चुकी है कि बौद्धधर्म पर जैनधर्म का पर्याप्त प्रभाव पड़ा था और बुद्ध ने अनेक बातें जैनधर्म से लेकर अपने धर्म में समाविष्ट की थी।

बौद्ध साहित्य में लिखा है कि वैशाली के लिच्छवि निर्ग्रन्थों के प्राचीन अर्हंत चैत्यों के पूजक थे। उसमें तीर्थंकर पार्श्व के चातुर्थाभि धर्म का भी उल्लेख हुआ है। इससे स्पष्ट है कि आद्य बौद्ध लोग तेईसवें तीर्थंकर भ० पार्श्वनाथ के उपदेशों से सम्बन्धित जैनो की महावीर पूर्व परम्परा से भी अवगत थे। बौद्ध धर्मपद में प्रथम तीर्थंकर ऋषभ

तथा अन्तिम तीर्थंकर महावीर के नामोल्लेख हैं तथा बौद्धाचार्य आर्यदेव ने अपने षट्शास्त्र में ऋषभदेव को भी जैनधर्म का मूल प्रवर्तक बताया है।

आजीविक नामक एक अन्य श्रमण सम्प्रदाय के संस्थापक मन्खलि गोशाल ने, जो महावीर और बुद्ध का प्रायः समकालीन था, समस्त मानव जाति को छः समुदायों में विभक्त किया है, जिनमें निर्ग्रन्थों का तीसरा नम्बर है। इस पर से विद्वानों का कहना है कि मानव जाति के ऐसे मौलिक विभाजन में किसी नवीन, गौण या थोड़े समय से प्रचलित सम्प्रदाय को इतना महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त नहीं हो सकता था।

इसके अतिरिक्त, जैसा कि डॉ० जैकोबी का कहना है, जैनो जैसे 'एक बहुसंख्यक सम्प्रदाय की लिपिबद्ध परम्परा अनुश्रुति को निरर्थक एवं असत्य-पुंज मानकर अस्वीकार करने के लिए भी तो कोई उचित कारण होना चाहिये। वे समस्त तथ्य एवं घटनाएँ जो जैनो की अत्यन्त प्राचीनता की सूचक हैं प्राचीन जैनग्रन्थों में भरी पड़ी हैं और ऐसी वास्तविकता के साथ लिखी गई हैं कि उन्हें तब तक अमान्य नहीं किया जा सकता जब तक कि उन तर्कों एवं युक्तियों से अधिक सबल प्रमाण प्रस्तुत न किये जाय जिन्हें कि जैन धर्म की प्राचीनता में शंका करने वाले विद्वान् बहुधा प्रस्तुत करते हैं।'

वस्तुतः भ० महावीर के निर्वाण से अढ़ाई सौ वर्ष पूर्व (ई० पूर्व ७७७ में) एकसौ वर्ष की आयु में सम्मेदशिखर (बिहार राज्य के हजारी बाग जिले में स्थित पारसनाथ पर्वत) से निवाण प्राप्त करने वाले काशी के राजकुमार २३वें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता में अब प्रायः किसी पीठात्यय या पाश्चात्य विद्वान् को सन्देह नहीं है।

इतना ही नहीं, जैसा कि सुप्रसिद्ध दार्शनिक डॉ० राधाकृष्णन का कहना है, 'इस बात में कोई सन्देह नहीं है कि जैनधर्म वर्धमान या पार्श्वनाथ के भी बहुत पहले से प्रचलित रहता आया है।' डॉ० नगेन्द्र नाथ बसु का मत है कि 'भ० पार्श्वनाथ के पूर्ववर्ती बाइसवें तीर्थंकर नेमिनाथ भ० कृष्ण के ताऊजात भाई थे। यदि हम कृष्ण की ऐतिहासिकता स्वीकार करते हैं तो कोई कारण नहीं कि हम

उनके समकालीन २२वें तीर्थंकर भ० नेमिनाथ को एक वास्तविक एवं ऐतिहासिक व्यक्ति मान्य न करें।' प्रो० कर्वे, कर्नल जेम्स टाड, शेजर जन० जी० जे० आर० फर्लिंग डा० प्राणनाथ बिद्यालंकार, डा० हरिसत्य भट्टाचार्य आदि अनेक विद्वान् भ० नेमिनाथ की ऐतिहासिकता स्वीकार करते हैं। यजुर्वेद आदि में तीर्थंकर नेमिनाथ अपर नाम अरिष्टनेमि का उल्लेख पाया जाता है और डा० काशी-प्रसाद जायसवाल प्रभृति कई विद्वानों का मत है कि अथर्व वेद में उल्लिखित ब्राह्म्य वह ब्राह्म्यक्षत्रिय या क्षात्रबन्धु थे जिनकी निन्दा उनके अवैदिक होने के कारण वैदिक साहित्य मनुस्मृति आदि में की गई है, और जो वस्तुतः जैनधर्म के अनुयायी थे।

प्राचीन भारतीय अनुश्रुतियों के अनुसार महाभारत में वर्णित घटनाओं के पूर्व रामायण में वर्णित घटनाओं का युग था। इस महाकाव्य के नायक अयोध्या के इक्ष्वाकुवंशी (सूर्यवंशी) भ० रामचन्द्र का जैन परम्परा में भी परम्परा जैसा ही आदरणीय स्थान है। वह बीमवें तीर्थंकर मुनि-सुव्रतनाथ के तीर्थ में उत्पन्न हुए थे। उसके भी पूर्वकाल की राजा बसु तथा राजा वेन सम्बन्धी हिन्दू पौराणिक कथायें जैन अनुश्रुतियों से समर्थित हैं।

वास्तव में, जैसा कि प्रो० जयचन्द्र बिद्यालंकार का कहना है, "भारतवर्ष का प्राचीन इतिहास उतना ही जैन है जितना कि वह अपने आपको वेदों का अनुयायी कहने वालों का है। जैनो की मान्यता के अनुसार महावीर के पूर्व २३ और तीर्थंकर हो चुके थे। इस विश्वास को सर्वथा भ्रमपूर्ण और निराधार मान लेना तथा समस्त पूर्ववर्ती तीर्थंकरों को काल्पनिक एवं अतिहासिक मान बैठना न तो न्यायसंगत ही है और न उचित ही है। इस मान्यता में विश्वास न करने योग्य बात कुछ भी नहीं है।"

जैनो की असंदिग्ध मान्यता कि प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव (आदिनाथ) ने ही सर्वप्रथम धर्म का प्रवर्तन किया एवं कर्मयुग का सूत्रपात किया, उन्हीं ऋषभदेव का ऋग्वेदादि में उल्लेख होना, ब्राह्मणीय पुराणों में उन्हें विष्णु का एक प्रारम्भिक अवतार घोषित करना तथा अर्हत (जैन) मत का प्रवर्तक-प्रचारक मानना, प्रागार्य एवं प्राग्वैदिक सिन्धु-घाटी सभ्यता के अवशेषों में उन्हीं वृषभलाञ्छन योगि-

राज ऋषभ की कायोत्सर्ग-मुद्रा में ध्यानस्थ आकृतियाँ मुद्रांकित पाया जाना, साथ ही जीववाद, परमाणुवाद जैसी जैनो की अत्यन्त मौलिक आदिमयुगीन तात्त्विक मान्यताएं उसे न केवल एक सर्वथा स्वतन्त्र एवं शुद्ध भारतीय धार्मिक परम्परा सिद्ध करती हैं, वरन् प्राग्वैदिककालीन भी सूचित करती हैं।

अस्तु, उपरोक्त प्रमाण बाहुल्य के आधार पर अनेक प्रख्यात विद्वान् जैन परम्परा को आपेक्षिक प्राचीनता में सन्देह नहीं करते। यदि कुछ विद्वानों के अनुसार 'यह अहिंसा प्रधान जैनधर्म, अधिक भी नहीं तो कम से कम वेदों और वैदिक धर्म जितना प्राचीन अवश्य है', तो कुछ अन्य विद्वानों का मत है कि 'जैनो और उनके धार्मिक साहित्य-सम्बन्धी वर्तमान ज्ञान के आधार पर हमारे लिये यह मिट्ट करना तनिक भी कठिन नहीं है कि बौद्धधर्म अथवा वैदिक धर्म की शाखा होना तो दूर की बात है, जैनधर्म निश्चयतः भारतवर्ष का अपना एक सर्वप्राचीन धर्म है। अत्यन्त प्राचीनकाल से ही उसका स्वतन्त्र अस्तित्व रहता आया है।' अतएव, यह बात प्रायः निःसंकोच कही जा सकती है कि प्रागैतिहासिक काल के प्रकृत्याश्रित पापाण युग से ही, जब से भी भारत एवं भारतीयों का इतिवृत्त किसी न किसी रूप में मिलना प्रारम्भ हो जाता है, तभी से उसके साथ वर्तमान में जिसे जैनधर्म और जैन-संस्कृति के नाम से जाना जाता है उस धार्मिक परम्परा एवं तत्सम्बन्धी संस्कृति का सम्बन्ध बराबर मिलता चला आता है। वस्तुतः जैनधर्म परम्परामूलक अथवा सनातन है। वह बौद्ध, ईसाई, इस्लाम, सिख प्रभृति धर्मों की भाँति ऐतिहासिक नहीं है, जिसके कि संस्थापक और स्थापना की निश्चित तिथि और ऐतिहासिकता प्रतिपादित की जा सके, आदिम मानव में जब भी धर्मभाव का जो उदय हुआ, उसी से शनैः शनैः विकसित होता हुआ और एक के बाद एक तीर्थंकरों द्वारा व्यवस्थित, आचारित एवं प्रचारित होता हुआ यह मानव का स्वभावगत और भारतवर्ष का परम्परागत मौलिक धर्म है।

—ज्योति निकुंज
चारबाग, लखनऊ

महाकवि रङ्गू कृत रिट्ठणेमिचरिउ में सोनागिर की भट्टारकीय गद्दी का उल्लेख

□ डॉ० राजाराम जैन इतिहासरत्न,

श्री सोनागिर क्षेत्र बुन्देलखण्ड के तीर्थक्षेत्रों में अपना प्रमुख स्थान रखता है। पहाड़ी पर निर्मित भव्य एवं विशाल जिन मन्दिर, प्राकृतिक सौन्दर्य, सुन्दर निझर एवं वनोष-धियों से मिश्रित मधुर जल वाले सरोवरों से व्याप्त यह पुण्यभूमि बरबस ही जन-मन मोह लेती है।

तीर्थभूमि होने के कारण उसका अपना महत्व तो रहा ही किन्तु वि० स० की १५-१६वीं सदी में साहित्यिक केन्द्र होने के कारण भी उसका विशेष महत्व रहा है। मुगलकाल में राजनैतिक एवं धार्मिक उथल-पुथल होने के कारण भट्टारकों ने साहित्य लेखन तथा प्रचार-प्रसार के निमित्त यत्र-तत्र अपने केन्द्र व्यवस्थित किए थे, जिन्हें भट्टारकीय गद्दियों के नाम में सभी जानते हैं। तोमरवंशी राजाओं के काल में भट्टारकों के कार्यकलापों का प्रमुख केन्द्र गोपाचल था। तत्कालीन राजाओं ने भट्टारकों एवं जैन कवियों को विशेष प्रश्रय भी दिया था। राजा ईंगर सिंह के सम कालीन महाकवि रङ्गू ने सोनागिर में स्थापित हुई भट्टारकीय गद्दी की सर्व प्रथम सूचना दी है तथा कहा है—

“उत्तमक्षमा-गुण को धारण करने वाले तथा भव्य-जनों को संसार रूपी ससार से तारने वाले भट्टारक कमल-कीर्ति के पट्टधर परम तपस्वी श्री शुभचन्द्र ने कनकाद्रि में एक भट्टारकीय गद्दी (पट्ट) की स्थापना की।”

[रिट्ठणेमिचरित्र १।२।१२-१३]

“भट्टारक शुभचन्द्र को रङ्गू ने अपने गुरु के रूप में स्मरण किया है और कहा है कि “मैंने रिट्ठणेमि चरिउ की रचना भट्टारक शुभचन्द्र के श्री चरणों की सेवा एवं संतुष्टि के ही की है।”

[वही० १।४।२३।६-१२]

भट्टारक शुभचन्द्र भट्टारक कमलकीर्ति के दो शिष्यों में से एक अन्यतम विद्वान एवं साधक शिष्य थे। रङ्गू ने

रिट्ठणेमि चरिउ एवं अपनी अन्य रचनाओं में उन्हें विविध विविध प्रसंगों में अत्यन्त श्रद्धापूर्वक कई बार स्मरण किया है। शुभचन्द्र का समय वि० सं० १५०६ से १५३० के लगभग रहा है। अतः इसी काल में कनकाद्रि पर भट्टारकीय गद्दी की स्थापना की गई होगी, इसमें सन्देह नहीं।

शुभचन्द्र नाम के कई भट्टारक साधक एवं विद्वान हुए हैं, जिनके नाम साम्य के कारण उनके काल-निर्णय में बड़ी उलझन हुई है। किन्तु प्रस्तुत शुभचन्द्र भट्टारक के विषय में स्थिति अत्यन्त सुस्पष्ट है।

यह तो ज्ञात नहीं हो पाया है कि भट्टारक शुभचन्द्र ने कौन-कौन-सी रचनाएं लिखीं, किन्तु रङ्गू के उल्लेख के आधार पर यह ज्ञात होता है कि वे परम सम्यक्त्वी, गुरु के प्रति अत्यन्त विनयशील, महातपस्वी, साहित्यकारों के लिए प्रेरणास्रोत तथा शिष्यों को अपने यहाँ आवास एवं भोजनादि की व्यवस्था एवं अन्य सुविधाएं प्रदान करते थे,

[वही० १।२।१४-१५]

महाकवि रङ्गू को शुभचन्द्र ने अत्यन्त स्नेहवश अपने निवास स्थान पर रखकर सभी सुविधाएं प्रदान की थी तथा उन्हें कुछ तात्त्विक ग्रन्थों का अध्ययन कराया था। रिट्ठणेमि चरिउ की रचना तो शुभचन्द्र की कृपा के बिना सम्भव ही नहीं थी।

[वही० २।४।२३।६-१२]

शुभचन्द्र काष्ठासंच, माथुरगच्छ एवं पुष्करगण शाखा के भट्टारक थे। अतः सोनागिर की भट्टारकीय गद्दी भी उसी परम्परा की थी। उसके अद्यावधि इतिहास की जानकारी प्राप्त करने के लिए मैंने सोनागिर के वर्तमान भट्टारक महोदय, गोपाचल के कुछ प्रमुख व्यक्तियों एवं ग्वालियर के पुरातत्त्व-विभाग से घना पत्र-व्यवहार किया, किन्तु कहीं से कोई भी उत्तर मुझे नहीं मिल सका। यदि कुछ

(शेष पृ० ७ पर)

स्थानीय संग्रहालय पिछोर में संरक्षित जैन प्रतिमाएं

□ नरेश कुमार पाठक

स्थानीय संग्रहालय पिछोर (जिला ग्वालियर) की स्थापना सन् १९७६-७७ ईस्वी सन् में मध्य प्रदेश शासन के पुरातत्व एवं संग्रहालय विभाग द्वारा जिला पुरातत्व संघ ग्वालियर के सहयोग से भूतपूर्व पिछोर रियासत के एक प्राचीन भवन में की गई। इसमें ग्वालियर एवं चम्बल सम्भाग के विभिन्न स्थानों से मूर्तियाँ एकत्रित की गई हैं, जो धार्मिक मान्यताओं के आधार पर शैव, शाक्त, वैष्णव एवं जैन धर्म से सम्बन्धित हैं। जैन धर्म से सम्बन्धित प्रतिमाओं का विवरण इस प्रकार है :—

आदिनाथ

प्रथम तीर्थङ्कर आदिनाथ की दो उल्लेखनीय प्रतिमा संग्रहालय में संरक्षित हैं। जो मालीपुर से प्राप्त हुई हैं। प्रथम प्रतिमा (सं० क्र० ६) कायोत्सर्ग मुद्रा में अपने लांछन वृषभ सहित शिल्पांकित है। दोनों ओर चावरधारी परिचारक एवं चावरधारिणी का अंकन है। प्रतिमा के सिर पर कुन्तलित केशराशि लम्बे जटा एवं पीछे प्रभामण्डल सुशोभित है। वितान में त्रिछत्र, दुन्दभिक व मालाधारी विद्याधरों का अंकन है। परिकर में जिन प्रतिमा, गज, सिंह तथा मकर व्यालों का आलेखन है। पादपीठ पर धर्मचक्र जिसके दोनों ओर सिंह आकृतियाँ अंकित हैं।

आदिनाथ की दूसरी प्रतिमा में [सं० क्र० १०] पद्मासन की सौम्य एवं शान्त मुद्रा में तीर्थङ्कर आदिनाथ अपने ध्वज लांछन वृषभ सहित निर्मित है। सिर पर कुन्तलित केशराशि तथा लम्बे जटाओं एवं वक्ष पर 'श्री वत्स' का आलेखन कलात्मक है। मुख्य प्रतिमा प्रभामण्डल से सुशोभित है। पार्श्व में दोनों ओर चामरधारी परिचारक खड़े हैं। वितान में त्रिछत्र, दुन्दभिक और परिकर में गज, सिंह व मकर व्यालों का शिल्पांकन है। आसन पर धर्मचक्र दोनों ओर सिंह आकृतियाँ और परिचरों का अंकन है। पादपीठ पर दायी ओर मानवीय गरुड़ के ऊपर यक्षणी चक्रेश्वरी बायी ओर सिंह पर मवार यक्षणी अम्बिका है, जो अपने दायें हाथ में लघु-पुत्र प्रियंकर को लिये हैं। ऊपर आम्र लुम्बी अंकित है। प्रतिमा मूर्ति विज्ञान की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। क्योंकि आदिनाथ के साथ यक्षणी

अम्बिका का आलेखन इस कलाकृति की विशेषता है।

पार्श्वनाथ—

मालीपुर से ही प्राप्त दो प्रतिमा तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ की संग्रहालय में संरक्षित हैं। प्रथम प्रतिमा में योगासन मुद्रा में [सं० क्र० १] पादपीठ पर बैठे हैं। सिर पर कुन्तलित केशराशि ऊपर सप्तफर्ण नागमौलि की छाया है। पार्श्व में दायें-बायें चावरधारिणी एवं चावरधारियों का अंकन है। पादपीठ पर दायें-बायें यक्ष धरणेन्द्र एवं यक्षणी पद्मावती अंकित हैं। आसन पर दोनों ओर सिंह आकृति तथा मध्य में धर्मचक्र अंकित है। वितान में हाथियों द्वारा अभिषेक का दृश्य परिकर में गज, सिंह एवं मकर व्यालों का आलेखन है।

पार्श्वनाथ की दूसरी प्रतिमा [सं० क्र० २] में कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़े हुए तीर्थङ्कर के सिर पर कुन्तलित केशराशि, ऊपर सप्तफर्ण नाग मौलि की छाया है। वितान में त्रिछत्र, दुन्दभिक, मालाधारी विद्याधर युगल, हाथियों द्वारा किये जा रहे अभिषेक का दृश्य अंकित है। पादपीठ पर दायें यक्ष धरणेन्द्र एवं बायें यक्षणी पद्मावती अंकित हैं। दोनों ओर परिचारिकों का आलेखन है।

लांछन विहीन तीर्थंकर—

संग्रहालय में लांछन विहीन तीर्थङ्कर की तीन पद्मासन में एवं चार कायोत्सर्ग मुद्रा में निर्मित प्रतिमाएं संरक्षित हैं। मालीपुर-सुजवाया से प्राप्त तीर्थङ्कर प्रतिमा पद्मासन [सं० क्र० ३] में शिल्पांकित है। मूर्ति के सिर पर कुन्तलित केशराशि पीछे आकर्षक प्रभावली, दोनों पार्श्व में सिर विहीन चावरधारियों का अंकन है। आसन पर भग्न अवस्था में यक्ष-यक्षणी, मध्य में धर्मचक्र एवं सिंह आकृतियों का अंकन है। वितान में दायें ओर अभिषेक करता हुआ हाथी व विद्याधर युगलों का अंकन है। दोनों पार्श्व में दो जिन प्रतिमा अंकित हैं। परिकर में सिंह एवं मकर-व्यालों से अलंकृत है।

पद्मासन की ध्यानस्थ मुद्रा में निर्मित दूसरी मूर्ति नरवर [सं० क्र० ४] प्राप्त हुई प्रतिमा के सिर पर कुन्तलित केशराशि, वक्ष पर 'श्री वत्स' का अंकन है। दोनों

पार्श्व में कायोत्सर्ग मुद्रा में जिन प्रतिमाओं का अंकन है। वितान में छत्र व मालाधारी विद्याधरों का अंकन है। परिकर में मकर व्याल एवं पद्म कलियों से अलंकृत है।

तीसरी पद्मासन में [सं० क्र० ६०] प्रतिमा पिछोर से प्राप्त हुई है। प्रतिमा का सिर भग्न अवस्था में है। अलकरण साधन्य स्तरीय है।

कायोत्सर्ग मुद्रा में निर्मित तीर्थङ्करों में उल्लेखनीय कलाकृति [सं० क्र० ५] मालीपुर-सुजवाया से प्राप्त प्रतिमा के सिर व पैर भग्न है। पार्श्व में दोनों ओर चवरधारियों का आलेखन है।

मालीपुर-सुजवाया से ही प्राप्त दूसरी कायोत्सर्ग मुद्रा में [सं० क्र० ६] शिल्पांकित तीर्थङ्कर के सिर और पैर भग्न है। पार्श्व में दोनों ओर चवरधारियों का अंकन है।

नरवर से प्राप्त कायोत्सर्ग मुद्रा में निर्मित तीसरी [सं० क्र० ७] प्रतिमा के सिर पर कुन्तलित केशराशि, कर्णचाप है। पीछे अलंकृत प्रभावली, वक्ष पर 'श्री वत्स' का अंकन है। पार्श्व में दोनों ओर चाउरधारियों का आलेखन मनोहारी है।

नरवर से ही प्राप्त कायोत्सर्ग मुद्रा में [सं० क्र० ८] शिल्पांकित तीर्थङ्कर के सिर पर कुन्तलित केशराशि, पीछे

प्रभामण्डल, वक्ष पर 'श्री वत्स' का अंकन है। पार्श्व में दोनों ओर चावरधारियों का आलेखन है।

जिन प्रतिमा वितान, पादपीठ एवं सिर :—

मालीपुर-सुजवाया [सं० क्र० १६] से प्राप्त जिन प्रतिमा वितान से सम्बन्धित इस मूर्ति खण्ड में त्रिछत्र, दुन्दभिक एवं मालाधारी विद्याधर युगलों का अंकन है।

नरवर से प्राप्त [सं० क्र० १८] जिन प्रतिमा पादपीठ पर गज, सिंह एवं मानव आकृतियों का आलेखन है।

पिछोर से प्राप्त जिन प्रतिमा [सं० क्र० ६१] का दायाँ भाग शेष है, जिनमें त्रिभग मुद्रा में चँवरधारी, सेविकाओं का अंकन है। तीर्थङ्कर प्रतिमा का केवल पैर ही शेष है।

पिछोर से ही प्राप्त जिन प्रतिमा [सं० क्र० ६२] का मिर का फीसुन्दर है। सिर पर अंकित कुन्तलित केशराशि मनोहारी है।

नरवर, मालीपुर-सुजवाया एवं पिछोर से प्राप्त ये सभी मूर्तियाँ १०वीं ११वीं शती ईस्वी की हैं, जो मूर्ति कला की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं।

केन्द्रीय पुरातत्व संग्रहालय, गुजरी महल, ग्वालियर, म० प्र०

(पृष्ठ ५ का शेषांश)

सामग्री वहाँ से मिलती तो इस पर विशेष प्रकाश पड़ सकता था।

कुछ समय पूर्व "स्वर्णाचल माहात्म्य" नामक एक काव्य ग्रन्थ प्रकाश में आया है। उसे वि० सं० १८४५ मार्गशीर्ष शुक्ल चतुर्थी को अटेर निवासी कान्यकुब्ज कुलोत्पन्न श्री देवदत्त दीक्षित ने भट्टारक जितेन्द्र भूषण के आदेश एवं उपदेश से लिखा था। ये जितेन्द्र भूषण भट्टारक मूलसंघ, बलात्कार गण, नन्दि-आम्नाय की शाखा के थे। उनका निवास एवं साधना-स्थल विश्वविख्यात पुण्यक्षेत्र सूरिपुर में था, जो यमुना के तट पर बसा था। सम्भवतः किसी समय सोनागिर की यात्रा के समय वे उस पुण्यतीर्थ से बहुत प्रभावित हो गए थे और श्रद्धाभिभूत होकर उन्होंने उक्त देवदत्त दीक्षित को उक्त काव्यग्रन्थ लिखने की प्रेरणा की थी। किन्तु सोनागिर की पूर्व-स्थापित भट्टारकीय गद्दी से उक्त जितेन्द्र भूषण का सम्भवतः, किसी भी प्रकार का

कोई भी सम्बन्ध नहीं रहा है।

पिछले दशक में सोनागिर-क्षेत्र की ऐतिहासिकता पर कुछ विद्वानों ने विचार किया है तथा कुछेको ने उसकी प्राचीनता को सदिग्ध माना है। किन्तु उस पर ऊहापोह करना इस निबन्ध का विषय नहीं है। उसकी प्राचीनता कुछ भी हो, किन्तु महाकवि रङ्गू के उक्त उल्लेखों से यह स्पष्ट हो जाता है कि १५वीं सदी में कनकाद्रि अथवा सोनागिर तपोभूमि, तीर्थभूमि एवं साधना-भूमि के रूप में सुप्रसिद्ध एवं ज्ञात था तथा साहित्यिक केन्द्र की स्थापना के योग्य मानकर ही भट्टारक कमलकीर्ति ने काण्ठासंघ एवं पुष्करगण की परम्परा सम्मत एक भट्टारकीय गद्दी की वहाँ स्थापना की थी।

—भारत (बिहार)

नोट—रिट्नेमि चरित ग्रन्थ अप्रकाशित है—संपादन कार्य चल रहा है।

ज्ञायक भाव

□ श्री ब बलाल यत्ता

विचार से रहित जब उपयोग होगा तब उस रूप वह आप है। जिस समय किसी को जान रहा है उस समय वह ज्ञान है और जिस समय किसी को नहीं जान रहा है, उस समय भी तो ज्ञान ही है, जब वह दूसरे को जानने का काम बन्द करके केवल ज्ञानस्वरूप स्वयं ही रहे तब बात बने। जैसे मिथी दूध में मिली हुई है तब वह उसे मीठा कर रही है पर जब वह उसमें न मिले, ऐसी ही रहे तब भी तो वह मीठी ही है, वह तो अपने स्वभाव रूप ही है, मिथी ही है उसी प्रकार चेतन सदैव चेतन रूप ही है, किसी को जाने चाहे न जाने, विकल्प करे या न करे, हर हाल में वह चेतन रूप ही है। यह (जीब) जो विचार उठाता है वह राग है, निर्विचार बने, निर्विकल्प हो तो बात ठीक हो। यदि यह मन का आश्रय लेगा तो विचार उठेंगे, उसका आश्रय न लेकर आप अपने आश्रय में जाता बने, ज्ञायक रूप रहे कि मैं जान रहा हूँ बस, लेकिन विचार करने की इसको ऐसी आदत पड़ गई है कि यह इस बात को ही स्वीकारने को तैयार नहीं कि निर्विकल्पना भी हो सकता है।

प्रश्न—निर्विकल्पता कैसे हो ?

उत्तर—पहले तो हम इस बात को पकड़ें कि कोई भी जीव हो भव्य हो, अभव्य हो, ज्ञानी हो, अज्ञानी हो, प्रत्येक के भीतर में दो काम हो रहे हैं एक तो कर्म का कार्य और एक ज्ञान का कार्य। कर्म के अनुसार शरीर में घाव हुआ, ज्ञान ने उसे जाना, जब घाव ठीक हो जाता है तो ज्ञान शरीर के उस स्वस्थ रूप को जानने लगता है। उस घाव के होने पर भीतर में, भाव में जो सुख दुःखादि होते हैं ज्ञान उसे भी जानता है। आपने किसी जीव की रक्षा की बाहर में तो उसकी रक्षा की व भीतर में दया रूप परिणाम हुए और ज्ञान ने उन्हें जाना। हमें यह नक्की करना है कि इनमें से मेरा अपना कौन-सा काम है।

इसी प्रकार सुनते हुए, बोलते हुए हर वक्त तीन काम हो रहे हैं पर 'मैं' कौन ? कोई हाथ को काट रहा है तब एक तो वह बाहर की क्रिया, एक भीतर में दुःख रूप परिणाम और एक उसका जानना, दुःख रूप परिणाम तो एक समय आता है और मिट जाता है बाहर की वह क्रिया भी मिट जाती है। पर ज्ञान का जाननपना अभी भी उसी रूप से कायम है। पहले वह शरीर को काटे जाने रूप क्रिया को और दुःख रूप परिणाम को जान रहा था अब स्वस्थ अवस्था को व सुख रूप परिणाम को जान रहा है। और एक बात और है हाथ का काटा जाना ही भीतर के दुःख का कारण हो ऐसा भी नहीं, ऐसा होता तो मुनि आदि इतने उपसर्ग व परीषद् के समय भी कैसे स्थिर होते ? ये बड़े-बड़े क्रान्तिकारी हुए हैं जिन्होंने इतनी-२ यातनाएं सहर्ष झेली, उनके भीतर में उस जाति का राग नहीं था। भगतसिंह को जिस समय फासी होने लगी तो पहले दिन की अपेक्षा उसका वजन दो-तीन पाँड बढ़ गया था।

आपने रोटी खाई तब भी तीन काम हैं, ज्ञान ने खाते समयभी उसे जाना और जब वह क्रिया खत्म हो गई तब भी जानने रूप क्रिया हो रही है तभी तो कह रहे हो कि भोजन स्वादिष्ट था इससे सिद्ध होता है कि कोई भीतर में ऐसा जानने वाला है जो उस समय भी था और अब भी मौजूद है। रास्ते चलते हुए भी तीन काम हो रहे हैं, तीन में से दो काम तो बदल रहे हैं नाशवान हैं अतः कर्म के हैं और जानने का काम सतत एक रूप है, स्थाई है अतः आत्मा का है, हमारा है। यद्यपि वह कर्म का काम चेतना के अस्तित्व में हो रहा है फिर भी चेतना का अपना नहीं है, पर-कृत है जैसे कोई बाहर के तीन-चार आदमी हमारे घर में आकर ठहर जाएं और कोई राशनकार्ड वाला आकर पूछे तो हम कहते हैं कि हम तो तीन हैं तो हैं, तो उस समय आदमी घर में सात पर कहते हैं कि बाकी चार तो बाहर

के हैं, घर में हैं फिर भी घर के नहीं हैं, उसी प्रकार चेतना में यद्यपि भाव कर्म हो रहे हैं पर फिर भी चेतना के अपने नहीं हैं। उस ज्ञान के कार्य को हमने आज तक पकड़ने की चेष्टा ही नहीं की और उस कर्म के कार्य को हमने जाना कि मैं इसका करने वाला और यह मेरे करने से हुआ है और मैं इस रूप हूँ। आचार्य कहते हैं कि यह तेरी अज्ञान अवस्था है, तूने अपने को क्यों नहीं जाना? और इस कर्म के कार्य को अपना जानने से तेरे अहंकार पैदा हुआ ज्ञान के कार्य में तूने अपनापन क्यों नहीं माना, तू कर्म रूप नहीं, तू तो चेतना रूप है, अपने रूप ही है।

कर्म तो चीकी की तरह जड़ है वह अपना फल दे देता है, अज्ञानी उसे ले लेता है, ज्ञानी उसे नहीं लेता, फल नहीं लेता है तो वह कर्म फालतू हो जाता है। आचार्य कहते हैं कि तू उस जानने वाले को देख जो वहाँ सतत विद्यमान है, वही तू है। अकलंक स्वामी ने कहा कि जिसने क्रोध जाना उसी ने क्रोध के अभाव को भी जाना। हम भी कभी-कभी कहते हैं कि आज हमारा मूड खराब है उसको किसने जाना? मूड तो खराब से ठीक हो गया परन्तु जानने वाला वही है? वह पहले जान रहा था मूड खराब है अब जान रहा है मूड ठीक है। क्रोध भीतर में चालू हुआ चाहे बाहर में अभी प्रगट नहीं हुआ पर उस जानने वाले ने जानना शुरू कर दिया कि क्रोध शुरू हो चुका है। एक आदमी ने सुन्दर बात बतलाई कि क्रोध चालू हो तो उससे कहो कि पांच मिनट बाद आँखें और फिर बहूँ होंगा ही नहीं। इसमें भी वही तत्व है कि जानने वाला जागरूक है, जागृत है, सावधान है, उसने ध्यान लिया कि क्रोध आ रहा है और जब जानने वाला सावधान है तो फिर वह क्रोध कैसे रह सकता है!

इस जानने वाले को पकड़, वही तू है। पकड़ना कहते हैं कि जैसा अपनापन तेरे आज तक कर्म, उसके कार्य व उसके फल में आ रहा है, क्रोध करने में, दया करने में आ रहा है, खाने में आ रहा है, शरीर के घाव में व दर्द में आ रहा है वैसे अपनापन उस जानने वाले में आए और जब जानने वाले में अपनापन आयेगा तो चेतना की जितनी ताकत पहले कर्म में लग रही थी वह जाननपने में लग गई अब उसमें कौन ताकत

लगाए, अतः वह कर्म का कार्य तो होता है पर उसमें कोई हर्ष-विषाद वाली बात नहीं रहती क्योंकि मैं तो जानने वाला हूँ और जानने वाला मरता नहीं, बीमार होता नहीं, उसका हाथ कटता नहीं अतः मैं क्यों रोऊँ और जिसका कटता है वह रोना जानता नहीं। इस प्रकार से शरीर में रहते हुए इससे अलग हो जाओ। पहले तो केवल एक कर्मधारा चलती थी पर अब ज्ञानधारा भी चालू हो गई और अब जो भी कार्य होता है उसे ये कहता है कि काम तो यह कर्म का है मैंने तो उसे जाना है अतः पहले मन के आश्रय से जो मिथ्या अहंकार पैदा होता था कि मैं करोड़पति, मैं गरीब, मैं सुखी, मैं दुःखी वह सारा टूट गया अब कर्म का, पुण्य पाप का उदय तो है, शरीर भी है पर उसमें अपनापन न होकर ज्ञान के कार्य में अपनापन है अतः कहते हैं कि अब यह शरीर का मालिक नहीं रहा पड़ोसी बन गया और जब मालिक ही नहीं रहा तो कंशियर के पास कितना ही धन पड़ा रहे, उसे उसका अहंकार नहीं हो सकता। आज तक ऐसा कोई व्यक्ति नहीं मिला जो केवल इस बात का अहंकार कर रहा हो कि मैं आज दो करोड़ के नोट गिनकर आया हूँ। तो पहले कर्म के कार्य को चेतना का योगदान मिलता था, पर अब वह बंद हो गया क्योंकि वह सारा योगदान जाननपने के काम को मिलने लगा अतः कर्म की ताकत घट गई।

पहले अज्ञान अवस्था में एक ओर अड़ंगा था भूतकाल की सोच-सोचकर दुःखी होता था और भविष्य की सोचकर शेषचिन्तनी की तरह सुखी भी हो जाता था अब ज्ञानी हो गया तो उसकी समझ में आया कि अरे! यह पागलपन कहाँ से लाया, इसमें तेरा अपना कुछ है नहीं और इससे कुछ लेना-देना नहीं फिर जो शक्ति वह पहले मन द्वारा फालतू इन विकल्पों में लगा रहा था वह शक्ति उसने उन सब कार्यों के जानने में लगा दी, और अब वह उन सबको मात्र जान रहा है और स्वयं को उन रूप नहीं मान रहा है तो राग-द्वेष का कोई प्रयोजन नहीं रहता। भ्रम तो एक माध्यम है, और उसे आप चाहो तो इस्तेमाल में ले लो, अन्यथा ये तो पीद्गलिक है, जड़ है, ऐसे ही पड़ा रहे जायेगा जैसे इस चस्मे की हमें जब बरकार होती है तभी लगा लेते हैं। अब विकल्प

कुछ रुकने लगे और वह ज्ञाता बना पर क्योंकि अनादि काल की आदत पड़ी है अतः बार-बार फिर मन का आश्रय ले लेता है फिर गलती समझकर फिर मन से हट कर ज्ञाता बनता है इस प्रकार से चेष्टा करते-करते उसकी मन का अवलम्बन लेने की पुरानी आदत छूटती जाती है, विकल्प बंद होते जाते हैं, निविचार होता जाता है। अभी भी थोड़ा अंश उसका बाहर के काम में लगा हुआ है। जैसे बाहर में अभी बोलने की क्रिया हो रही है तब थोड़ा उपयोग तो उसमें जा रहा है और बाकी का उपयोग उसे जान रहा है, बीच में मन का जो कार्य था इधर-उधर घूमने का, हिसाब-किताब करने का वह अब नहीं है। अब इससे आगे बढ़े तो कदाचित् ऐसा होता है कि वह बाहर का काम भी बंद हो जाय और केवल वह जानने वाला शुद्ध ज्ञान बचा तो अनुभूति पैदा हो जाती है। अनुभूति का समय कम है, देरी से होती है पर यह ज्ञातापना हर समय चालू रह सकता है। मन की यदि जरूरत है कुछ सोचने-विचारने को उसका सहारा ले लो अन्यथा वह जरूरी नहीं। बाहर का काम चलने दो और उसे मात्र जानते रहो।

जमोकार मंत्र जोर-जोर से बोल रहे हैं तो उसे चलने दो उसके जानने वाले बन जाओ तो वह धीमा होता चला जायेगा, वह बहुत मंद हो जाता है और ज्ञातापने पर

पूरा जोर है तो विकल्प कोई भी नहीं रहता, विकल्पों से कुछ लेना-देना नहीं। यद्यपि ज्ञाता पने में पूरी सावधानी है और अन्य किसी भी चीज में हेय उपादेय की भी दृष्टि नहीं है पर अभी भी यह पूरी अनुभूति की स्थिति नहीं क्योंकि बाहर का कार्य चालू है। अब इसके बाद भी वह आगे बढ़े और जब वह सत्ता मात्र रह जाए, वह अनुभूति की अवस्था है। नींद में व अनुभूति में मात्र इतना ही अन्तर है कि नींद में मूर्च्छित-सी, असावधान अवस्था है और अनुभूति में जाग्रत अवस्था है।

इन विकल्पों से क्या हानि होती है ?

जितने विचार व विकल्प हम हैं वे पर-पदार्थ में राग पैदा करते हैं, उतने ही संस्कार गहरे हो जाते हैं, और संस्कार का गहरा होना ही कर्म है। वे संस्कार इतने गहरे हो जाते हैं कि आपको तद्रूप परिणमन करा देते हैं। आप बीस दफे रसगुल्ले को अपने उपयोग में याद करो तो भीतर में इतनी जोर की रुचि पैदा होगी कि खाना ही पड़ेगा। सही बात यह है कि पहला विकल्प आते ही तत्काल सावधान हो जाए कि अब दुबारा ये विकल्प नहीं उठेंगे। यदि वही विकल्प बार-बार उठ जाए तो वह इतना मजबूत हो जाता है कि हम उसके आधीन हो जाते हैं।

□

—भक्ति-परक सभी प्रसंग सर्वाङ्गीण याथातथ्य के स्वरूप के प्रतिपादक नहीं होते। कुछ में भक्ति-अनुराग-उद्रेक जैसा कुछ और भी होता है। जैसे—‘शान्तेर्विधाताशरणं गतानाम्’, ‘पुनातु चेतो मम नाभिनन्दनः’, श्रेयसे जिनवृष प्रसोद नः’ इत्यादि। इन स्थलों में कर्तृत्व की स्पष्ट पुष्टि है जब कि आत्म-स्वभाव इससे बिल्कुल उल्टा। ऐसे में विवेक पूर्वक वस्तु को परखना चाहिए कि वक्ता की दृष्टि क्या है ?

×

×

×

×

—तू ज्ञानी, धनी या कहीं का कोई अधिकारी है, यह सोचना महत्त्वपूर्ण नहीं। अपितु महत्त्वपूर्ण ये है—कि तूने कितनों को ज्ञानी धनी या अधिकारी बनने में कितना योग दिया :—

‘जो अधीन को आप सभान । करै न सो निन्दित धनवान ॥’

‘जैन दर्शन में सप्तभंगीवाद’

□ अशोक कुमार जैन एम० ए०, शास्त्री

इस भारत भूमि में विश्व के सम्बन्ध से सत्, असत्, उभय और अनुभय ये चार पक्ष वैदिककाल से ही विचार-कोटि में रहे हैं। ‘सदैव सौम्येदमग्र आसीत्’ (छान्दो० ६।२) ‘असदेवेदमग्र आसीत्’ (छन्दो० ३।१६।१) इत्यादि वाक्य जगत के सम्बन्ध में सत् और असत् रूप में परस्पर विरोधी दो कल्पनाओं को स्पष्ट उपस्थित कर रहे हैं तो वहीं सत् और असत् इस उभयरूपता तथा इन सबसे परे वचन-गोचर तत्व का प्रतिपादन करने वाले पक्ष भी मौजूद थे। बुद्ध के अव्याकृतवाद और संजय के अज्ञानवाद में इन्हीं चार पक्षों के दर्शन होते हैं। उस समय का वातावरण ही ऐसा था कि प्रत्येक वस्तु का स्वरूप ‘सत् असत् उभय और अनुभय’ इन चार कोटियों से विचारा जाता था। भगवान् महावीर ने अपनी विशाल और उदार तत्त्वदृष्टि से वस्तु के विराट रूप को देखा और बताया कि वस्तु के अनन्त धर्ममयस्वरूप सागर में ये चार कोटियां तो क्या ऐसी अनन्त कोटियां लहरा रही हैं। यह कहना ठीक नहीं है कि शब्द प्रधान रूप से विधि का ही कथन करता है क्योंकि ऐसा कहने पर शब्द से निषेध का ज्ञान नहीं हो सकेगा। शायद कहा जाये कि शब्द गौण रूप से निषेध को भी कहता है किन्तु ऐसा कहना भी निःसार है क्योंकि सर्वत्र, सर्वदा और सर्वथा प्रधान रूप से जिसका कथन नहीं किया जाता उसका गौण रूप से कथन करना सम्भव नहीं है। विधि और निषेध के विकल्प से अर्थ में शब्दों की प्रवृत्ति सात प्रकार की होती है, उसे ही सप्तभङ्गों कहते हैं। सबसे प्रथम आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रंथों में सातभङ्गों का नामोल्लेख मात्र मिलता है उनमें से प्रवचनसार में स्यात् अवक्तव्य को तीसरा भंग रखा है और स्यादस्ति-नास्ति को चतुर्थभंग रखा है। किन्तु पञ्चास्तिकाय में अस्तिनास्ति को तीसरा और अवक्तव्य को चतुर्थ भंग रखा है। इसी तरह अकलङ्कदेव ने दो स्थलों पर सप्तभंगी का

कथन किया है उनमें से एक स्थल पर उन्होंने प्रवचनसार का क्रम अपनाया है, दूसरे स्थल पर पंचास्तिकाय का क्रम अपनाया है।

दोनों जैन सम्प्रदायों में दोनों ही क्रम प्रचलित रहे हैं। सभाष्य तत्वाधोधिगम (अ० ५।३६) सूत्र और विशेषा-वश्यकभाष्य (गा० २२२३) में प्रथम क्रम अपनाया है किन्तु आप्तमीमांसा (का० ६४) तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिक (पृ० १२८) प्रमेयकमल मार्तण्ड (पृ० ६८२) प्रमाणनयतत्वालोकार्णव (परि० ४ सूत्र १७-१८) स्याद्वाद मञ्जरी (पृ० १८६) सप्तभंगीतरंगिणी (पृ० २) और नयोपदेश (पृ० १२) में दूसरा क्रम अपनाया गया है। इस तरह दार्शनिक क्षेत्र में दूसरा ही क्रम प्रचलित रहा है अर्थात् अस्ति-नास्ति को तीसरा और अवक्तव्य को चतुर्थभङ्ग ही माना है। विधि और प्रतिषेध की कल्पना मूलक सात भंग इस प्रकार हैं— १. विधि कल्पना, २. प्रतिषेध कल्पना, ३. क्रम से विधि प्रतिषेध कल्पना, ४. युगपद् विधि प्रतिषेध कल्पना, ५. विधि कल्पना और युगपद् विधि प्रतिषेध कल्पना, ६. प्रतिषेधकल्पना और युगपद् विधि प्रतिषेध कल्पना, ७. क्रम और युगपद् विधिप्रतिषेध कल्पना।

भुतज्ञान के दो उपयोग हैं, एक स्याद्वाद और दूसरा नय। प्रमाण सकलदेश रूप होता है और नय विकलादेश। ये सातों ही भंग जब सकलादेशी होते हैं तब प्रमाण और जब विकलादेशी होते हैं तब नय कहे जाते हैं। इस तरह सप्तभंगी भी प्रमाण सप्तभंगी और नय सप्तभंगी के रूप में विभाजित हो जाती हैं। सकलादेश में प्रत्येक धर्म की अपेक्षा सप्तभंगी होती है। १. स्यात् अस्त्येव जीवः, २. स्यात् नास्त्येव जीवः, ३. स्यात् अवक्तव्य एव जीवः, ४. स्यादस्ति च नास्ति च, ५. स्यात् अस्ति च अवक्तव्यश्च, ६. स्यात् नास्ति च अवक्तव्यश्च, ७. स्यात् अस्ति नास्ति च अवक्तव्यश्च। विकलादेश में भी सप्तभंगी

होती है। गुणभेदक अंशों में क्रम, योगपद तथा क्रमयोग-पद दोनों से विवक्षावश विकलादेश होते हैं।^१ जब अस्तित्व तथा नास्तित्व आदि धर्मों की देश काल आदि के भेद से कथन की इच्छा है तब अस्तित्व आदि रूप एक ही शब्द की नास्तित्व आदि रूप अनेक धर्मों के बोधन करने में शक्ति न होने से नियत पूर्वापरभाव वा अनुक्रम से जो निरूपण है उसको 'क्रम' कहते हैं। और जब उन्हीं अस्तित्व आदि धर्मों की काल आदि द्वारा अभेद से दृष्टि कही जाती है तब एक अस्तित्व आदि शब्द से भी अस्तित्व आदि रूप एक धर्म के बोधन के उपलक्षण से उस वस्तुरूपता को प्राप्त जितने धर्म हैं उनका प्रतिपादन एक समय में सम्भव है, इस प्रकार से जो वस्तु के स्वरूप का निरूपण है उसको योगपद्य कहते हैं।^२ प्रथम और द्वितीय भग में स्वतन्त्र क्रम, तीसरे में योगपद्य, चौथे में संयुक्त रूप, पाँचवें और छठे भग में स्वतन्त्र क्रम के साथ योगपद्य तथा सातवें भग में संयुक्त क्रम और योगपद्य है। सर्व सामान्य आदि किसी एक द्रव्यार्थ दृष्टि से 'स्यादस्त्येव आत्मा' यह पहला विकलादेश है। इस भग में अन्य धर्म यद्यपि वस्तु में विद्यमान हैं तो भी कालादि की अपेक्षा भेद विवक्षा होने से शब्द वाच्यत्वेन स्वीकृत नहीं है। अतः न उनका विधान ही है और न प्रतिषेध।^३

एक धर्म के विधि निषेध की विवक्षा से सात ही भग होते हैं क्योंकि प्रश्न के भी सात ही प्रकार होते हैं और प्रश्नों के अनुसार ही सप्तभंगी होती है। जिज्ञासा सात प्रकार की होने से प्रश्न भी सात प्रकार के होते हैं तथा जिज्ञासा भी सात प्रकार की होती है क्योंकि संशय सात प्रकार के होते हैं।^४ सप्तभंगी का विकास दार्शनिक क्षेत्र में हुआ अतः उसका उपयोग भी उसी क्षेत्र में होना स्वाभाविक है। स्याद्वाद चूँकि विभिन्न दृष्टिकोणों को उचित रीति से समन्वयात्मक शैली में व्यवस्थित करके पूर्ण वस्तु-स्वरूप का प्रकाशन करता है अतः उसका फलित सप्तभंगीवाद भी प्रयोजन का साधन है।^५ स्वामी सप्तन्तर्भद्र ने अपने आप्तमीमांसा नामक प्रकरण में अपने समय के सदैकान्तवादी^६ सांख्य, असदैकान्तवादी^७ साध्यमिक, सर्वथा उभयवादी वैशेषिक^८ और अवक्तव्यैकान्तवादी^९ बौद्ध का निराकरण करके आदि ४ भगों का ही उपयोग

किया है और शेष तीन भगों के उपयोग का सूचनामात्र मर दिया है। आप्तमीमांसा पर अष्टशती नामक भाष्य के रचयिता अकलंक देव ने और उनके व्याख्याकार विद्यानन्द ने शेष तीन भगों का उपयोग करते हुए शंकर के अनिवर्चनीयवाद को सदवक्तव्य, बौद्धों के अन्यापोहवाद को असदवक्तव्य और योग के पदार्थवाद को एक सदसदवक्तव्य बतलाया है और इस तरह सप्तभंगी के सात भगों के द्वारा दार्शनिक क्षेत्र के मन्तव्यों को संग्रहीत किया है। वचनात्मक स्याद्वाद श्रुत के द्वारा जीवादि की प्रत्येक पर्याप्त सप्तभङ्गी रूप से जानी जाती है।^{१०} स्यात् शब्द का अर्थ कथंचित है जो एकांत का निषेध और अनेकांत का प्रकाश करता है। अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा द्रव्य है, अन्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा द्रव्य नहीं है, स्व पर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा द्रव्य है और नहीं है, और स्वद्रव्य क्षेत्र, काल, भाव और पर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावों से युगपद् कहे जाने की अपेक्षा अर्थात् नहीं कहा जा सकता, द्रव्य अवक्तव्य है, स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और युगपद् स्वपर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावों की अपेक्षा द्रव्य नहीं है और अवक्तव्य है, स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा द्रव्य है और नहीं है तथा अवक्तव्य है।^{११} विधि निषेध की मुख्यता गौणता करके यह सप्तभंगी वाणी 'स्यात्' पद रूप सत्यमंत्र से एकांतरूप छोटे नामरूपी विषमोह को दूर करती है।^{१२} तत्त्व न तो सन्मात्र सत्ताद्वैत रूप है और न असन्मात्र सर्वथा अभाव रूप हैं, क्योंकि परस्पर निरपेक्ष सत्तत्त्व और असत्तत्त्व दिखाई नहीं पड़ता—किसी भी प्रमाण से उपलब्ध न होने के कारण उसका होना असम्भव है। ह्रीं सत्त्वासत्त्व से विभिन्न परस्परापेक्षरूप तत्त्व जड़र देखा जाता है और वह उपाधि के स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव रूप तथा परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव रूप विशेषणों के भेद से है अर्थात् सम्पूर्ण तत्त्व स्यात् सत् रूप ही है। स्वरूपादि चतुष्टय की अपेक्षा, स्यात् असत् रूप ही है, पर रूपादि चतुष्टय की अपेक्षा, स्यात् उभयरूप ही है, स्वपर-रूपादि चतुष्टय द्वय के क्षमार्पण की अपेक्षा, स्यात् अवा-च्यरूप ही है। स्वपररूपादि चतुष्टय द्वय के सहार्पण की अपेक्षा, स्यात्सदवाच्यरूप ही है स्वरूपादि चतुष्टय की अपेक्षा तथा युगपत्स्वरूपादि चतुष्टयों के कथन की आशक्ति

की अपेक्षा स्यात् असद्वाच्यरूप ही है, पररूपादि चतुष्टय की अपेक्षा तथा स्वपररूपादि चतुष्टयों के युगपद् कहने की अपेक्षा की अपेक्षा, और स्याद-सदसदवाच्यरूप है। क्रमापित स्वरूपादि चतुष्टय द्वय की अपेक्षा तथा सहापित उक्त चतुष्टय द्वय की अपेक्षा। इस तरह तत्त्व सत् असत् आदि विभिन्नित श्रेष्ठा जाता है।" स्वयंभूस्तोत्र में आचार्य समंतभङ्ग ने सुविधिनाम की स्तुति करते हुए कहा है कि आपने अपने ज्ञान तेज से उस प्रमाण सिद्ध तत्त्व का प्रणयन किया है जो सत्, असत् आदि रूप विवक्षितावक्षित स्वभाव को लिये हुये हैं और एकान्त दृष्टि का प्रतिषेधक है। सम्यक् अनूभूत तत्त्व का प्रतिपादक 'तदतत्त्वभाव' जैसा पद आपसे भिन्न मत रखने वाले दूसरे मत प्रवर्तकों के द्वारा प्रणीत नहीं हुआ है।" जैन शासन में वस्तु कथञ्चित् सद् ही है, कथञ्चित् असद् ही है इस प्रकार अपेक्षाभेद से वस्तु उभयात्मक और अवाच्य भी है। नय की अपेक्षा से वस्तु सत् आदि रूप है सर्वथा नहीं।" अनेकांत में भी सप्तभङ्गी अवतरित होती है।" यथा स्यादेकान्त, स्यादनेकान्त, स्यादुभय, स्यादवक्तव्य, स्यादेकान्त अवक्तव्य, स्यादेकान्त अवक्तव्य और स्यादेकान्त अनेकान्त अवक्तव्य। ये भङ्ग प्रमाण और नय की अपेक्षा से घटित होते हैं। एकान्त दो प्रकार से हैं, सम्यक् एकान्त और मिथ्या एकान्त अनेकान्त भी दो प्रकार का है—सम्यक् अनेकांत

और मिथ्या अनेकान्त। प्रमाण के द्वारा निरूपित वस्तु से एक देश को हेतु विशेष की सामर्थ्य की अपेक्षा से ग्रहण करने वाला सम्यक् एकान्त है और एक धर्म की सर्वथा अवधारण करके अन्य सब धर्मों का निराकरण करने वाला मिथ्या एकान्त है। एक वस्तु में युक्ति और आगम से अविरोध प्रतिपक्षी अनेक धर्मों का निरूपण करने वाला सम्यक् अनेकान्त है। तत् और अतत्त्वभाव वाली वस्तु से शून्य काल्पनिक अनेक धर्मात्मक जो कोरा वाप जाय है वह मिथ्या अनेकान्त है। सम्यक् एकान्त को नय कहते हैं और सम्यक् अनेकान्त को प्रमाण कहते हैं। नय की अपेक्षा से एकान्त होता है क्योंकि एक ही धर्म का निश्चय करने की ओर उसका झुकाव होता है और प्रमाण की अपेक्षा से अनेकान्त होता है क्योंकि वह अनेक निश्चयों का आधार है। यदि अनेकान्त को अनेकान्त रूप ही माना जाय और एकान्त को सर्वथा न माना जाय तो एकान्त का अभाव होने से एकान्तों के समूह रूप अनेकान्त का भी अभाव हो जाये जैसे शाखा, व पुष्प, आदि के अभाव में वृक्ष का अभाव अनिवार्य है 'तथा' यदि एकान्त को ही माना जाय तो अविनाभावी इतर सब धर्मों का निरूपण करने के कारण प्रकृत धर्म का भी लोप हो जाने से सर्वलोप का प्रसंग होता है इस कारण अनेकान्त में सप्तभङ्गी है।

संदर्भ-सूची

१. जैन दर्शन—प्रो० महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य पृ० ४६८।
२. तत्त्वार्थ श्लोक का० सूत्र १-६ तृ ६२८।
३. प्रबचनसारकेस्मिन् वस्तुव्यतिरोधेन विधि प्रतिषेध कल्पना सप्तभङ्गी। तत्त्वार्थ राजवा० १-६ पृ० ३३
४. प्रबचनसार वाधा २।२३।
५. सिद्ध जसिन् पणित्य उह्यं अव्वसव्वं पुणो व तसिदयं। दव्व खु सर्व्वभंगं आदेसवसेण संभववि। पंचास्ति० १४।
६. सप्तभङ्गीनास्ति पृ० ३५३, पृ० ३३।
७. अक्षरसूची पृ० १२५।
८. जयदेवी श्रुतस्य द्वौ स्याद्वादनयसंमतिरौ। स्याद्वादनः सकलादेशो नवो विकलसंकया॥ लक्ष्मी-यस्त्र-३२।

९. तत्त्वार्थवार्तिक सं० प्रो० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य ४।४२
१०. तत्त्वार्थ वार्तिक ४।४२।
११. सप्तभङ्गी तरंगिणी—विमलदास, प्र० रायचन्द्र शास्त्र माला। पृ० ३३।
१२. तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिक पृ० १३२।
१३. जैन न्याय—पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री पृ० ३२५-३२६
१४. आप्तमीमांसा का० ६-११।
१५. वही का० १२।
- १६-१७. वही का० १२।
१७. तत्त्वार्थ वार्तिक—सं० प्रो० महेन्द्रकुमार ४।४२ हि० पृ० ४२८।
१८. समयसार—स्याद्वाद अधिकार, अक्षिसा मन्दिर प्रकाशन दिल्ली पृ० ५३८। (गेप पृ० १४ पर)

कृपागत :—

विश्व शांति में भ० महावीर के सिद्धान्तों की उपादेयता

□ कु० पुष्पराज जैन

भौतिक सुख सुविधाओं के बीच चलने वाला व्यक्ति संतप्त है, हताश है भौतिक सुख-सुविधायें क्षणिक हैं इसलिए प्रति समय वह व्यक्ति अपनी मौत का अनुभव कर रहा है लेकिन उसे इच्छा है जीने की, दौड़ने की बजाय कुछ पल ठहरने की, जिससे उसकी सांस न फूलने पाए जिससे वह भावी जीवन का रास्ता तय करने के लिए शक्ति जुटा सके। व्यक्ति को युद्ध की दुनियां से निकालकर सहज सुख शान्ति के संसार में प्रतिष्ठित करते हैं महावीर के सिद्धांत। इन सिद्धांतों को जीने से व्यक्ति असुरक्षित न रहकर अभय व निर्भर होता जा रहा है।

साथ ही हताश, दिग्भ्रमित व्यक्ति को सार्थक व सुख-पूर्ण जीवन जीने की कला (मार्ग) भी महावीर के सिद्धान्त बताते हैं। महावीर जिन धर्म मय हैं जिन वाणी के शब्दों से महावीर के अङ्गों-प्रत्यङ्गों का निर्माण हुआ है; दूसरी

(पृ० १३ का शेषांश)

१६. प्रवचनसार—प्र० रायचन्द्र जैन शास्त्र माला पृ० १६२

२०. न सच्च नाऽसच्च न दृष्टमेक

मात्मान्तरं सर्वनिषेधं गम्यम् ।

दृष्टं विमिश्रं तदुपाधि भेदात्

स्वप्नेऽपि नैतत्त्वदुषेः, परेषाम् ॥३२

युक्त्यनुशासनः समन्तभद्र पृ० ३६-३७ !

२१. एकान्तदृष्टि प्रतिषेधितत्त्व प्रमाणसिद्धं तदतत्त्वभाव ।

त्वया प्रणीतं सुविधे स्त्रधाम्न नैतत्समालीढ

पदंत्वदन्य ।

स्वयम्भूस्तोत्र ॥६ पृ० ३६ ।

२२. कथञ्चिद् ते सदेवेष्टं कथञ्चिदसदैव तत् ।

तथोभयमवाच्यं च नययोगाच्च सर्वथा ॥१-१४ ॥

आप्तमीमांसा तत्वदीपिका पृ० १४२ ।

२३. तत्त्वार्थवार्तिक पृ० ३५ ।

—बिजनीर

ओर सारी ही जिनवाणी का निर्माण तीर्थंकर महावीर की देशना से हुआ है। इसलिए महावीर के सिद्धांतों के साथ-साथ जैन धर्म के सिद्धांतों का उल्लेख आये तो वह प्रसंग वश होगा।

यदि जैन धर्म एवं दर्शन के सिद्धांतों को आत्मसात किया जाये तो न केवल विश्वशांति स्थापित हो सकेगी वरन् सच्चे अर्थों में यह पृथ्वी मनुष्य के लिए जीने योग्य बन सकेगी। राधाकृष्णन ने तो यहां तक माना कि वे इतिहास के सच्चे महापुरुष थे। प्राचीन भारत के निर्माण में भगवान महावीर का स्थान बहुत ऊँचा था और आधुनिक भारत व आधुनिक मानव के निर्माण में जैन सिद्धांत आज भी सहायक सिद्ध हो सकते। प्रश्न उठता है हमारे धर्म का स्वरूप कैसा हो? हमारा दर्शन ऐसा हो जो मानव मात्र को सतुष्ट कर सके। उसे शांति एवं सौहार्द का अमोघ मंत्र दे सके। इसके लिए मानवीय मूल्यों की स्थापना करनी होगी भाग्यवाद के स्थान पर कर्मवाद की प्रतिष्ठा करनी होगी।

धर्म एवं दर्शन का स्वरूप ऐसा होना चाहिए जो प्राणी मात्र को प्रभावित कर सके। एवं उसे अपने ही प्रयत्नों के बल पर विकास करने का मार्ग दिखा सके। ऐसा दर्शन नहीं होना चाहिए जो आदमी आदमी के बीच दिवारें खड़ी करे। धर्म एवं दर्शन को आधुनिक मूल्यों, स्वतन्त्रता, समानता, विश्व बन्धुत्व तथा आधुनिक वैज्ञानिक निष्कर्षों का विरोधी होना चाहिये।

इन सभी तत्वों का सुन्दर समन्वय जैन धर्म एवं दर्शन में देखने को मिलता है। सामाजिक समता एवं एकता की दृष्टि से श्रमण परम्परा का अप्रतिम महत्व है। इस परम्परा में मानव को मानव के रूप में देखा गया। मानव महिमा का जितना जोरदार समर्थन जैन दर्शन में हुआ है वह अन्य किसी दर्शन में नहीं। भगवान महावीर ने आत्मा की स्व-

तन्त्रता की प्रजातन्त्रात्मक घोषणा की। उन्होंने एक बहु-मूल्य सिद्धांत का शंखनाद किया, अस्तित्व की दृष्टि से सभी जीव स्वतन्त्र व आत्मशक्ति की अपेक्षा समान है। शारीरिक एवं मानसिक विषमताओं का कारण कर्म है। जीव अपने ही कारण से संसारी है और अपने ही कारण मुक्त हो जायेगा।

भगवान मानवतावादी थे। वे जाति को मूल्य नहीं देते थे। सम्प्रदाय व जाति से हटकर उनका धर्म राज-मार्ग से जाता है। इस राजमार्ग पर सभी को चलने का समान रूप में अधिकार है। महावीर के धर्म को हम जोड़ने वाला धर्म कहेंगे, यह विभिन्न जातियों एवं धर्मों को जोड़ता है। सबको एक साथ मिलकर चलने, रहने व जीने का अधिकार देता है। यह प्राणी मात्र का धर्म है सभी प्राणियों में एक जैसे सुख-दुख की बात करने वाला धर्म है।

भगवान ने समस्त जीवों पर मैत्री भाव रखने एवं समस्त ससार को समभाव से देखने का निर्देश दिया। उन्होंने कहा जाति की कोई विशेषता नहीं। प्राणी मात्र आत्मतुल्य है इसलिये सबके प्रति मैत्री भाव रखे। यह आन्तरिक समानता का धर्म है। अहिंसा धर्म का अनुयायी वही बनता है जिसके अन्तःबाह्य दोनों समता पर अबलम्बित हो।

अखिल विश्व के पाप समूह एवं अशांति के कारणों को यदि वर्गीकरण किया जाय तो पांच होंगे। हिंसा झूठ, चोरी, कुशील व (अत्यधिक) परिग्रह। आज जो सर्वत्र अशांति व्याप्त है वह केवल इन पांच अनैतिक कारणों से है। बहुमुखी पतन एवं अशांति की विभीषिका में अहिंसादि पाँचों सिद्धांत अवश्य ही सम मार्ग का प्रदर्शन करते हैं। उनके सर्वोदयी आदर्श सिद्धांत स्वस्थ समाज राष्ट्र तथा विश्व का निर्माण कर सर्वत्र शान्ति स्थापित कर सकते हैं इसमें सन्देह नहीं।

अहिंसा :—जी.न का विधानात्मक मूल्य—भगवान महावीर ने अहिंसा के प्रतिपादन द्वारा व्यक्ति के चित्त को बहुत गहरे से प्रभावित किया। जब व्यक्ति सभी जीवों को सम भाव से देखता है तो राग-द्वेष का विनाश हो जाता है सम भाव एवं आत्मतुल्यता की दृष्टि का विकास होने पर

व्यक्ति अहिंसक अपने आप हो जाता है। अहिंसा केवल निवृत्ति परक साधना नहीं, यह व्यक्ति को सही रूप में सामाजिक बनाने का अमोघ मन्त्र है। अहिंसा व्यक्ति के मानस से सीधा सम्बन्ध रखती है मानसिक हिंसा का दोष द्रव्य हिंसा से कम नहीं। हिंसा से पाशविकता का जन्म होता है अहिंसा से मानवीयता व सामाजिकता का।

भीतर में चलने व चलने वाली हिंसा बाहर की हिंसा से कहीं अधिक भीषण व खतरनाक होती है। बाहर की हिंसा हमें उतना नहीं जलाती जितनी की भीतर की हिंसा पल-पल में तिल-तिलकर हमें जलाती है। वर्तमान में चलने वाले शीत युद्ध इसलिए सबसे अधिक खतरनाक तथा भीषण है कि वे हमें ही नहीं हमारी संस्कृति को भी धीरे-धीरे मिटाते जा रहे हैं, बाहर से भले ही वे क्रूर व बर्दनाक न दिखते हो किन्तु उनमें निरन्तर हिंसा का लावा धधकता रहता है।

हम नहीं जानते कि आने वाला कल कैसा होगा, किन्तु हमें यह प्रत्यक्ष रूप में दिखलाई पड़ रहा है कि हिंसा के नित नए औजार बनते जा रहे हैं। इनके प्रयोग करने के तरीके बदलते जा रहे हैं, जब तक राग-द्वेष की भट्टी जलती रहेगी तब तक मनुष्य दमन, शोषण व अत्याचार से विमुक्त नहीं हो सकता। अष्टात्म ही उसे सुख व शान्ति प्रदान कर सकता है। जिस किसी भी क्रिया के साथ राग द्वेष मूलक आवेश होगा वहाँ नियम से प्रतिक्रिया होगी और प्रतिक्रिया पुनः प्रतिक्रिया को जन्म देगी। इस प्रकार हिंसा युद्ध-संघर्ष तथा अशांति से शान्ति व सुख मूलक समाधान नहीं होगा। यदि हम वास्तविक शान्ति चाहते हैं तो अहिंसा व साम्यभाव के द्वारा ही प्राप्त हो सकती है।

जहाँ राग-द्वेष का भाव उत्पन्न होता है वहाँ हिंसा हुए बिना नहीं रहती इसलिए यदि हम वस्तुतः समस्या का समाधान करना चाहते हैं तो सदा सदा के लिए यही अभ्यास करना चाहिये कि राग-द्वेष किसी प्रकार उत्पन्न न हों।

अहिंसा व समता एक सिक्के के दो पट्टल हैं मन में यदि अहिंसा का भाव होगा तो जगत के सभी जीवों पर समदृष्टि हुए बिना न रहेगी। उसमें छोटे बड़े के भेद का

अवकाश नहीं होगा। सम का अर्थ है मन की तराजू के पलकों का समान रहना (न राग न द्वेष, न आकर्षण न विकर्षण)। जैन धर्म प्राणी मात्र को एक आंख से देखता है, चींटी से लेकर हाथी और देव से लेकर दानव। यहां तक कि सूक्ष्म ऐकैन्द्रिय जीव (पृष्ठीकाय, जलकाय आदि) को भी प्राणों के विछोह के समय दुःख का वेदन होता है। समता का यह आदर्श आज के संसार को बचाने में समर्थ है, यह शीतल जल का कार्य कर उस घघकती ज्वाला को बुझा सकता है।

‘परस्परौपग्रह जीवनाम्’ का सन्देश हमें महावीर ने दिया। इस सन्देश में सभी जीवों के साथ उपकार करने की एक साथ जीवन-यापन करने की बात कही। अहिंसा के पौधे से सहअस्तित्व का पुष्प पल्लवित होता है आज के विश्व में जब अहिंसा की भावना हास को प्राप्त हो रही है तो स्वाभाविक रूप से यह सहअस्तित्व का पुष्प पूर्ण विकसित नहीं हो रहा। विश्व इस पुष्प की सुवास से बहुत कुछ रीता होता जा रहा है। आज के तथाकथित बड़े राष्ट्रों को यह सहन नहीं हो पा रहा है कि छोटे राष्ट्र अधिकाधिक विकास करके उनकी लाइन में खड़े हों क्योंकि इससे उनके निहित स्वार्थ टकराते हैं, छोटे राष्ट्रों पर बड़े राष्ट्रों का वह दबदबा नहीं रह पाता।

आज पाश्चात्य सभ्यता के मर्यादा बिहीन जीवन-मूल्य सम्पूर्ण विश्व को सक्रामक रोग की तरह ग्रसते जा रहे हैं। आज के व्यक्ति के लिए संयम व मर्यादा का कोई मूल्य नहीं। वह वासना के लिए नारी का भोग करता है उसे भोग सामग्री के अतिरिक्त कुछ नहीं समझता। यह नारी का परिग्रह है, परिग्रह धन का ही नहीं, मनुष्यों का भी देखने में आता है (दासता के रूप में) और नारी का परिग्रह भोग व दहेज के रूप में होता है। दहेज कम लाने पर उसे जीवित जलाया जाता है। कामुकता व वासना की पंक्ति से निकलने के लिए जैन धर्म का ब्रह्मचर्य सहायक है। ब्रह्मचर्य संयम सिखाता है लेकिन उसमें नारी-प्रेम व नारी-सम्मान गंभीत है। हम पुराणों को उठाकर देखें तो विदित होगा कि महापुरुषों ने जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में राज्य-कार्य करते हुए पंचेन्द्रिय सुख भोगे पर उनमें मोहित नहीं

हुए। आत्म-बोध होते ही समस्त वैभव विलास को जीर्ण तृणवत छोड़कर बनवासी हो गये।

आज हम कितने उन्मुक्त, स्वच्छन्द व मर्यादाहीन हो गये हैं किसी से छिपा नहीं है संसार में अशान्ति का एक बड़ा कारण यही अनुशासनहीनता है। अनुशासन आत्म-संयम जैन धर्म का परम आदर्श है। ब्रह्मचर्यानुव्रत का पालन करने से व्यक्ति में अनुशासन व संयम का दीप प्रज्वलित हो सकता है।

आज विश्व में अशांति का एक प्रमुख कारण परिग्रह है। परिग्रह हमें अंधा बनाता है। स्वार्थी बनाकर केवल अपने लिए धन संग्रह के लिए प्रेरित करता है। अधिकाधिक संग्रह से मूल्य बढ़कर मुद्रा स्फीति की समस्याएँ पैदा होनी हैं। बड़े देश छोटे देशों का शोषण करते हैं। शोषण की इस प्रवृत्ति को; परिग्रह की इस दुर्भावना को अपरिग्रह अर्थात् आवश्यकतानुसार परिग्रह से नष्ट किया जा सकता है और संसार में विश्वव्यापी शांति स्थापित की जा सकती है। अहिंसक व्यक्ति अपरिग्रह वादी होता है, अहिंसा की भावना से प्रेरित व्यक्ति अपनी आवश्यकता को उसी सीमा तक बढ़ाता है जिसमें किसी अन्य प्राणी के हितों को आघात न पहुँचे। केवल अधिक उत्पादन मात्र से हमारी सामाजिक समस्याएँ नहीं सुलझ सकती। व्यक्ति को अन्दर से बदलना होगा, उसकी कामनाओं, इच्छाओं को सीमित करना होगा। कामनाओं के नियन्त्रण की शक्ति या तो धर्म में है या शासन की कठोर व्यवस्था में। धर्म का अनुशासन आत्मानुशासन है, इसके प्रतिबन्ध प्रसन्नता देने वाले होते हैं। संयम परिलौकिक आनन्द के लिए नहीं, वर्तमान जीवन को सुखी बनाने के लिए भी आवश्यक है। पाश्चात्य सभ्यता निर्बाध भोगों में रत है फिर भी वहाँ जीवन में सन्नाह, अविश्वास, वितृष्णा एवं कुंठाएँ हैं।

स्वस्थ समाज व राष्ट्र के निर्माण के लिए पारस्परिक स्नेह सौजन्य तथा एक दूसरे के दृष्टिकोण को समझना आवश्यक है। महावीर ने नवीन विचारशैली का आविष्कार किया जिसे अनेकांत कहा गया। इसे वैचारिक अहिंसा भी नाम दिया जा सकता है। अहिंसक व्यक्ति आग्रही नहीं होता। अनेकांत व्यक्ति के अहंकार की झक-

झोरता है उसकी आत्यन्तिक दृष्टि के सामने प्रश्न चिन्ह लगाता है। इस विचार शैली में उदारता, व्यापकता, सहिष्णुता है जिससे दूसरे के दृष्टिकोण को समझा जा सके। इससे समझौते की भावना उत्पन्न होगी। दूसरे के प्रति आदर व प्रामाणिकता का भाव उत्पन्न होगा।

स्यादवाद अनेकांत का समर्थक उपादान है। सत्य कथन की वैज्ञानिक पद्धति है। आग्रहों के दायरों में सिमटा जो मानव था उसकी अँधेरी कोठरी को अनेकांतवाद ने अनन्य लक्षण सम्पन्न सत्य प्रकाश से आलोकित किया, आग्रह एवं असहिष्णुता के दरवाजों को स्यादवाद की चाबी ने खोल दिया। यदि हम प्रजातन्त्र में वैज्ञानिक पद्धति से सत्य का साक्षात्कार करना चाहते हैं तो उसका साधन अनेकांत दृष्टि व स्याद्वाद प्रणाली होगी।

जैन शाश्वत जीवन पद्धति तथा जड एव चेतन के रहस्यों को जानकर आत्मानुसंधान की प्रक्रिया है। व्यक्ति स्वयं अपने प्रयासों से ऊपर उठता है, यह एक क्रान्तिकारी विचार है। इसको यदि हम आधुनिक सन्दर्भों में व्याख्यापित कर सकें तो निश्चित रूप से विश्व के ऐसे समस्त प्राणी जो धर्म और दर्शन से निरन्तर दूर होते जा रहे हैं इनसे जुड़ सकते हैं।

भगवान महावीर का दूसरा क्रान्तिकारी विचार है कि मनुष्य जन्म से नहीं अपितु आचरण से महान बनता है इस सिद्धान्त के आधार पर उन्होंने मनुष्य समाज की दीवारों को तोड़ फेंका। आज भी मनुष्य मनुष्य के बीच दीवारों को तोड़ डालता है। इस सिद्धान्त से जातिगत विषय जिसने समाज की शान्ति में एक विषय घोल रखा है, दूर हो सकता है। तीसरा महत्वपूर्ण विचार यह है कि प्रत्येक व्यक्ति समान है, ऊँचा उठ सकता है और परमात्मा बन सकता है। महावीर ने मानवीय महिमा का जोरदार सपर्यन्त करते हुए कहा कि जिस साधक का मन धर्म में रमण करता है उसे देव भी नमस्कार करते हैं। इसे यदि आध्यत्मिक भाषा में कहा जाए तो सम्यक दृष्टि श्रावक को देवताओं के राजा इन्द्र नमस्कार करते हैं, महिमावन्त होते हैं। व्यक्ति अपनी ही जीवन साधना द्वारा इतना

विकास कर सकता है कि पामर आत्मा परमात्मा बन जाता है, तीन लोक का स्वामी बनकर अनन्तकाल के लिए अनन्त सुख का पान करता है।

जैन तीर्थंकरों का इतिहास व जीवन आकाश से पृथ्वी पर उतरने का नहीं अपितु पृथ्वी से ही आकाश की ओर जाने का उपक्रम है। नारायण को नर का शरीर धारण नहीं करना पड़ता वरन् नर ही नारायण बनता है।

महावीर ने अपनी जीवन साधना द्वारा प्रत्येक व्यक्ति को यह प्रमाण दिया कि यदि वह साधना कर सके, राग, द्वेष को छोड़ सके तो कोई ऐसा कारण नहीं कि वह प्रगति नहीं कर सके। जब प्रत्येक व्यक्ति प्रगति कर सकता है और तत्त्वतः कोई किसी की प्रगति में बाधक या साधक नहीं तो फिर सपथ का प्रश्न ही कहाँ उठता है। इस तरह उन्होंने एक सामाजिक दर्शन दिया।

व्यक्तिगत स्तर पर आचार के लिए पांच अणुव्रत, विचार के लिए अनेकांत व वाणी के लिए स्याद्वाद का जीवन में समावेश हो। सामाजिक स्तर पर विचार सहिष्णुता समान अधिकार व्यक्ति स्वतन्त्र की स्वीकृति आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप आवश्यक है। समाज रचना ऊपर से लदनी नहीं चाहिए। किन्तु उमका विकास सहयोग पद्धति से सामाजिक भावना की भूमि पर होना चाहिये तभी सर्वोदयी समाज की रचना हो सकती है। जब तक इन सर्वप्रथम मूलक अहिंसक आधारों पर समाज रचना का प्रयास न होगा तब तक विश्व शान्ति स्थापित न हो सकेगी। तीर्थंकर महावीर और बौद्धसत्त्व बुद्ध के देश भारत में पंचशील व गुट निरपेक्षता की नीति अपनायी है और इसके पीछे भावना है मानव के सम्मान व अहिंसा मूलक आत्मोपम्य की हार्दिक श्रद्धा। जीवन का सामन्जस्य, नव समाज निर्माण और विश्व शांति का यही मूल मन्त्र है, इसका नाम लिए बिना कोई विश्व शांति की बात भी नहीं कर सकता।

विवेकी विद्वानों के लिए

‘अप्रदेश संत मज्झ’

□ महाचन्द्र जैन

समयसार ग्रन्थराज की पन्द्रहवीं गाथा के विषय में अनेक विद्वानों के विभिन्न विचार दृष्टिगोचर हो रहे हैं। जिन शासन के समीचीन सिद्धान्त का अपलाप न हो इसलिए इस गाथा के सम्बन्ध में विवेकी विद्वानों के विचारार्थ कुछ तथ्य रख रहा हूँ, आशा है इन पर अवश्य ही सर्वांगीण रूप से चिन्तन किया जावेगा।

पन्द्रहवीं गाथा वस्तुपरक न होकर प्रयोजन परक गाथा है तथा इसका प्रयोजन भेद कल्पना निरपेक्ष निरंश अखण्ड निज शुद्धात्म स्वरूप ज्ञायक स्वभाव का अनुभव करना है।

कुछ विद्वान इस गाथा में आये हुए अप्रदेश शब्द का अर्थ अप्रदेश करके आत्मा को अप्रदेशी सिद्ध करने में लगे हुए हैं तथा कुछ विद्वान आगम अनुसार आत्मा के असंख्यात प्रदेशी होने के कारण इसका निषेध कर रहे हैं, जबकि आत्मा के अप्रदेशी अथवा असंख्यात प्रदेशी होने का कथन तो वास्तव में पर्याय अपेक्षा से होता ही है। पर्याय भेद को गौण करके निज शुद्धात्म स्वरूप ज्ञायक स्वभाव का अनुभव करने के लिए पर्याय भेद का निषेध तो श्रीमद कुन्दकुन्दाचार्य महाराज ने छठवीं गाथा में प्रमत्त भी नहीं है और अप्रमत्त भी नहीं है कह कर किया था क्योंकि ये दोनों अवस्थायें पर्याय अपेक्षा से कहने में आती हैं। पर्याय पर की अपेक्षा से प्रमत्त तथा स्व की अपेक्षा से अप्रमत्त कहलाती है लेकिन फिर भी शुद्धात्म स्वरूप ज्ञायक स्वभाव निरपेक्ष ही है, वह तो वही है।

इसी प्रकार असंख्यात प्रदेशी और अप्रदेशी अवस्था को भी छठवीं गाथा के अनुसार घटित किया जावे तो इसका तात्पर्य होता है कि आत्मा असंख्यात प्रदेशी भी नहीं है और अप्रदेशी भी नहीं है क्योंकि ये दोनों

ही अवस्थायें पर्याय अपर्याय अपेक्षा से कहने में आती हैं अर्थात् असंख्यात प्रदेशी और अप्रदेशी अवस्था का पर्याय भेद ही है। प्रदेशत्व गुण की व्यजन पर्याय पर अपेक्षा (आकाश द्रव्य के प्रदेशों की अपेक्षा) से तो असंख्यात प्रदेशी है तथा स्वयं अपनी अपेक्षा से अप्रदेशी है लेकिन फिर भी शुद्धात्म स्वरूप ज्ञायक स्वभाव शाश्वत निरपेक्ष ही है, वह तो वही है।

आचार्य महाराज ने पर्याय भेदों का छठवीं गाथा में निषेध करने के पश्चात् सातवें गाथा में गुण भेदों का भी निषेध करके यह सिद्ध कर दिया कि आत्मा में अनन्त गुणों का भेद भी नहीं है तब फिर पन्द्रहवीं गाथा अखण्ड और निरंश निज शुद्धात्म स्वरूप ज्ञायक स्वभाव के अनुभव के लिए निर्देश है उसमें असंख्यात प्रदेशी और अप्रदेशी अवस्था की चर्चा करना, व्यर्थ की चर्चा नहीं है तो और क्या है ?

पन्द्रहवीं गाथा में असंख्यात प्रदेशी और अप्रदेशीपने का कथन नहीं होने पर भी जो खींचतान करके जबर-दस्ती से अप्रदेश शब्द का अर्थ अप्रदेश करते हैं, वह इस गाथा के तात्पर्य के साथ किस प्रकार से संगत बैठ सकती है, यह विचारणीय है। इस गाथा में प्रयुक्त “अप्रदेश संत मज्झ” का अर्थ अप्रदेशी शान्त अंतस्तत्त्व में करने से क्षेत्र अपेक्षा कथन हो जाता है जो कि भेद रूप विकल्पात्मक अवस्था का ही कथन है। इसी प्रकार सत शब्द का अर्थ शांत करना भी तर्क संगत नहीं है क्योंकि सत का वास्तविक अर्थ तो अत सहित होता है, शांत नहीं इसलिए यहाँ वास्तव में या तो किसी के अन्त का अथवा किसी के अन्त सहित विषय का विचार करना चाहिए।

“अपदेश-संतमज्ज” का अर्थ अप्रदेश के अन्त सहित अन्तस्तत्त्व में करना भी यहां संगत नहीं है अतः अपदेश शब्द में अप को देश का उपसर्ग मान कर (अपमान और अपराध शब्द के अर्थ की तरह से) देश से परे अपदेश समझा जाय तो अधिक युक्ति संगत होगा, तब इसका अर्थ (स्व क्षेत्र—स्व स्थान—स्व पद) से परे अपदेश (पर क्षेत्र—पर स्थान—पर पद) के अन्त सहित अन्तस्तत्त्व में होता है और यह अर्थ अप्रदेशी शांत अन्तस्तत्त्व में अथवा अप्रदेश के अन्त सहित अन्तस्तत्त्व में की अपेक्षा निज शुद्धात्म स्वरूप ज्ञायक स्वभाव की स्वानुभूति के अधिक निकट होने से इसकी सही समझ पूर्वक अन्तस्तत्त्व का आगम अनुसार युक्ति एवं तर्क सहित सही अनुमान होकर स्वानुभव की प्राप्ति हो सकती है।

अपदेश (पर पद) के अन्त सहित निज पद (अन्तस्तत्त्व) में का विश्लेषण करने पर यह अपदेश क्या है प्रश्न उठना भी स्वाभाविक ही है। इस प्रश्न का समाधान सम्यक अनेकान्त के द्वारा किया जावे तो निज पद (अन्तस्तत्त्व) रूप ज्ञायक स्वभाव पर की अपेक्षा से ज्ञेयाकार तथा स्व की अपेक्षा से ज्ञानाकार रूप है। तथा ज्ञेयाकार में ज्ञेय का विकल्प (उपचार) करने के कारण पर पद का आरोप आता है अर्थात् ज्ञेयाकार ज्ञान स्वयं स्वभाव का परिणमन होने पर भी ज्ञेय का विकल्प (निक्षेप) होने के कारण इसमें पर पद (अपदेश) का उपचार (विकल्प-निक्षेप) किया जाता है। तात्पर्य यही है कि ज्ञेयाकार ज्ञान, स्वयं ज्ञान स्वभाव का ही परिणमन होने से वास्तव में ज्ञान स्वभाव का व्यवहार तो अवश्य है लेकिन ज्ञान स्वभाव का उपचार (विकल्प-निक्षेप) नहीं होने के कारण वास्तविक पर पद (अपदेश) नहीं हो सकता अतः ज्ञेयाकार ज्ञान का अन्तरूप अभाव नहीं मान कर प्रयोजन वश गोण रूप अभाव अर्थात् निराभाव ही मानना चाहिए। ज्ञेयाकार ज्ञान प्रति समय बदलते रहने से अन्य-अन्य होता रहता है लेकिन ज्ञानाकार ज्ञान शास्वत एक रूप रहने से अनन्य ही है। निज शुद्धात्म स्वरूप ज्ञान स्वभाव का ऐसा ही शास्वत स्वभाव होने के कारण इस अन्यपना और अनन्यपना में विरोध का मा भ्रम होने पर भी इस सम्यक अनेकान्तस्वरूप ज्ञान स्वभाव में कोई विरोध नहीं है क्योंकि पर अपेक्षा में अन्य

पना और स्व अपेक्षा से अनन्यपना स्वयं ज्ञान स्वभाव का ही स्वपर प्रकाशक स्वभाव है अर्थात् ज्ञान स्वयं को जानता हुआ भी ज्ञेयाकार को भी जानता रहता है, इसलिए ज्ञेयाकार रूप उपचरित पर पद (अपदेश) स्वयं ज्ञान स्वभाव का ही परिणमन होने पर भी ज्ञेय का उपचार अर्थात् ज्ञेय का विकल्प होने के कारण ज्ञेयाकार नाम पाता है अतः यह भेद कल्पना की अपेक्षा का ही कथन है लेकिन पंद्रहवीं गाथा तो भेद कल्पना निरपेक्ष स्वभाव निर्देश करने वाला है। उसमें द्रव्य-भेद, क्षेत्र-भेद, काल-भेद तथा भाव-भेद भी नहीं होना चाहिए इसलिए ऐसी भेद कल्पना निरपेक्ष स्वभाव निज अन्तस्तत्त्व कैसा है यही यह गाथा इंगित कर रही है।

अपदेश संत शब्द मज्ज (अन्तस्तत्त्व) का विशेषण होने से मज्ज का सूचक है तथा अन्तस्तत्त्व शब्द स्वयं भी किसी अन्त का सूचक है। जयसेनाचार्य ने अपदेश का स्पष्टीकरण इसी गाथा की टीका में “अपदिश्यतेअर्थो” येन स भवत्वपदेशः शब्द द्रव्यश्रुतमिति द्वारा किया है अर्थात् जिसके द्वारा अर्थ निर्देशित किये जायें सो अपदेश है यह शब्द अर्थात् द्रव्य श्रुत है।

टीकाकार आचार्यों के कथन का मिलान करके उनके अनुसार इस गाथा के अर्थ का युक्ति एवं तर्क पूर्वक अनुमान करें तो ज्ञात होता है कि ज्ञायक स्वभाव रूप भाव श्रुत ज्ञान ही ज्ञेय अपेक्षा से ज्ञेयाकार तथा ज्ञान अपेक्षा से ज्ञानाकार होने पर भी यह भेद कल्पना निरपेक्ष भावश्रुत-ज्ञान रूप निज अन्तस्तत्त्व का कथन नहीं बन सका क्योंकि इसके भेद करके समझाने पर प्रयोजन वश क्रमवर्ती ज्ञेयाकार रूप विशेष उपचरित पर पद के तिरोभाव का और अक्रमवर्ती ज्ञानाकाररूप नियम सामान्य (स्व-पद) के आविर्भाव का अनुमान तो होता है लेकिन ज्ञेयाकार रूप उपचरित पर पद का ही अनुभव करते रहने से ज्ञानाकार रूप स्व पद के स्वाद का अनुभव नहीं होता है क्योंकि ज्ञेयाकार रूप उपचरित पर पद अर्थात् ज्ञेय के विकल्प का अनुभव करने वाले के साथ ही साथ भाव श्रुत ज्ञान के विकल्प (उपचार-निक्षेप) रूप द्रव्यश्रुत ज्ञान (अंतर्जल्प एवं बहिर्जल्प रूप शब्द ज्ञान) का भी अविनाभावी निमित्त नैमित्तिक

सम्बन्ध होने के कारण भ्रमवश भावश्रुत ज्ञान रूप निज अन्तस्तत्त्व का अनुभव नहीं होकर मात्र भावश्रुत ज्ञान के विकल्प रूप द्रव्य श्रुत ज्ञान अर्थात् जल्प रूप शब्द का ही अनुभव होता रहता है कारण जल्प रूप शब्द ज्ञान का उप-चार याने विकल्प भी ज्ञेयाकार रूप उपचरित पर पद में ही होता है।

अनादि काल से इस अविनाभावी निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध की श्रद्धा चालू रहने पर भी ज्ञेयाकार रूप भाव श्रुत ज्ञान द्रव्य श्रुत ज्ञान (जल्प रूप शब्द ज्ञान) का तथा जल्प रूप शब्द ज्ञान (द्रव्य श्रुत ज्ञान) ज्ञेयाकार रूप भाव श्रुत ज्ञान का आपस में एक दूसरे का निमित्त होने के कारण एक दूसरे का निर्देश तो अवश्य करते हैं लेकिन एक दूसरे की उत्पत्ति बिल्कुल भी नहीं करते अर्थात् एक दूसरे के गमक रूप निमित्त कारण तो अवश्य है लेकिन एक दूसरे के जनक रूप उपादान कारण किंचित भी नहीं है इसलिए ज्ञेयाकार रूप भाव श्रुत ज्ञान में द्रव्य श्रुत (जल्प रूप शब्द) का विकल्प होने पर भी द्रव्य श्रुत रूप शब्द (जल्प) का अन्त रूप अभाव होने के कारण यह अन्तस्तत्त्व रूप भाव श्रुत ज्ञान सदा ही अपदेश के अंत सहित अर्थात् द्रव्य श्रुत ज्ञान रूप पद के अन्त सहित याने जल्प रूप शब्द से रहित ही है लेकिन भ्रम वश इससे विपरीत मानता हुआ जीव मिथ्यात्वी होकर स्वयं ही अनन्त के साथ अनुबद्ध करता हुआ अर्थात् अनन्तानुबन्धी कषाय के कारण महान् आकुलित हो रहा है।

भावश्रुत एवं द्रव्य श्रुत के भेद को पंडित प्रवर श्री जयचन्द जी छाबड़ा ने समयसार के मंगलाचरण में “शब्द ब्रह्म परब्रह्म के वाचक वाच्य नियोग” कह कर स्पष्ट किया है। इस भेद की यथार्थ समझ होने पर जब उपचरित अपदेश रूप ज्ञेयाकार ज्ञान अर्थात् ज्ञान के क्रमवर्ती विशेष का प्रयोजन वश तिरोभाव होता है तब अविनाभावी

निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध वाले वास्तविक अपदेश रूप द्रव्य श्रुत ज्ञान अर्थात् जल्परूप शब्द ज्ञान (भाव श्रुत ज्ञान के विकल्प) का अन्त होकर एकमात्र अक्रमवर्ती तिर्यग सामान्य रूप भावश्रुत अर्थात् अन्तस्तत्त्व रूप निज शुद्धात्म स्वरूप ज्ञायक स्वभाव ही अनुभव में आता है। यह अवस्था अनिवृत्तिकरण के समय सहज ही बनती है क्योंकि बाह्य प्रवृत्ति और बाह्य निवृत्ति रूप विकल्प का अन्त होने पर ही अर्थात् उपयोग के साथ मन वचन काय की प्रवृत्ति और निवृत्ति के विकल्प का अन्त होने पर ही याने निश्चय त्रिगुप्ति की आंशिक शुरूआत होने पर ही स्वानुभव रूप सेवा धर्म होता है इसलिए त्रिगुप्ति कहो या अनिवृत्तिकरण कहो एक ही बात है अतः इस पन्द्रहवीं गाथा में अपदेश का वास्तविक अर्थ द्रव्य श्रुत रूप शब्द (अतर्जल्प और बहिर्जल्प रूप शब्द) ही तर्क संगत सही है।

उपरोक्त विवेचन अनुसार इस गाथा का भावार्थ निम्न प्रकार से बनता है। जो अबद्ध स्पष्ट, अनन्य, अविशेष तथा उपलक्षण से नियत एवं असंयुक्त आत्मा को ज्ञान के विकल्प रूप द्रव्य श्रुत (बहिर्जल्प और अन्तर्जल्प रूप शब्द) के अन्त सहित अन्तस्तत्त्व रूप भाव श्रुत ज्ञान में देखता है व ज्ञाता का दृष्टा होने के कारण समस्त जिन शासन को देखता है क्योंकि द्वादशांग वाणी रूपी उपचरित जिन शासन भी भावश्रुत ज्ञान रूपी वास्तविक जिन-शासन का ही निर्देश करने वाली है।

विवेकी विद्वान् इस गाथा का वास्तविक अभिप्राय समझ कर इसके अर्थ का निर्णय करके विकल्प रहित अन्तस्तत्त्व में अबद्ध, स्पष्ट, अनन्य, अविशेष, नियत और असंयुक्त आत्मा के विकल्प का भी अंत करके निज शुद्धात्म स्वरूप ज्ञायक स्वभाव का अनुभव करेंगे इसी भावना के साथ।

—इम्फाल (मनीपुर)

विद्यानुवाद और कैंसर रोग

—वेद्य प्रभुदयाल कासलीवाल, भिवनगाबाय

जैन साहित्य एक सर्वांग साहित्य है। अनेक महाकाव्य जैन कवियों द्वारा लिखे हुए मिलते हैं। ज्योतिष-शास्त्र में चन्द्र प्रज्ञप्ति और सूर्य प्रज्ञप्ति जैसे महान ग्रन्थ जैन आचार्यों द्वारा लिखे गये हैं। गणित में तो ऊँचे से ऊँचा साहित्य जैन आचार्यों की ही देन है। ठीक इसी तरह आयुर्वेद में भी जैन विद्वानों द्वारा अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया गया है। वाग्भट जो कि आयुर्वेद का महान् ग्रन्थकार हुआ है वह एक जैन विद्वान था, इसको अनेक तथ्यों द्वारा प्रमाणित किया जा सकता है। मत्र शास्त्र में विद्यानुवाद जैसे महान् ग्रन्थ जैन शास्त्र भण्डारों में विद्यमान है।

विद्यानुवाद में कैंसर रोग का वर्णन किया गया है, ग्रन्थकार ने कैंसर रोग का नाम ज्वालागर्दभ दिया है। इस रोग का विश्लेषण इस प्रकार किया है—

ज्वाला गर्दभ मनुष्य के शरीर में प्रकट होकर मानों मृत्तु का आह्वान करता है। यह रोग वेगो को रोकने से, प्रकृति के प्रतिकूल पदार्थों का सतत सेवन, ईर्ष्या, द्वेष, काम, मायाचारी आदि कपायो के कारण मनःस्थिति का सन्तुलन अधिक समय तक बिगड़ जाना अधिक धूम्रपान अथवा ऐसे पदार्थों के सेवन से जो शरीर में अग्नि पिण्डों का निर्माण करते हैं—सेवन से उत्पन्न होता है।

उपरोक्त कारणों से शरीर के किसी भी भाग में एक अग्निपिण्ड का निर्माण होता है, उस अग्निपिण्ड से अग्नि किरणें शरीर के उसी अंग में जहाँ वह अग्निपिण्ड पैदा हुआ है, अथवा किसी अन्य स्थान पर अग्निपिण्ड से प्रकट होने वाली किरणें शरीर के उस २ अंग को जलाने लगती हैं। अग्नि किरणें प्रतिक्षण शरीर के उस अंग को जलाती रहती हैं, बस यह ही ज्वालागर्दभ नाम का रोग होता है, इन दाहमान, किरणों की क्रिया-शक्ति को शमन करने के लिए प्रकृति एक ग्रन्थि का निर्माण करती है, दाहमान क्रिया के शमन हेतु ग्रन्थि का आकार

बढ़ता जाता है लेकिन अग्नि किरणें शमन नहीं होतीं क्योंकि अग्नि किरणें कार्य हैं कारण नहीं, कारण तो वह अग्निपिण्ड है जिसका उद्गम किसी अन्य स्थान पर हुआ है। दाहमान क्रिया के शमन हेतु प्रकृति अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा देती है पर रोग पर विजय नहीं मिलती। यही कारण है कि कैंसर रोग की ग्रन्थि बढ़ती जाती है और सम्पूर्ण शरीर दुर्बल होता जाता है। अग्नि किरणें आगे-आगे और ग्रन्थि पीछे-पीछे चलती रहती है। यदि अग्निपिण्ड का नाश हो जावे तो किरणें रुक सकती हैं अन्यथा नहीं।

अग्नि किरणें इतनी सूक्ष्म होती हैं कि इन्हें देखा जाना भी सम्भव नहीं है, फिर भी बहुत सूक्ष्म अध्ययन, प्रश्नों द्वारा लक्षणों के द्वारा अग्निपिण्ड का स्थान भी मालूम किया जा सकता है।

ज्वाला गर्दभ आठ प्रकार का होता है :—

(१) कपिल, (२) पिगल, (३) विजय, (४) कलह-प्रिय, (५) कुम्भकर्ण, (६) विभीषण, (७) चन्द्रहास, (८) दर्दुर।

१. कपिल—यह ज्वालागर्दभ स्तन या उदर में होता है।

२. पिगल—यह ज्वाला गर्दभ शिर में निकलता है। तथा इसकी चिकित्सा निम्न प्रकार है—

आक की जड़, प्रियंग, नाग केसर इन तीनों दवाइयों को चावल के पानी से पीसकर सेवन करे तथा इनका ही लेप करें।

३. विजय—नेत्र में पैदा होने वाले ज्वाला गर्दभ को विजय नाम से पुकारते हैं। कनेर की जड़ को चावलों के पानी में पीसकर लेप करें तथा सेवन करें।

४. जघादि स्थानों में पैदा होने वाले ज्वाला गर्दभ का नाम कलह प्रिया नाम से कहा गया है।

(शेष पृ० २८ पर)

विचारणीय-प्रसंग

□ पद्मचन्द्र शास्त्री, नई दिल्ली

जिनवाणी अनेकान्तमय है और आचार्य अमृतचन्द्र जी अनेकान्तवाद के ज्ञाता और परमोपासक। यही कारण है कि उनकी रचनाओं में पग-पग पर इस वाद की गहरी झलक मिलती है। वैसे आज भी नया बहुत कुछ लिखा जा रहा है—बड़े-बड़े विद्वान् प्राचीन ग्रंथों की विस्तृत टीकायें और व्याख्यायें भी कर रहे हैं। उनके समक्ष हम जैसे मन्दों का कुछ लिखना हास्यास्पद ही होगा। फिर भी हमें अपने विचार देने का कोई आदेश प्राप्त हुआ है अतः मन्तव्य लिख रहे हैं—ज्ञाता हमें स्खलन से सँभाल लें—हमें कोई हठ नहीं।

‘अनादि रक्तस्य तत्रायमासीत्,
यः एव संकीर्णरसः स्वभावः।
मार्गावतारे हठमार्जितश्च—
स्वभया कृतः शान्तरसः स एव ॥’

उक्त काव्य ‘लघुतत्त्वस्फोट’ से है। इसमें आचार्य अमृतचन्द्र जी ने आत्मा के स्वभाव का वर्णन रसों के अस्ति और नास्ति दोनों पक्षों की अपेक्षा से किया है। दूसरी पंक्ति में ‘संकीर्णरसः’ पद रसों के अस्ति रूप को और चौथी पंक्ति में ‘शान्तरसः’ पद रसों के नास्ति रूप को दर्शा रहा है। अर्थात् जो स्वभाव अनादि से रागी होने के कारण अनेक भौतिक रसों से व्याप्त था वह स्वभाव केवल-ज्ञानी (रागरहित) होने पर हठ पूर्वक उन रसों से शान्त—अव्याप्त—रहित हो गया।

प्रस्तुत काव्य का अर्थ करते समय हमें ‘संकीर्णरसः’ और ‘शान्तरसः’ दोनों पदों के विग्रह की एकरूपता का ध्यान रखना चाहिए। बिना एकरूपता के स्याद्वाद-संमत कुछ अर्थ फलित होना असम्भव है। हमारा मत है कि उक्त दोनों पदों का विग्रह निम्न रूप में लेना युक्ति संगत है—

‘संकीर्णरसः’—संकीर्णः व्याप्ताः रसाः यस्मिन् सः
(एतादृशः स्वभावः)

जिसमें रस संकीर्ण—व्याप्त है वह (ऐसा स्वभाव)

‘शान्तरसः’—शान्ताः निर्गताः रसाः यस्मात् सः (एतादृशः स्वभावः)

जिससे रस शान्त हो गए—चले गए (ऐसा स्वभाव)

—बहुव्रीहि समासान्त उक्त दोनों रूपों को समरूप से दोनों स्थलों में अपनाने पर अर्थ युक्ति-संगत और ठीक बैठ जाता है। ऊपर की पंक्ति में अस्तिरूप और नीचे की पंक्ति में नास्ति रूप।

यदि हम आ० अमृतचन्द्र जी की इस अस्ति और नास्ति दृष्टि का ध्यान न रख, दोनों पदों के समासों में व्यत्यय करे अर्थात् भिन्न-भिन्न समासों का प्रयोग करें तो अस्ति और नास्ति दृष्टि का लोप ही होगा। ‘जैसे कि ‘संकीर्णरसः’ में बहुव्रीहि का प्रयोग करना और ‘शान्तरसः’ में कर्म-धारय का प्रयोग करना आदि। कुछ लोग तत्पुरुष समास भी कर रहे हैं।

हाँ, यदि शान्त-रस नामक रस की भाँति कोई ‘संकीर्ण-रस’ नामक स्वतन्त्र रस भी होता तब दोनों पदों में कर्म-धारय समास भी चल सकता था। पर, संकीर्ण नाम का कोई रस स्वतन्त्र नहीं है अतः उसमें कर्म-धारय का प्रश्न ही नहीं उठता। साथ में ऐसा समास करने से समासों की एकरूपता का विरोध ही होगा। तथा ऐसा करने में एक विसंगति यह भी होगी कि हम ‘संकीर्णरसः’ में तो रस को “परिमाण” की तुला से नापेंगे और ‘शान्तरसः’ में इसको “जाति” की तुला से नापेंगे, जबकि समास-समरूपता की दृष्टि से दोनों स्थानों में सम-जातीय तुला से ही नाप होना न्याय्य है। ऐसा हमारा भाव है। फलतः—उत्तम यही है कि यदि हमें आत्मा में रस मानने का आग्रह ही हो तो

उसके विकल्पातीत चैतन्य को ही रस मान ले। हमारे मत में शुद्ध आत्मा विकल्पातीत होने से न शातरस को स्पर्श करती है और ना ही अशातरस को। वह तो मात्र 'चिदेकरसनिर्भरः'—एक चैतन्य रस पूर्ण है—जो है सो है। फलतः जहाँ भी शान्त-रस जैसा कथन हो वहाँ सभी प्रकार के रस शांत हो गए ऐसा अर्थ उचित है। शांति का भाव भी शान्तनामारस नहीं होना चाहिए। आत्मा, रस जैसे लौकिक अनुभवों से अतीत—मात्र चैतन्यही है।

एक बात और। रस के प्रसंग में 'साहित्यदर्पणकार' के मत में 'विभाव, अनुभाव सचारी भावों से अभिव्यक्त—पुष्ट स्थायी भाव रस है, जो कि मन वालों के होता है—
“विभावेनानुभावेन व्यक्तः संचारिणा तथा।
रसतामेति रत्यादि स्थायीभावः सचेतसाम्॥

—साहि० दर्पण ३१२

इसका खुलासा भाव यह भी है कि रस का मूल आधार मन की वासना है। जिनके मन नहीं होता उनके वासना नहीं होती और जिनके वासना नहीं होती उनके रस का अनुभव नहीं होता। वे तो रस के विषय में काष्ठ दीवार और पत्थर की भाँति अकिंचित्कर—निष्क्रिय होते हैं। तथाहि—

‘न जायते तदास्वादो विना रत्यादि वासनाम्।’
‘सवासनानां सम्प्रानां रसस्यानुभवो भवेत्।’
निर्वासनास्तुरङ्गानाः काष्ठकुड्याश्मसन्निभा ॥’

उक्त प्रसंग के अस्तित्व में शुद्ध आत्म स्वभाव में जहाँ मन ही नहीं है वहाँ यदि हम किसी रस की कल्पना करते हैं तो वह कल्पना 'खर-विषाणवत्' मात्र कल्पना और अकिंचित्कर ही होगी—वास्तविक नहीं। फिर शुद्धात्माओं में शान्त-रस की पुष्टि के लिए उसके मूल कारण विभाव, अनुभाव और सचारी भाव भी कल्पित करने पड़ेंगे और मन भी कल्पित करना पड़ेगा, जिनका कि शुद्धात्माओं में सर्वथा अभाव है। आशा है मनीषी विचारों और शुद्धात्माओं को विसंगतियों से दूर रखने का प्रयत्न करेंगे—उनको सासारिक व्यवस्थाओं में लौटाने का नहीं। अन्यथा इसके दूरगामी—(मुक्ति से पुनरावृत्ति या अवतारवाद की पुष्टि जैसे) अनेक विरुद्ध परिणाम सिद्ध हो सकेंगे जो जैन आगम के मूल पर चोट ही होंगे।

दरअसल बात ऐसी है कि जैसे कोई विवाहित पुरुष स्त्री को दुखदायी जान उसे छोड़ने का संकल्प कर बैठा और उसे छोड़कर साधु भी बन गया। उसने व्यक्ति-रूप स्त्री को तो छोड़ा, पर वासनावश स्त्री-जाति का मोह न न्यास सका। फलतः—वासनावश मुक्ति में ही स्त्री की झूठी कल्पना कर बैठा और सुखी होने लगा। जबकि मुक्ति-नामा कोई स्त्री ही नहीं है। कोरा संकल्प और मन की भ्रान्ति है। वैसे ही शान्तरस की स्थिति है। ये भी संसारी जीवों की वासना द्वारा कल्पित भाव है जो शुद्ध जीवों में भी कल्पित किया जाने लगा। वास्तव में उनमें इसका कोई अस्तित्व नहीं। यदि मुक्ति नामक कोई स्त्री हो तो उसे खोजा जाय।

जब हम 'अजैयंष्टव्यम्' प्रसंग पर विचार करते हैं तब हमारे रोंगटे खड़े हो जाते हैं और सोचते हैं कि यदि उस समय आग्रह-वश 'अज' शब्द का अप्रासंगिक अर्थ 'बकरा' न हुआ होता तो धर्म में हिमा-रूत अनर्थ का प्रवेश न हुआ होता और ना ही लोगों को वीतरागी तीर्थंकर की सर्व-तत्त्व-ममन्वित—विधि-निषेध रहित, निविकल्प, अभेद-अखण्डधारामयी दिव्यध्वनि को अहिंसा जैसे एकांगी सविकल्प उपदेश की प्रमुखता का रूप मानना पड़ा होता—जो कि लोगों द्वारा तत्कालीन परिस्थिति के अनुरूप अपनी कल्पना में मानना पड़ा और आज तक उसी मान्यता में चला आ रहा है। लोग आज भी कहते हैं—‘महावीर ने परिस्थिति को देखकर उस समय अहिंसा का प्रमुख उपदेश दिया’—गोया, वीतरागी महावीर उस समय जीवों की दया के प्रति रागी और जीवों की रक्षा के प्रति बेचैन हुए हों। समझ में नहीं आता कि वीतरागी ने विकल्प-प्रेरित मात्र अहिंसा जैसे किसी एक जातिरूप धर्म का उपदेश दिया हो? उनकी दिव्यध्वनि तो सर्वतत्त्व-समुदित निरक्षरी थी जिसे गणधर देव ने ही भेद-रूप में गूँथा।

‘शान्तरसः’ पद भी ऐसा ही है, यदि प्रसंग के अनुसार इसे निरास अर्थ में लेकर शान्त-रस या शान्ति के अर्थ में लेने का विचार किया गया तो शुद्धजीवों में भी रस हेतु बीसे ही विकार कल्पित करने पड़ेंगे जैसे कि लोग आज मुक्ति-स्त्री के सवध में प्रमिद करने लगे हैं। वे कहते हैं कि—जब जैनियों के मुक्त जीवों ने स्त्री को नहीं छोड़ा है—वे मुक्ति

स्त्री के सुख में मग्न हैं, तब हमें ही स्त्री से बैराग्य का उपदेश क्यों दिया जाता है आदि। आत्माके प्रसंग में शान्त शब्द का प्रयोग विकारों के उाशम या अभाव के लिए ही हुआ है, इस पर फिर कभी सोद्धरण लिखेंगे।

‘संत’—

इस शब्द के सम्बन्ध में अब हम नया क्या लिखें? वे ही आचार्य वाक्य हमें प्रमाण हैं जिन्हें हम लिख चुके हैं।

षट्खंडागम के सातवें सूत्र में ‘संतपरुषणा’ पद का प्रयोग मिलता है। इसी पुस्तक के इसी पृष्ठ १५५ पर एक टिप्पण भी मिलता है जो तत्त्वार्थराज बा० के मूल का कुछ अंश है—‘सत्त्वं ह्यव्यभिचारि’ इत्यादि। ऐसे ही षट्खंडागम के आठवें सूत्र में ‘सत्’ पद है। यथा—सत्परुषण दाएँ’। इसके विवरण में ‘सत् सत्त्वमित्यर्थः’ भी मिलता है। इसी पुस्तक में पृ० १५८ पर कहीं से उद्धृत एक गाथा भी मिलती है। यथा—‘अत्युत्त पुणसत् अत्युत्तस्स य तहेव परिमाण।’ इस गाथा के अर्थ में लिखा है कि—अस्तित्व का प्रतिपादन करने वाली प्ररूपणा को सत्प्ररूपणा कहते हैं। यहाँ भी ‘सत्’ शब्द सत् अर्थ में है।

उक्त पूरे प्रसंग से दो तथ्य सामने आते हैं। पहिला यह कि सभी जगह ‘सत्’ का प्रयोग ‘संस्कृत के ‘सत्’ शब्द के लिए हुआ है। यह बात भी किसी से छिपी नहीं कि ‘संतपरुषणा’ में उसी ‘सत्’ का वर्णन है जिसे तत्त्वार्थ सूत्रकार ने ‘सत्संख्याक्षेत्र’ सूत्र में दर्शाया है। यानी जिसे संस्कृत में ‘सत्’ कहा वही प्राकृत में ‘सत्’ कहा गया है। अतः सत् का सत् स्वभावः फलित है। दूसरा तथ्य यह कि ‘सत्’ शब्द सत्त्व के भाव में है, अतः सत्, संत, सत्त्व, सत्त ये सभी एकार्थवाची सिद्ध होते हैं। पुस्तक के अन्त में जो ‘संतसुत-विवरण सम्मत्तं’ आया है, उसमें भी ‘संत’ का प्रयोग सत् के लिए ही है।

।संत’ शब्द के प्रयोग ‘सत्’ अर्थ में अन्यत्र भी उपलब्ध हैं। यथा—‘सत्कम्ममहाहियारे—जय. ध. अ. ५.१२ प्रस्तावना ध. प्र. पु. पृ. ६६।

—‘एसो संत-कम्मपाहुड उवएसो’—धव० पु० पृ० २१७।

—‘आयरिय कहियानं संतकम्मकसायपाहुडाणं । पृ० २२१

सत्त—महाधवलप्रति के अन्तर्गत ग्रन्थ रचना के आदि में ‘सन्तकम्मपंजिका’ है। इसके अवतरण में ‘सत्त’ शब्द भी मेरे देखने में आया है—‘पुणोत्तिहिती सेसट्ठार-साणियोगद्वाराणि सत्तकम्मे सव्वाणि परुविदाणि।’—यह ‘संतकम्मपंजिका’ ताडपत्रीय महाधवल की प्रति के २७वें पृष्ठ पर पूर्ण हुई है और षट्खंडागम पुस्तक ३ में इसका चित्र भी दिया गया है। (देखें—प्रस्तावना, षट्खंडागम पुस्तक ३ पृ० १ व ७) अतः इस उद्धरण से इस बात में तनिक भी सन्देह नहीं रहता कि प्रसंग में ‘संत’ या सत्त शब्द सत्त्व—आत्मा के अर्थ में ही है। और मज्झं का अर्थ मध्य है जो ‘आत्मा को आत्मा के मध्य अर्थ ध्वनित करता हुआ आत्मा से आत्मा का एकत्वपन झलका कर आत्मा को अन्य पदार्थों से ‘असयुक्त’ सिद्ध करता है :

एक बात और। आचार्य कुन्दकुन्द ने नियमसार की गाथा २६ में ‘अत्तमज्झं’ पद का और समयसार की गाथा १५ में ‘संतमज्झं’ या ‘सत्तमज्झं’ का प्रयोग किया है और नियमसार की उक्त गाथा की संस्कृत छाया में अत्तमज्झं का अर्थ ‘आत्म-मध्य’ किया है। इसी प्रकार ‘सत्तमज्झं’ या ‘सत्तमज्झं’ की संस्कृत छाया भी सत्त्वमध्य या सत्त्वमध्य है यह सिद्ध होता है।

विशेषावश्यक-भाष्यकार ‘सत्’ का अर्थ ‘सत्’ कर रहे हैं इन्हीं भी देखिए—

संतं ति विज्जमाणं एयस्स पयस्स जा परुषणया ।

गइयाइएसु वत्थुसु संतं पयपरुषणा सा उ ॥

जीवस्स च जं संतं जम्हा तं तेहि तेसु वा पयति ।

तो संतस्स पयाइं ताइं तेसु परुषणया ॥’

‘संतस्य’—सतः पदानि तानि सत्पदानि तेषु प्ररूपणता सत्पदप्ररूपणतेति ।’

विशेषावश्यक भाष्य—४०७-४०८

स्मरण रहे यदि जैन मान्य शुद्धात्मस्वरूप को अन्य-मत-मान्य ईश्वर के रूपों से मेल बिठाने का प्रयत्न किया गया तो जैन ही लुप्त हो जायगा।

□ □

श्रावक की ग्यारहवीं प्रतिमा

□ पद्मचन्द्र शास्त्री, दिल्ली

जैनाचार्यों ने श्रावकाचार का वर्णन करते हुए श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं का वर्णन किया है। ग्यारहवीं प्रतिमा का नाम उद्दिष्टत्यागप्रतिमा है। दशवीं प्रतिमा तक उद्दिष्ट त्याग का सर्वथा विधान नहीं है और उससे आगे श्रावक और मुनि दोनों के उद्दिष्ट का सर्वथा त्याग है।

प्रारम्भिक आचार्यों में जैसे कुन्दकुन्द, उमास्वामी, समन्तभद्र, सोमदेव, जिनसेन, अमितगति और पद्मनन्दि आदि ने इस प्रतिमा का सामान्य निर्देश किया है—इसका अभेदवर्णन किया है। ग्यारहवीं शताब्दी के पूर्व की रचना 'प्रायश्चित्त चूलिका' में भी एक क्षुल्लकपद का विवेचन मिलता है। बारहवीं शताब्दी में वसुनन्दी आचार्य ने इस प्रतिमा को प्रथमोत्कृष्ट और द्वितीयोत्कृष्ट श्रावक इन दो भेदों में विभक्त कर दिया। यह कैसे और क्यों हुआ यह विचारणीय है। विचारार्थ पूर्ववर्ती कुछ आचार्यों के मतव्यो को उद्धृत किया जा रहा है—

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने चारित्र पाहुड में मात्र प्रतिमाओं के नाम दिए हैं—

दसण-वय-सामाइय पोसह सचित्त रायभत्ते य।

बभारभपरिगह अणुमण उद्दिष्ट देमविरदो य ॥२२॥'

—दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषधोपवास, सचित्तत्याग रात्रिभुक्तित्याग, ब्रह्मचर्य, आरम्भत्याग, परिग्रह त्याग, अनुमति त्याग और उद्दिष्ट त्याग इस प्रकार ये देशविरत श्रावक के ग्यारह भेद हैं।

आचार्य उमा स्वामी ने प्रतिमाओं का वर्णन नहीं किया और आचार्य समन्तभद्र ने इस प्रतिमा का वर्णन खण्डचेल धराः' मात्र के रूप में किया है। उन्होंने क्षुल्लक व ऐलक जैसे कोई भेद नहीं किए और ना ही एक या दो वस्त्र का उल्लेख किया। आ० सोमदेव ने भी ग्यारह प्रतिमाओं के नाम मात्र का संकेत दिया है—

'मूलव्रत व्रतान्यच्चा पर्वकर्मकृषिक्रियाः।

दिवानवविध ब्रह्म सचित्तस्य विवर्जनम् ॥'

परिग्रह परित्यागो भुक्तिमात्रानुमान्यता।

तद्वानौ च वदन्त्येतान्येकादश यथाक्रमम् ॥'

—कल्प ४४।८५३-८५४।

इसके बाद उन्होंने ११ प्रतिमाओं के विषय में यह भी स्पष्ट किया है कि पहिली छः प्रतिमाओं के धारक गृहस्थ, सातवीं से नवमी प्रतिमा तक के ब्रह्मचारी और अन्त की दो प्रतिमाओं वाले भिक्षु कहलाते हैं। सबसे ऊपर साधु होते हैं—

'षड्व्रतगृहिणो ज्ञेयास्त्रयः स्युर्ब्रह्मचारिणः।

भिक्षुको द्वौ तु निर्दिष्टौ ततः स्यात्सर्वतो यतिः ॥८५६॥'

आदिपुराण में आचार्य जिनसेन ने ग्यारहवीं प्रतिमा के सन्दर्भ में निम्न मन्तव्य प्रकट किया —

'त्यक्तागारस्य मद्दृष्टे, प्रशान्तस्य गृहेक्षितः।

प्राग्दीक्षोपयिकात्कालादेकशाटकधारिणः ॥३८॥१५८॥

त्यक्तागारस्य तस्यातस्तपोवनमुपेयुषः।

एकशाटकधारित्व प्राग्ब्रह्मदीक्षाद्विमप्यते ॥३९॥७७॥

तेषां स्यादुचितं लिङ्गं स्वयोःपूत्रतधारिणाम्।

एकशाटक धारित्व सन्यासमरणावधिः ॥४०॥१६९॥

उक्त सभी श्लोकों में एकशाटकधारित्व रूप को पुष्ट किया गया है जैसे कि पूर्वाचार्यों को भी इष्ट था उन्होंने भी दो वस्त्रधारी और एकवस्त्रधारी जैसे कोई दो भेद नहीं किए। आचार्य अमितगति और पद्मनन्दि ने भी पूर्व-मतों की पुष्टि की और ग्यारहवीं प्रतिमा के दो भेद नहीं किए। इसके बाद ग्यारहवीं शताब्दी से पूर्व की रचना 'प्रायश्चित्त चूलिका' के देखने से भी स्पष्ट प्रतिभासित होता है कि उस शती तक यथावत् ग्यारहवीं प्रतिमा एक रूप में चलती रही। तथाहि—

‘क्षुल्लकेष्वेकं वस्त्रं नान्यन्नस्थितिभोजनं ।
आतापनादियोगोऽपि तेषां शश्वन्निषिध्यते ॥१५५३॥
क्षौरं कुर्याच्चलोचं वा पाणौ भुक्तेऽथ भाजने ।
कौपीनं मात्र तत्रोऽसौ क्षुल्लकं परिकीर्तितः ॥१५६॥’

इन श्लोकों में क्षुल्लक के लिए एक वस्त्र का विधान दो बार कहा गया है और जोर देकर ‘अन्यत् न’ के द्वारा द्वितीय वस्त्र का निषेध किया गया है (जब कि बाद के काल में क्षुल्लक के दो वस्त्रों की परिपाटी रही है ? यह क्यों और कैसे ? यह स्पष्ट नहीं हो पा रहा ।) दूसरे श्लोक में तो ‘कौपीनं मात्र तत्रोऽसौ’ में ‘मात्र’ पद देकर द्वितीय वस्त्र का सर्वथा ही निषेध कर दिया । इसका भाव ऐसा हुआ कि ग्यारहवीं शताब्दी से पूर्व तक ग्यारहवीं प्रतिमा क्षुल्लक के रूप में ही रही और क्षुल्लक एक वस्त्रधारी ही कहे जाते रहे ।

बारहवीं शताब्दी में आचार्य वसुनन्दी ने सर्वप्रथम दो भेद किए—और उन्हें प्रथमोत्कृष्ट और द्वितीयोत्कृष्ट नाम दिए । तथाहि—

‘एयारसंमि ठाणं उक्किट्ठो सावओ हवे दुविहो ।
वत्थेक्कधरो पढमो कोवीणं परिग्रहो विदिओ ॥३०१॥’

—ग्यारहवें स्थान अर्थात् ग्यारहवीं प्रतिमा को प्राप्त उत्कृष्ट श्रावक दो प्रकार के होते हैं—प्रथमोत्कृष्ट और द्वितीयोत्कृष्ट । इनमें प्रथमोत्कृष्ट श्रावक एक वस्त्रधारी और द्वितीयोत्कृष्ट श्रावक कौपीन परिग्रहधारी होता है ।

उक्त गाथा से किसी के भी दो वस्त्र होने की स्पष्ट पुष्टि नहीं होती, अपितु ऐसा प्रतीत होता है कि प्रथमोत्कृष्ट के लिए एक वस्त्र (बड़ा—जो शरीर के कुछ भाग पर लपेटा जा सकता हो ?) का विधान हो और द्वितीयोत्कृष्ट को उसमें संकोच करके कौपीन-मात्र जैसा । वस्त्र दोनों पर ही एक हो ? यहां तक भी ऐलक शब्द का व्यवहार नहीं हुआ—भेद भी हुए तो प्रथमोत्कृष्ट और द्वितीयोत्कृष्ट श्रावक के नाम से ।

आचार्य वसुनन्दी ने दोनों की विशेष विधि का वर्णन करते हुए निम्न गाथा दिए हैं—

धम्मिल्लाणं चवणंकरेईकत्तरि छुरेण या पढमो ।
ठाणाइसु पडिलेहइ उवयरणेण पयडप्पा ॥

भुंजेइ पाणिपत्तम्मि भायणे वा सइं समुवइट्ठो ।
उववासं पुणं गियमा चउव्विहं कुणइ पव्वेसु ॥
पक्खालिऊणं पत्तं पविसइ चरियाय पंगणं ठिच्चा ।
भणिऊणं धम्मलाह जायइ भिक्ख सयचेव ॥
सिग्घलाहालाहे अदीणं वयणो गियतित्तुणं तओ ।
अण्णम्मि गहेवच्चइ दरिसइ मोणेण कायं वा ॥
जइ अद्धवहे कोइवि भणइ पत्थेइ भोयणं कुणह ।
मोत्तूणं गिययभिक्ख तस्सण्णं भुंजए सेसं ॥

अहं ण भणइ तो मिक्खं भमेज्ज गियपोट्टपूरणमाणा ।
पच्छा एयम्मि गिहे जाएज्ज पासुग सलिल ।
ज किं पि पडियभिक्ख भुंजिज्जो सोहिऊणं जत्तेण ।
पक्खालिऊणं पत्तं गच्छिज्जा गुरुसयासम्मि ।
जइ एवं ण रएज्जो काउंसिगिहम्मि चरियाए ।
पविसत्ति एयभिक्खं पवित्तिणियमणं ता कुज्जा ॥
गंतूणगुरुसमीव पच्चक्खणां चउव्विहं विहिणा ।
गहिऊणं तओ सव्व आलोचेज्जा पवत्तेण ॥’

—वसु० ३०२—३१० ।

—प्रथमोत्कृष्ट श्रावक कैची या छुरे से हजामत करता है, प्रयत्नशील होकर उपकरण से स्थान का सशोधन करता है । हाथों अथवा पात्र में एक बार बैठकर भोजन करता है और पूर्व-दिनों में नियम से उपवास करता है । पात्र को प्रक्षालन करके चर्चा के लिए श्रावक के घर में प्रवेश करता है और आगमन में ठहरकर ‘धर्मलाभ’ कहकर स्वयं ही भिक्षा याचन करता है । भिक्षा न मिलने पर अदीनमुख वहाँ से शीघ्र निकलकर दूसरे घर जाता है और मीन से अपने शरीर को दिखलाता है । यदि अर्घपथ में कोई श्रावक मिले और प्रार्थना करे कि भोजन कर लीजिए तो पूर्व घर से प्राप्त भिक्षा को खाकर, जितना पेट खाली रहे, उतना उस श्रावक के अन्न को खावे । यदि कोई भोजन के लिए न कहे तो पेट के प्रमाण भिक्षा न मिलने तक भ्रमण करे, भिक्षा प्राप्त होने पर किसी एक घर में जाकर प्रासुक जल मागे । जो भिक्षा प्राप्त हुई हो उसे शोधकर भोजन करे और सयत्न पात्र-प्रक्षालन कर गृह के समीप जावे । यदि किसी को उक्त विधि से गोचरी न रहे तो वह मुनियों के गोचरी कर जाने के बाद चर्चा के लिए

प्रवेश करे अर्थात् एक भिक्षा के नियम वाला उत्कृष्ट श्रावक चर्या के लिए किसी श्रावक के घर जावे। यदि इस प्रकार भिक्षा न मिले तो उसे फिर किसी के घर न जाकर उपवास का नियम कर लेना चाहिए। पश्चात् गुरु के समीप जाकर विधि पूर्वक चतुर्विध आहार का त्याग कर प्रत्याख्यान कर पुनः प्रयत्न के साथ सर्व दोषों की आलोचना करनी चाहिए।

उक्त कथन से कई बातें समझ आती हैं—

१. छुरे से हजामत करना।

२. उपकरण से स्थान संशोधन।

३. पात्र प्रक्षालन करके चर्या के लिए श्रावक के घर प्रवेश करना।

४. भिक्षा स्वयं माँगना।

५. कई घरों से (भी) माँगना।

६. बैठकर भोजन करना आदि। इस प्रतिमाधारी से द्वितीयोत्कृष्ट प्रतिमाधारी में जो भिन्नता बनलाई है वह इस प्रकार है—

‘एमेव होइ विदिओ णवरि विसेसो कुणिज्ज णियमेण।

लोच धरिज्ज पिच्छं भुजिज्जो पाणिपत्तमि ॥३११॥’

—द्वितीयोत्कृष्ट प्रतिमाधारी भी इसी प्रकार होता है परन्तु उसमें इतनी विशेषता है कि वह नियम से लौंच करता है, पीछी धारण करता है और पाणिपात्र में आहार करता है।

उक्त स्थिति में सर्वप्रथम विचार यह उठता है कि जब पूर्वाचार्यों ने सभी प्रतिमाओं का वर्णन अभेदरूप में एक एक प्रकार का ही किया है और ग्यारहवीं प्रतिमा के नामान्तर धुल्लक और त्यक्तागार घोषित किए हैं तब ग्यारहवीं प्रतिमा के पृथक्-२ दो भेद करने की आवश्यकता क्यों पड़ी और ऐलक शब्द कहा से आया?

विचारने पर प्रतीत होता है कि ‘ऐलक’ शब्द ‘अचेलक’ शब्द का प्राकृत व्याकरण प्रसिद्ध लघु रूप है। प्राकृत व्याकरण के सूत्र ‘क ग च ज त द प यवां प्रायो लुक्’ के अनुसार दो स्वरों के मध्यवस्थित व्यंजन का विकल्प से अदर्शन (लोप) हो जाता है। फलतः अ+च्+ऐलक में अ+और ए के मध्य का ‘च्’ लुप्त हो गया तथा अ+ए को वृद्धि रूप में ऐ होने पर ऐलक रूप बन गया।

यह ‘अचेलक’ शब्द ऐसा है जिसे दिगम्बर व श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदाय मानते हैं और इसका प्रयोग मुनि के लिए करते हैं। भेद इतना है कि दिगम्बर ‘अ’ उपसर्ग का अर्थ सर्वथा निषेध रूप में और श्वेताम्बर सर्वथा निषेध और अल्प स्वीकृति दोनों अर्थों में करते हैं। इसीलिए उनमें जहाँ चेल-वस्त्र का सर्वथा निषेध है वहाँ मुनि ‘जिन-कल्पी’ है और जहाँ अल्प चेल-स्वीकृति है वह मुनि ‘स्थविरकल्पी’ है—है दोनों ही मुनि। पर, यह बात दिगम्बरों को मान्य नहीं, वे सर्वथा वस्त्र त्याग में ही मुनि पद स्वीकारते हैं।

मालूम होता है जब श्वेताम्बरों द्वारा किञ्चित् वस्त्र वाले को भी ‘अचेलक’ घोषित किया गया तो दिगम्बरों ने किञ्चित् वस्त्र वाले के लिए एक नया सम्बोधन चुन लिया और वह सम्बोधन ‘ऐलक’ था। इससे ईषत् अर्थ में ‘अ’ का प्रयोग भी मान्य हो गया और मुनि रूप के गृहण का परिहार भी। इससे यह भी ध्वनित हुआ कि ईषत् वस्त्र वाला श्रावक ही है, मुनि नहीं। स्मरण रहे कि ‘ऐलाचार्य’ शब्द भी प्राकृत व्याकरण के उक्त ‘सूत्र’ से ही निष्पन्न है—अचेलकाचार्य, ऐलकाचार्य, ऐलाचार्य ये सब एक ही शब्द के विभिन्न रूप हैं और प्राकृत के ‘क-ग-च-ज-तद-यवां प्रायोलुक्’ सूत्र से बंधे हैं, तीनों ही रूप विकल्प से लोप के हैं।

पूर्वाचार्यों के व्याख्यान से ऐसा भी ध्वनित होता है कि अन्य प्रतिमाओं की भांति ग्यारहवीं प्रतिमा भी एक अभेद रूप है, जो अपेक्षा भेदों से नाम भेदों में विभक्त कर ली गई है। इसे मुनि पद के सामीप्य और मुनिपद से छोटा-नीचा होने की अपेक्षा धुल्लक, घर छोड़ने की अपेक्षा त्यक्तागार और ईषद् वस्त्र होने से ऐलक कहा गया है। वस्तुतः ‘ऐलक’ शब्द अचेलक (सर्वथा वस्त्र त्यागी) दि० मुनि का ही नामान्तर है जिसे ‘अ’ के ईषत् अर्थ में श्रावक की ग्यारहवीं प्रतिमा में स्थान देकर प्रतिमा को दो भागों में विभक्त कर दिया गया है।

जहाँ तक श्वेताम्बर परंपरा के साधुओं का प्रश्न है, वे साधारणतः श्रावक की ग्यारहवीं प्रतिमा के रूपान्तर प्रतीत होते हैं, अपितु उस रूप में भी स्पष्ट शिथिलता ही परिलक्षित होती है जैसे—ढेर से वस्त्र, ढेर से पात्र, कई

बार आहार आदि। हां, पात्र प्रक्षालन करके श्रावक के घर प्रवेश, भिक्षायाचना, कई घरों से याचना, बैठकर भोजन आदि नियम क्षुल्लक के नियमों से मेल खाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि श्वे० मुनि का यह रूपान्तर बारह-वर्षीय अकाल के प्रभाव का स्रोतक है।

जहां तक दिगम्बर परंपरा में क्षुल्लक के नियम बतलाए गए हैं उनमें भी कुछ प्रश्न खड़े होते हैं। जैसे—छुरे से हजामत। क्या क्षुल्लक छुरा रख सकते हैं? यदि हां तो परिग्रह बड़वारी के साथ हिंसोपकरण रखने का दोष भी आता है और यदि श्रावक से मांगते हैं तो नियमित श्रावक उन्हें क्यों और कैसे देता है? जबकि आ० समन्तभद्र

हिंसोपकरण दान का सर्वथा निषेध करते हैं—‘परशुकृपाण खनित्र’ आदि। इसी प्रकार पात्र रखना, उसे धोना आदि आडम्बर क्षुल्लक को नहीं कल्पते। ऐसा मालूम होता है कि किसी समय स्पृश्य-अस्पृश्य का प्रश्न बड़ी प्रबलता से सामने उभरकर आया हो और पात्र आदि के रखने की छूट दी गई हो। इसी प्रकार द्वितीयोत्कृष्ट श्रावक में जो विशेषताएं बतलाई गई हैं वे भी इसलिए विचारणीय हैं कि यदि वे विशेषताएं प्रथमोत्कृष्ट में नियमित नहीं हैं तो वह भूमि परिमार्जन किससे करता है यतः एक वस्त्र के सिवाय अन्य वस्त्र का कहीं भी विधान नहीं है। ऐसे में एक वस्त्र-धारी और दो वस्त्रधारी आदि भेद कैसे घटित हो गए? (क्रमशः)

(पृष्ठ २१ का शेषांश)

इस गर्दभ के शमन हेतु—चन्दन की धूप का सेवन करें।

५—स्त्री और पुरुष के गुप्तांगों में पैदा होने वाले गर्दभ को कुम्भकर्ण ज्वालागर्दभ का नाम दिया गया है।

इसके लिए लिखा है कि लोंग तगर और कूट को पीस कर मिलावें तथा लेप करें। इससे पीड़ा शान्त हो जाती है।

६—अण्डकोष में पैदा होने वाले ज्वाला गर्दभ को विभीषण ज्वाला गर्दभ कहते हैं।

७—हृदय में होने वाले ज्वाला गर्दभ को चन्द्रताल नाम की संज्ञा दी गई है।

इसकी चिकित्सा के लिये कोले के बीजों को बकरी के दूध में पीस कर लेप करे एवं सेवन करे।

८—मुख में होने वाले ज्वाला गर्दभ को दुर्दर नभ की संज्ञा दी गई है।

इसकी चिकित्सा निम्न प्रकार है :—

विजोर के बीज, प्रियंगु, हल्दी, मंजीठ, कुंकुम, खश और केशर को सफेद सरसों के जल में पीस कर लेप करें।

इस प्रकार यह लघु रूप में आपके सामने वर्णन किया है इसका विस्तृत विवरण प्रत्येक रोग का पृथक-पृथक किया जा सकता।

□ □

नोट—उक्त ग्रन्थ जैन धर्मानुयायी किसी धार्मिक विद्वान द्वारा रचित हो ऐसा हम नहीं मानते। ग्रन्थ में अभक्ष्य और असेव्य के सेवन का विधान जैसे प्रसंग जैन परम्परा के सर्वथा विरुद्ध है। ऐसे प्रसंग हमने लेख से निकाल दिए हैं। लोग कैंसर से परिचित हों, इसी दृष्टि से लेख छपाया जा रहा है, अन्यथा न लें। —संपादक

अभिनन्दनों और अभिनन्दन-ग्रन्थों के संग्रह की होड़ समाज और धर्म को कहां ले जाएगी? यह सोचने का विषय है। सोचना ये भी है कि क्या सभी पात्र धार्मिक-आचार-विचार के आलोक में उस योग्य होते हैं? जरा विवेक से काम लें और इन दिखावों को छोड़, आचार-विचार को ऊंचा उठाएं तभी जैन धर्म स्थिर और पुष्ट रह सकेगा।

जरा सोचिए

१. संस्कृति क्या है ?

संस्कृति शब्द बड़े गहरे में है और इसका सम्बन्ध वस्तु की स्व-आत्मा से है। जिसे हम 'संस्कृत' कहते हैं वह संस्कार किया हुआ होता है और संस्कार किए हुए से संस्कृति पनपती है और वह स्थायी होती है। क्योंकि वह स्व-गुणों के विकास का रूप होती है, निखरे गुणों का पुंज होती है। इससे उल्टी असंस्कृति—पर से प्रभावित, बहु-रूपियापन से लदी होती है और बहुरूपियापन—उधार लिया रूप—नाश होने वाला रूप होता है। उदाहरणार्थ, स्वर्ण का रूप निखरना उसका संस्कृत होना है और निखरे संस्कृत रूप से प्रभावित होने वाली परम्परा स्वर्ण-संस्कृति है। ऐसे ही अन्यत्र समझना चाहिए।

आज जो विभिन्न मत-मतान्तरों, भाषाओं, जाति-पंथों और प्रान्तवादों आदि से संस्कृति का नाता जोड़ा जा रहा है वह अटपटा-सा लगता है। जैसे—हिन्दू-संस्कृति, मुस्लिम-संस्कृति इत्यादि। क्योंकि हिन्दू, मुस्लिम, सिख, बौद्ध, पारसी, ईसाई आदि किसी मूल के उभरे संस्कार नहीं—ऊपर के वेष हैं, बाने हैं, जो समय-समय पर मत-भेदों के प्रादुर्भाव में लादे जाते रहे हैं और बदलते रहे हैं, बदलते रहेंगे और कभी नष्ट भी हो जायेंगे। न जाने कब से अब तक कितने मत-मतान्तर, प्रान्त, राष्ट्र आदि पैदा हुए और न जाने कितने अतीत में समा गए। पर, संस्कृति न कभी निर्मित हुई और न कभी नाश होगी। अतः यदि हम ऐसा कहें कि मानव-संस्कृति, आत्मा-संस्कृति अहिंसा-संस्कृति आदि तो ठीक बैठ जाता है क्योंकि ये सदा से हैं और सदा रहेंगे। इनके अपने रूप में कभी अपनों से भेद-भाव न होगा। जबकि हिन्दू का हिन्दू से, मुसलमान का मुसलमान से भेद-भाव हो जायेगा—एक पंथ-सम्प्रदाय के होने पर भी उसके आधार से पनपने वाली संस्कृति, उसके अनुयाइयों से दो भेदों में बँट जायेंगी—एक हिन्दू की संस्कृति कुछ होगी तो दूसरे की कुछ। मानव या

आत्मा में ऐसा नहीं होता—मानवता एक रूप अखण्ड है और आत्मा भी एक रूप अखण्ड है। इनके लक्षणों-गुणों में फर्क नहीं होगा ! जो फर्क दिखेगा भी वह फरक मान-वता या आत्मत्व के लिहाज से न होकर, पर-प्रभावित आधारों से स्व की असंस्कृत अवस्था में ही होगा अतः वह उसके लिए असंस्कृति ही होगी।

मानव और अमानव में स्वभाव, विभाव—स्व-परिणतिशीलता और पर-परिणतिशीलता का भेद है। जब कोई मानव स्व-परिणति-स्वभाव में प्रकट होगा तब उसकी संस्कृति मानव-संस्कृति होगी। और जब वह हिन्दू-मुसलमान आदि पर-प्रभावित रूपों में प्रकट होगा तब वह अमानव-संस्कृति से ग्रस्त होगा। क्योंकि वह उसका 'स्व' का अमस्कृत—विना संस्कार किया हुआ और पर-प्रेरित रूप होगा। इसी प्रकार जब आत्मा स्वभाव की ओर जाता है तब उसका संस्कृत रूप होता है और जब स्वभाव में न जाकर पर-प्रेरित रूप में होता है तब उसका रूप असंस्कृत होता है। फलतः मानव के असली रूप से पनपने वाली संस्कृति मानव संस्कृति होती है और आत्मा के असली रूप से पनपने वाली संस्कृति आत्म-संस्कृति होती है, आदि।

उक्त तथ्य के प्रकाश में आज हमें अपने श्रेणी निश्चित करनी होगी कि हम किस पंक्ति में बैठ रहे हैं ? पहले बताई गई संस्कृति की पंक्ति में या दूसरी असंस्कृत पंक्ति में ? हमसे रत्नत्रय हैं या मिथ्या-त्वादि विकृत भाव ? हम परमेष्ठियों वत् अपने गुणों में विकास की ओर चल रहे हैं या अविरति प्रमाद कषायादि की ओर ? गुणस्थानों की अपेक्षा हम कहाँ हैं और हमारी गति अनेकान्त अथवा एकान्त किस विचारधारा के आश्रय में वर्तमान है ? आदि।

पुरुष के विषय में जब आचार्य कहते हैं—

'पुरुषगुणभोगेसेदे, करेदि नोपम्मि पुरु गुणं कम्म।

पुरु उत्तमो य जम्हा तम्हा सो वणिग्गो पुरिसो ॥

—जो उत्तम गुण और भोगों का सेवन और लोक में उत्तम गुण-कर्मों को करता है वह पुरुष और पुरुषार्थी है। तब हम लोक में उत्तम गुणों में न रह, हिंसा करते हुए, झूठ और चोरी प्रेरित जैसी आजीविका के सहारे जीते हुए बाह्याडम्बरों—जाति, सम्प्रदाय, वेश-भूषा, भाषा, प्रान्त आदि के पक्षपात जैसे यत्रों से पुरुषत्व और पुरुषार्थ का माप कर रहे हैं यानी असली पुरुषत्व और पुरुषार्थ के रूप को विकृत—असंस्कृत बनाने में लगे हैं।

आत्मा के विषय में जब आचार्य कहते हैं—‘भेद-विज्ञानतो सिद्धा सिद्धा ये खलु केचन’—सिद्ध होने के लिए जीव और पुद्गल के भेद का ज्ञान होना जरूरी है। तब लोग उस भेद-विज्ञान की दिशा, जाति-सम्प्रदाय, भेष-भूषा भाषा और प्रान्तवाद आदि की ओर मोड़ रहे हैं, आत्मा को पर-के रंग में रंग रहे हैं, परिग्रह की पकड़ को दृढ़ करने में लगे हैं और इस तरह वे संस्कृति और आचार्यों की अवहेलना ही कर रहे हैं।

यदि हम संस्कृति को भिन्न रूपों में देखना चाहें तो हम कहेंगे—मन-वचन-काय द्वारा किसी को न सनाना, याथातथ्य व्यवहार करना, पराई वस्तु का हरण न करना, ब्रह्मचर्य पालन करना और इच्छा व सग्रहों के त्याग की ओर लगना इन पाँच नियमों पर सभी ने जोर दिया है—किसी ने कम और किसी ने ज्यादा। ये सभी दर्जे मानवता के निष्कार के हैं। संसारी आत्मा को पर-मात्मा बनने में सहायक हैं, तद्रूप हैं। अतः ये मानव-संस्कृति या आत्म-संस्कृति कहलाएंगे और इन्हें हिन्दू-मुस्लिम जैसे फिरकों के पोषक न होने से, हिन्दू या मुस्लिम संस्कृति नहीं कहा जाएगा। यतः—इन पाँचों के होने न होने से इन फिरकों के रूपों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता—पाँचों हों तब भी हिन्दू या मुसलमान हुआ जा सकता है और न हो तब भी हुआ जा सकता है। ऐसे ही—

सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र्य संस्कृति हैं। सिद्ध दशा साक्षात् संस्कृति है और अरहंत, आचार्य, उपाध्याय, साधु के रूप संस्कृति के सूचक हैं। पहिला गुणस्थान असंस्कृति सूचक है, दूसरा संस्कृति से गिरने की सूचना देता है, तीसरा दुलमुल और आगे के गुणस्थान

संस्कृति के उजागर तर-तम रूप हैं जो उत्तरोत्तर निर्मलता लिए हुए हैं। अनेकान्तवाद, स्याद्वाद संस्कृति का दर्शन कराने वाले हैं—आदि !

इसके विपरीत आधुनिक युग का मानव जिन्हें संस्कृति पोषण के लिए प्रयुक्त कर रहा है और संस्कृति का नाम देने में लगा है वे मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग आदि विभाव मानव और आत्मा के लिए असंस्कृतियाँ हैं।

उक्त सन्दर्भ में संस्कृति क्या है ? जरा सोचिए !

२. जिन, जैन और जैनी

वस्तु की स्वभाव मर्यादा के अनुसार वस्तु के गुण-धर्मों को उससे पृथक् नहीं किया जा सकता। इस सिद्धांत के अनुसार जिन, जैन और जैनी ये तीनों शब्द तीन होते हुए भी एक ही व्यक्ति को इंगित करने वाले हैं। अतः धर्म-धर्मों में अभेद है और इनमें परस्पर गुण-गुणीपना है। कर्मों पर विजय पाने वाले जिन, ‘जिन’ का धर्म जैन और जैन का अनुगमनकर्ता जैनी है। इसके विपरीत जो ‘जिन’ नहीं, वह ‘जैन’ नहीं, और जो ‘जैन’ नहीं, वह ‘जैनी’ भी नहीं। फलतः—उक्त परिप्रेक्ष्य में वर्तमान में जैनी का सर्वथा अभाव है। यदि जैनी बनना हो तो जिन बनना चाहिए।

जिन या जैन बनने के लिए तीर्थङ्कर ऋषभदेव से लेकर महावीर पर्यन्त और मुक्ति पाने से पूर्व सभी अरहन्तों ने जो किया, वही हमें करना पड़ेगा। हमें गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषह जय और चारित्र के मार्ग से जाना पड़ेगा। अणुवर्तों और महावर्तों की सीढ़ियों पर चढ़ना पड़ेगा। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य को धारण करना पड़ेगा—इनकी पूर्णता में ही हम जिन, जैन और जैनी बन सकेंगे। जबकि आज हम इन सभी से दूर हैं और लगातार दूर जाने के प्रयत्नों में लगे हुए हैं।

दूर होने का उक्त सन्दर्भ, किसी व्यक्ति विशेष के सम्बन्ध में हो ऐसा नहीं है, यह तो आज सभी पर लागू होता है—चाहे वह किसी भी श्रेणी का क्यों न हो ? आज श्रावक श्रावक में, श्रावक-साधु में, साधु-साधु में, धनिक-धनिक, धनिक-निर्धन, और निर्धन-निर्धन में परस्पर विसं-

गतियां चल रही हैं—एक-दूसरे की आलोचना में तत्पर हैं। एक-दूसरे को हीन समझ रहा है, हर अन्य हर अन्य की कमजोरियां बताने में लगा है, अपनी ओर नहीं देखता। यदि व्यक्ति इस प्रक्रिया में मोड़ ले और दूसरों की अपेक्षा पहिले अपने को देखे तो हर व्यक्ति जिन, जैन और जैनी हो सकता है।

जैनी बनने के प्रयत्नों में पहिले श्रावक बनना जरूरी है। जो श्रद्धा, विवेक और क्रियाशील होता है, वह श्रावक कहलाता है। हम देखें कि हम तत्त्वों एवं देव, शास्त्र, गुरुओं में कितनी श्रद्धा रखते हैं? वर्तमान में देव तो हैं नहीं, शास्त्रों के रहस्य को हम जानें नहीं और गुरुओं की निन्दा करते हैं तो हम कैसे श्रावक हो सकते हैं? श्रावक होने से पहले हमें अपटमूल गुणों को समझना चाहिए और उन्हें धारण करना चाहिए। हम उन्हें धारण न करें और अपने को श्रावक घोषित करें यह सर्वथा विसंगति ही है—जैसा कि आज चल रहा है। आज कुछ लोग तो कुदेवों में देव, कु-शास्त्रों में शास्त्रों की कल्पना किए बैठे हैं, और कुछ को तो गुरु फूटी आँखों भी नहीं सुहाते। गोया, छिद्रा न्वेषण एक व्यापार बन बैठा है। उपगृहण और स्थिति-करण की बात ही नहीं होती—सुधार के नाम पर निन्दा में इश्टिहार तक निकाले जाते हैं। यदि ऐसे लोग अपने को देखें कि वे कितने गहरे में हैं और श्रावक के योग्य अपनी क्रियाओं के प्रति कितने सावधान हैं तो उन्हें सहज ही पता चल जाय कि वे स्वयं भी भ्रष्ट हैं। भ्रष्ट लोग भ्रष्ट को भ्रष्टता से कैसे बचा सकेंगे और कैसे जिन, जैन या जैनी बन सकेंगे? यह विचारणीय है? जरा सोचिए।

३. विद्वानों की महत्ता

‘जमो उवज्जायाण’ ये अश्व णमोकार मन्त्र के मूल पाठ का है, जिसे प्रत्येक उपामक हृदय में सँजोकर रखना और धर्म जानने के लिए उपाध्यायों की शरण जाना रहा है। तीर्थङ्करों की दिव्य ध्वनि के पश्चात् उपाध्याय गणधर देव भव्य जीवों को धर्ममार्ग बतलाते रहे हैं। उपाध्याय पूर्ण श्रुत—अंग पूर्वों के पाठी होते हैं और वे प्रमुख उपाध्याय हैं। उनसे कम अंग-पूर्व भाग के ज्ञाता लघुलघु श्रेणी में

आते हैं। जो वाणी तीर्थङ्करदेवों से प्रवाहित होती रही है वह इन्हीं उपाध्यायों के क्रम से भव्य जीवों तक पहुंचती रही है।

कालान्तर में जब अंग-पूर्वों के ज्ञाता उपाध्यायों का विच्छेद होता गया तब उनका काम आचार्यों, और साधु-गण ने सँभाला और उनकी अनुपस्थिति में इस कार्य की पूर्ति अल्प ज्ञान और अल्प चारित्रधारी त्यागी विद्वान् करते रहे। जो विद्वान् व्रत और प्रतिमाधारी नहीं थे वे भी श्रावक के स्थूल आचार का पालन करते हुए इस क्षेत्र में गतिशील रहे। फलतः भव्य जीवों को जिनधर्म का ज्ञान व चारित्र सम्बन्धी मूर्त-रूप फलित होता रहा।

चूँकि जैन धर्म वीतराग-धर्म है और धार्मिक प्रसंग में वीतराग-रूप को नमस्कार का विधान है। अतः पूर्णचारित्र की मुख्यता के आधार पर मूल-मन्त्र णमोकार में सकल-चारित्र उपाध्याय परमेष्ठी को नमन कर उनके प्रति कृतज्ञता का ज्ञापन है और अल्प-चारित्र या अश्रुती विद्वानों को इसमें ग्रहण नहीं किया गया है। यद्यपि ऐसे स्थूल-चारित्रधारी विद्वान् पहिले भी होते रहे हैं जो स्वतन्त्र आजीविका से निर्वाह कर परमार्थ रूप धर्मज्ञान देकर भव्य-जीवों का उपकार करते रहे हैं। उन विद्वानों की आजीविका पठन-पाठन पर आश्रित नहीं होती थी। फलतः वे स्वतन्त्र और निर्भीक भी थे। वस्तुतः धर्मज्ञान ऋण-विक्रय का धन्दा नहीं है। अभी तक यह प्रकट नहीं हो पाया कि विद्वानों में पारिश्रमिक लेकर धर्म-ज्ञान दान की परम्परा कब से चालू हुई? हो सकता है ये ब्राह्मण सम्प्रदाय का प्रभाव हो। बाद के काल में तो विद्वानों में इस व्यवसाय-परम्परा का मूल कारण विद्वानों का अर्थाभाव ही परिलक्षित होता है।

जो भी हो, यह तो निर्विवाद है कि विद्वानों ने धर्म-रक्षा और उसकी प्रभावना में कोई कोर-कमर नहीं छोड़ी, उन्होंने तन-मन का पूरा योग देकर मन्दिरों, सरस्वती-भवनों, शिक्षा संस्थानों आदि की स्थापना का मार्ग सुसाया उनके निर्माण में योग दिया, स्थान-२ पर भ्रमण करके उनके लिए चन्दा इकट्ठा किया। उनकी व्यवस्था और पठन-पाठन जैसी सभी जिम्मेदारियां उठाईं। विद्वानों ने

पूजा-प्रतिष्ठा, विधान, संस्कार-विधियों को सुरक्षित रखा, यद्यपि कालान्तर में ये कार्य व्यवसाय बनने से विकृत हो गए। विद्वानों ने लोगों में श्रद्धा-ज्ञान और चारित्र्य जगाने के लिए जगह-जनह भ्रमण कर प्रवचन किए। शास्त्रों को सुरक्षित रखा। और भी जितने धार्मिक प्रसंग उपस्थित होते रहे सभी में विद्वानों का पूर्ण योगदान रहा। विधिमियों द्वारा आगम, मार्ग पर किए गए प्रहारों को भी विद्वानों ने निर्मूल किया। आदि !

यह कहना भी अत्युक्ति होगा कि धर्मक्षेत्रों में विद्वानों ने ही सब कुछ किया और दूसरों का उसमें हाथ न था। वास्तविकता तो यह है कि ये सभी कार्य 'परस्मारोपग्रह-जीवानाम्' के संदर्भ में चलता रहा और सभी अपनी-अपनी योग्यतानुसार धर्म-मार्ग को प्रशस्त करते रहे ज्ञान वाले ज्ञान और धन वाले धन देते रहे। इस मार्ग में गिरावट तब आई जब विद्वान् स्वयं ज्ञान-दान के लिए किसी प्रकार का ठहराव करने और किसी निश्चित राशि में बँधने लगे और अन्य लोग विद्वान् को वदला चुकाने की बात सोचने के आदी बन गए। हो सकता है इसमें एक-दूसरे की ओर से प्रस्तुत कोई ऐसे अन्य कारण उपस्थित हुए हों जिनसे दोनों को मार्ग बदलने को मजबूर होना पड़ा हो। काश, ये विचारा गया होता कि किसी के ऋण से कभी उच्छ्रय नहीं हुआ जा सकता तो ये प्रसंग उपस्थित न होता। वाद को और भी बहुत-सी विसंगतियाँ पैदा होने लगी। लोगों ने प्रदत्त धन या दान-द्रव्य से निमित्त उपकरणों—भवन आदि में अहम्भाव को स्थापित करना प्रारम्भ कर दिया। वे त्याग कर भी इस सम्पदा को अपना और अपने विद्वान् को पराया समझने लगे। कुछ विद्वान् भी आचार-विचार से शिथिलाचारी और समाज से निराश होते रहे। ऐसी विसंगतियों को दूर किया जाना चाहिए।

वास्तव में ज्ञान-दान का कोई मूल्य नहीं। विद्वान् तो समाज से पोषण पाकर भी समाज के गुरु ही हैं और उनकी श्रेणी माता-पिता से भी उच्च है। जैसे लोग अशक्त माता-पिता की सेवा करते हैं, उनका भरण-पोषण करते हैं वैसे ही उन्हें विद्वानों की सेवा करनी चाहिए। यदि समाज विद्वानों के साथ ये सब व्यवहार करे तब भी विद्वानों के ऋण से उच्छ्रय नहीं हो सकता। आखिर, कोई देगा तो विद्वान् को कितना भौतिक धन-वैभव दे सकेगा ? जो भी वह देगा सब यही छूट जायेगा—नश्वर होगा। जबकि विद्वान् का दिया हुआ ज्ञान-धन जन्म-जन्मान्तरों तक साथ जायगा और सद्गति में सहायक होगा। फिर—जब विद्वान् ने अपना तन-मन सब कुछ समाज के लिए अर्पण कर दिया हो तब उसके मुकाबले में भौतिक सम्पदा अर्कि-चन ही है। अतः समाज का कर्तव्य है कि माता-पिता और धर्म-उपकरण मन्दिर आदि की भाँति विद्वानों का संरक्षण करे और विद्वान् भी सदाचारी धार्मिक और निर्भीक रहकर, समाज के होकर धर्म-प्रभाव में तत्पर रहे।

ध्यान रहे, विद्वद्गण समाज के ऐसे धन हैं जो उसकी धर्म-सम्पदा की रक्षा और वृद्धि में सहायक होते हैं। समाज विद्वानों के ऋण से कभी उच्छ्रय नहीं हो सकता। और तो और—विद्वान् हमारी मरणासन्न दशा में भी हमारी समाधि करा हमारी सद्गति में कर्णधार बनते रहे हैं। इनके अभाव में धार्मिक जगत् में अन्धेरा छा जायगा और हम भटक जाएंगे। ऐसा अनर्थ न हो, अतः उद्यम करना चाहिए कि कैसे विद्वानों की रक्षा की जाय और कैसे विद्वद्गण बढ़ाने में साधन-भूत धार्मिक संस्थाओं को दृढ़ किया जाय ? जरा सोचिए ?

—सम्पादक

मोह-जो-दड़ो का अर्थ है 'मरे हुआँ का स्थान'—श्मशान। लोक में श्मशान में जाने वाला अशुद्ध हो जाता है उसको शुद्धि नहा-धोकर होती है। पर, साधुगण वहाँ शुद्धि के लिए समाधिस्थ होते हैं। ये विरोध कैसा ?

विचारा जाय तो कोई विरोध नहीं। जिसने मरे हुआँ की खोजबीन की—पर की खोज में लगा रहा वह अशुद्ध हुआ और जिसने श्मशान का उपयोग वैराग्य के बधन हेतु कर अपनी खोज का प्रयत्न किया वह शुद्ध हुआ।

तू सोच, कि तू उन मरे हुआँ की खोज कर रहा है या अपनी ? अशुद्धि की ओर जा रहा है या शुद्धि की ? दिखता तो ऐसा है कि आज लोग आत्मा से भटके हैं और मात्र 'मोह-जो-दड़ो' की खोज में लगे हैं।

ब० सीतल प्रसाद जन्मशताब्दी समापन समारोह

इस शती के अप्रतिम जिनधर्म प्रचारक एवं समाज सुधारक पूज्य ब्रह्मचारी शीतल प्रसादजी का जन्म लखनऊ में १८७८ ई० में हुआ था और उनका देहान्त भी इसी नगर में फरवरी १९४२ में हुआ, जहाँ डालीगंज स्थित जैन बाग में कृतज्ञ समाज ने उनकी समाधि का निर्माण किया। जैनधर्म के इस युग के इस सर्वोपरि मिशनरी ने समाज एवं संस्कृति की सेवा, पत्रकारिता तथा जैन वाङ्मय के अध्ययन, चिन्तन एवं प्रसार के प्रति स्वयं को पूर्णतया समर्पित करने हेतु रेलवे की अच्छी-खासी नौकरी से त्यागपत्र दिया, गृहस्थ जीवन को तिलांजलि दी और अपने मिशन के अनुरूप कार्य करने के लिए परिव्राजक ब्रह्मचारी का जैन शास्त्र विहित वेष धारण किया तथा उसी धुन में सम्पूर्ण जीवन व्यतीत किया।

जब स्व० आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर' ने सरसावा में वीर सेवामंदिर की स्थापना की थी तो उन्होंने इसका उद्घाटन ब्रह्मचारीजी के करकमलो द्वारा ही कराया था। ब्रह्मचारीजी उनके पत्र 'अनेकान्त' के भी सदैव बड़े प्रशंसक रहे। ब्रह्मचारीजी के निधन पर मुख्तार साहब ने निम्नोक्त उद्गार व्यक्त किए थे—'ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी, जैन के एक बड़े ही कर्मठ विद्वान थे। जैनधर्म और जैनसमाज के प्रति उन्हें गाढ़ प्रेम था, लगन थी और साथ ही उनके उत्थान की चिन्ता थी—धुन थी। उसी धुन में वे दिन-रात काम किया करते थे—लिखते थे, लम्बे-लम्बे सफर करते थे, उपदेश तथा व्याख्यान देते थे और अनेक प्रकार की योजनाएँ बनाते थे। उन्हें ज़रा भी चैन नहीं था और न वे अपना थोड़ा-सा भी समय व्यर्थ जाने देते थे। जहाँ जाते वहाँ शास्त्र बाँचते, अपने पब्लिक व्याख्यान की योजना कराते, अंग्रेजी पढ़े-लिखो में धर्म की भावना फूकते, उन्हें धर्ममार्ग पर लगाते, सभा-पाठशालादि की स्थापना कराते और कोई स्थानीय सस्था होती तो उसकी जाँच-पड़ताल करते थे। साथ ही परस्पर के वैमनस्य को मिटाने और जनता में फैसी हुई कुरीतियों को दूर कराने का भरसक प्रयत्न भी करते थे। प्रत्येक चौमासे में अनुवादों के रूप में कोई ग्रन्थ तैयार करके छपाने के लिए प्रस्तुत कर देना और उसके छपकर प्रचार में आने की समुचित योजना कर देना तो उनके जीवन का एक साधारण-सा क्रम हो गया था। उनमें एक बड़ी विशेषता यह थी कि वे सहनशील थे—विरोधों, कटु आलोचनाओं, वाक्प्रहारों और उपसर्गों तक को खुशी से सह लिया करते थे और उनकी वजह से अपने कार्यों में बाधा अथवा विरक्ति का भाव नहीं आन देते थे। इसी गुण और धुन के कारण, जिसका एक समाजसेवी में होना आवश्यक है, वे मरते दम तक समाज की सेवा करने में समर्थ हो सके। निःस्सन्देह उन्होंने अपनी सेवाओं द्वारा जैनसमाज के ब्रह्मचारियों एवं त्यागीवर्ग के लिए कर्मठता का आदर्श उपस्थित किया।'

पूज्य ब्रह्मचारीजी के जन्म शताब्दी समारोह का प्रारम्भ १९७९ ई० में लखनऊ में तथा अ० भा० दि० जैन परिषद के भिण्ड अधिवेशन में किया गया था और समापन २५ अक्टूबर १९८२ को लखनऊ में उनकी समाधि पर पुष्पांजलि अर्पित करके तथा श्रद्धांजलि सभा करके किया गया। परिषद के अध्यक्ष श्री डालचन्द जैन सागर आयोजन में मुख्य अतिथि थे और हम स्वागताध्यक्ष थे। समाचार भारती के अध्यक्ष श्री अक्षयकुमार जैन तथा देश के विभिन्न भागों से आये अनेकों विद्वानों एवं गणमान्य महानुभावों ने पूज्य ब्रह्मचारीजी के प्रति भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित की। हमने सभी समाज्य बन्धुओं का स्वागत करते हुए, पूज्य ब्रह्मचारीजी के जीवन, व्यक्तित्व, कृतित्व एवं समाजसेवाओं पर प्रकाश डाला। उपस्थित जनसमूह ने ब्रह्मचारीजी की प्रेरणाप्रद स्मृति को स्थायी बनाये रखने की कामना व्यक्त की। यह समारोह परिषद के कामपुर अधिवेशन की प्रेरणा पर जैनधर्म प्रवर्द्धनी सभा लखनऊ के तत्वावधान में सम्पन्न हुआ था, अतएव उक्त सभा के अध्यक्ष श्री इन्द्रचन्द्र जैन द्वारा सम्पन्न दिये गये के साथ समाप्त हुआ किन्तु क्या पूज्य ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी जैसे मुक्तबुद्धों के प्रति मात्र इतना कृतज्ञता ज्ञापन असम् है ?

—डॉ० ज्योति प्रसाद जैन

बीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुस्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द ।	...	४-५०
जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से भलंकृत, सजिल्द ।	...	६-००
जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्वपूर्ण संग्रह। पंचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित । सं. पं. परमानन्द शास्त्री । सजिल्द ।	१५-००	
समाधितग्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति, पं० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित	५-५०	
व्यवणवेलगोल और दक्षिण के ग्रन्थ जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन	...	३-००
न्याय-बीपिका : भा० अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा सं० अनु० ।	१०-००	
जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पुष्ट संख्या ७४, सजिल्द ।	...	७-००
कसावपाहुडसुत : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूणिसूत्र लिखे । सम्पादक पं० हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री । उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में । पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द ।	...	२५-००
जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा श्री रतनलाल कटारिया	...	७-००
ध्यानशास्त्र (ध्यानस्तव सहित) : संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री	...	१२-००
आवक धर्म संहिता : श्री दरयावसिंह सोधिया	...	५-००
जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : सं० पं० बालचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री	प्रत्येक भाग	४०-००
जिन शासन के कुछ विचारणीय प्रसंग : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, बहुचर्चित सात विषयों पर शास्त्रीय प्रमाणयुक्त तर्कपूर्ण विवेचन । प्राक्कथन : सिद्धान्ताचार्य श्री कैलाशचन्द्र शास्त्री द्वारा लिखित	...	२-००
Jain Monuments : टी० एन० रामचन्द्रन	...	१५-००
Reality : भा० पूज्यपाद की सर्वावसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद । बड़े आकार के ३०० पृ., पक्की जिल्द	...	८-००

आजीवन सदस्यता मूल्य : १०१.०० रु०

वार्षिक मूल्य : ६) रु०, इस अंक का मूल्य : १ रुपया ५० पैसे

विद्वान् लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र होते हैं । यह आवश्यक नहीं कि सम्पादक-मण्डल लेखक के विचारों से सहमत हो ।

सम्पादक परामर्श मण्डल—डा० ज्योतिप्रसाद जैन, श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, सम्पादक—श्री पद्मचन्द्र शास्त्री
प्रकाशक—रत्नप्रयधारी जैन बीर सेवा मन्दिर के लिए, कुमार ब्रादर्स प्रिंटिंग प्रेस के-१२, नवोन साहूदरा
दिल्ली-३३ से मुद्रित ।

वीर सेवा मन्दिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगलकिशोर मुस्तार 'युगवीर')

वर्ष ३६ : कि० २

अप्रैल-जून १९६३

इस अंक में—

क्रम	विषय	पृ०
१.	संबोधन	१
२.	जैन न्याय के सर्वोपरि प्रस्तोता श्री भट्टाकालकदेव —डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन	२
३.	रूपशतक एक अनूठी आध्यात्मिक कृति —श्री कुन्दनलाल जैन	८
४.	स्वयम् की भाषा और देशी तन्त्र —डॉ० देवेन्द्रकुमार जैन, इन्दौर	१३
५.	भागलपुर की प्राचीन जैन प्रतिमाएं —डॉ० अजयकुमार सिन्हा	१५
६.	नागौर तथा उसमें स्थित भट्टारकीय दि० जैन ग्रन्थ भट्टार की स्थापना एवं विकास का संक्षिप्त इतिहास—डॉ० पी० सी० जैन	१८
७.	जैनदर्शन में द्रव्याधिक और पर्यायाधिक तत्त्व —श्री अशोककुमार जैन	२१
८.	जैन साहित्य में वर्णित जन-जातियां —डॉ० प्रेम सुमन जैन	२६
९.	बाहर-भीतर—श्री बानूलाल जैन	२९
१०.	विचारणीय प्रसंग—श्री पद्मचन्द्र शारदा	३१
११.	स्वाध्याय और उसकी महत्ता—डॉ० राका जैन	३५
१२.	जरा सोचिए—सम्पादक	३७
१३.	साहित्य-समीक्षा	४०

प्रकाशक

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

सविनय श्रद्धाञ्जली

ऐसा कौनसा धर्मानुरागी है जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य के साधक, अध्यात्म-रसिक, जैनसिद्धान्तज्ञ श्री जिनेन्द्र वर्णी (श्री सिद्धान्त सागर जी) से परिचित न हो ? उनसे सभी परिचित हैं। जिसने एक बार उन्हें निरखा वह तृप्त हो गया। वर्णी जी के मन-वचन और काया तीनों संयम के मूर्तरूप थे। दूसरे शब्दों में वे 'मन में हो सो वचन उचरिए, वचन होय सो तन सों करिए' का पूर्ण रूपेण निर्वाह करते रहे। व्यवहार जगत में जहां लोग बड़ी से बड़ी कही जाने वाली विभूति में भी गुण-दोषों का विभाजन करते देखे जाते हैं वहां उन्हें वर्णी जी में सदा गुण ही परखने को मिलते रहे। वे वास्तव में संत-सत्पुरुष थे।

वर्णी जी का सैद्धान्तिक ज्ञान उनकी अपूर्व, अनूठी रचनाओं से ही उजागर रहा है। 'समणसुत्त', 'जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष' और 'शान्तिपथप्रदर्शक' आदि के निर्माण उनकी ऐसी देन हैं जो 'यावच्चन्द्रदिवा-करी' उनके स्मरण को बल देती रहेंगी। जो भी इन्हें पढ़ेगा, प्रचार में लाएगा अपूर्व पुण्योपाजन का भागी होगा। हर्ष है कि उदारमना साहू श्री अशोककुमार जैन ने जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष के द्वितीय सम्करण को भारतीय ज्ञानपीठ से पुनर्मुद्रण कराने का सकल्प प्रकट किया है। जैन ग्रन्थों के प्रकाशन में भा० ज्ञानपीठ का अनुठा योगदान है।

वर्णी जी का त्याग सर्वथा त्याग के लिए था। यह प्रवृत्ति क्वचिन् ही—कठिना से दृष्टिगोचर होती है। जहां लोग त्यागकर कुछ ग्रहण करने की भावना रखते हैं—और नहीं तो यश-कीर्ति, पूजा-प्रतिष्ठा ही सही। वहा वर्णी जी कुछ नहीं चाहते थे। यदि उनकी चाह थी भी तो यही कि वे त्याग-त्याग और सर्वस्व त्याग की ओर बढ़े और एक दिन ऐसा आए कि निष्परिग्रही—अन्तरंग व बहिरंग परिग्रहों से मुक्त हो जाएं। यही जैन दर्शन का सिद्धान्त है जहा आत्मा-आत्मा में रह जाती है, शुद्ध-निर्विकल्प हो जाती है।

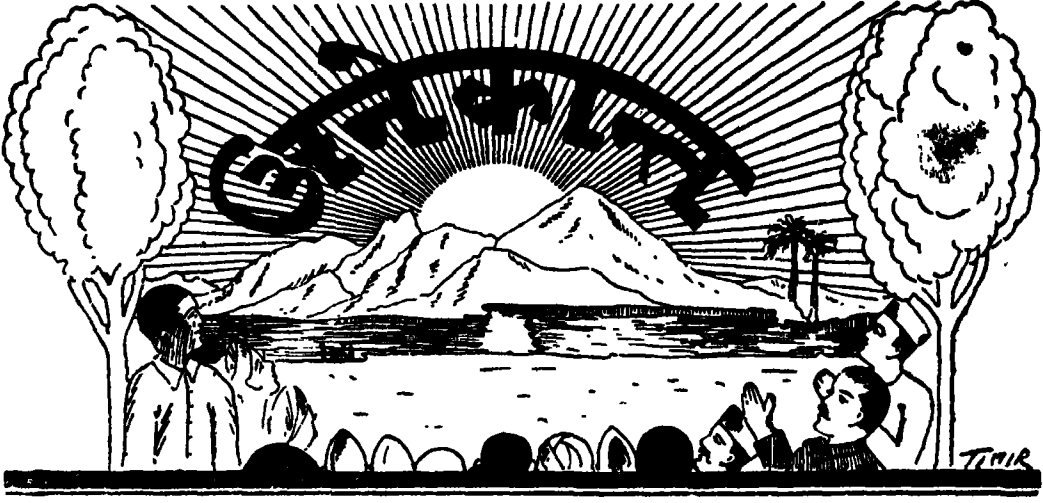
जीवन के अन्तिम क्षणों तक वर्णी जी ने अपने प्रण-पण का निर्वाह किया। उन्होंने १२ अप्रैल १९८३ को सल्लेखना लेकर २४ मई १९८३ को समाधि-मरण प्राप्त किया। वे सदा ही अपने धर्म-साधन के प्रति जागृत रहे। हमें उनकी जीवन-चर्या से बहुत कुछ सीखना है। वे हमारे गुरु थे, हमे मार्ग प्रशस्त कर गए। वीर सेवा मन्दिर परिवार उनके अमीम उपकार के लिए, उनके कृत्यों के प्रति श्रद्धावन्त होते हुए उन्हें सादर श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता है।

—सुभाष जैन

महासचिव

वीर सेवा मन्दिर, दरियागंज, नई दिल्ली

ओम् अर्हम्



परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमयनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष ३६
किरण २

वीर-सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२
वीर-निर्वाण सवत् २५०६, वि० स० २०८०

अप्रैल-जून
१९८३

सम्बोधन

कहा परदेसी को पतियारो ।
मन माने तब चले पंथ कों, साँझि गिने न सकारो ।
सबे कुटुम्ब छाँड़ि इतही, पुनि त्यागि चले तन प्यारो ॥१॥
दूर बितावर चलत आपही, कोउ न राखन हारो ।
कोऊ प्रीति करो किन कोटिक, अंत होयगो न्यारो ॥२॥
धन सौ रुचि धरम सौ भूलत, भूलत मोह मझारो ।
इहि विधि काल अनन्त गमायो, पायो नहि भव पारो ॥३॥
साँचे मुख सौ बिमुख होत है, भ्रम मदिरा मतवारो ।
चेतहु चेत सुनहु रे 'भैया' आप ही आप संभारो ॥४॥
कहा परदेसी को पतियारो ॥

गरब नहि कीजं रे ए नर निपट गँवार ।
झूठी काया झूठी माया, छाया ज्यों लखि लीजं रे ।
कं छिन साँझि सुहागद जोबन, कै दिन जग में जीजं रे ॥
बेगहि चेत बिलम्ब तजो नर, बंध बड़ें धिति कीजं रे ।
'भूषर' पल-पल हो है भारी, ज्यों ज्यों कमरी भीजं रे ॥

जैन न्याय के सर्वोपरि प्रस्तोता श्रीमद् भट्टाकलंकदेव

□ इतिहासमनीषो डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन 'विद्यावारिधि'

प्रायः छठी शती ई० के मध्य से लेकर १२वीं शती के अन्त पर्यन्त जैन साहित्याकाश का सर्वोपरि मुखर स्वर न्यायशास्त्र रहा—सन्मति सूत्र प्रणेता सिद्धसेन दिवाकर (ल० ५५०-६०० ई०), द्वादशारनयचक्र के कर्ता मल्ल-वादी (ल० ६०० ई०) त्रिलक्षण-कदर्थन के रचयिता पात्रकेसरि (ल० ५७५-६०० ई०), अकलङ्कदेव महान, न्यायावतारकार सिद्धसेन (ल० ७००-७५० ई०), अनन्त-कीर्ति प्र० (ल० ७५० ई०), याकिनीमुनू हरिभद्रसूरि (ल० ७५०-८२५ ई०), बृहद् अनन्तवीर्य, प्रभाचन्द्र प्र०, परवादिमल्ल, विद्यानन्द (ल० ७७५-८२५ ई०), रवि-भद्रपादोपजीवि अनन्तवीर्य (ल० ८०० ई०), चन्द्रकीर्ति, अनन्तवीर्य द्वि०, रामदेव (ल० ८४५-७५ ई०), माङ्गल-धवल, माणिक्यनन्दि (ल० ८६५-१००० ई०), अभयदेव (ल० १००० ई०), नरेन्द्रसेन, वादिराज (ल० १०००-१०३५ ई०), महापण्डित प्रभाचन्द्र (लगभग १०१०-१०६० ई०), जिनेश्वरसूरि (ल० १०५० ई०), वादीभ-सिंह अजितसेन (ल० १०५०-१०८० ई०), महासेन (१०५४ ई०), देवसेन (१०६८ ई०), चन्द्रप्रभ (१०८२ ई०), वसुनन्दि (ल० ११००-५० ई०), लघु अनन्तवीर्य (११०५-१७ ई०), हेमचन्द्राचार्य (११०८-७२ ई०), मुनिचन्द्र, वादिदेवसूरि (१११७-६८ ई०), शान्तिसूरि (ल० ११२५ ई०), कुमुदचन्द्र, विमलदास (ल० ११५० ई०), शान्तिषेण, मल्लिषेण (११५८ ई०), रत्नप्रभ (११६६ ई०), अभयचन्द्र, अजितसेन, रामचन्द्रसूरि, देवभद्र, लघुसमन्तभद्र (ल० १२०० ई०), चन्द्रसेन, प्रद्युम्नसूरि, चारुकीर्ति पण्डितदेव (ल० १२०० ई०), प्रभादेव सौख्यनन्दि (ल० १२०० ई०), पं० आशाधर, प्रभृति लगभग पचास न्याय निष्णात जैन दार्शनिकों ने जैन न्याय के इस तथाकथित मध्ययुगीन सम्प्रदाय का प्रोत्साह संवर्द्धन एवं पोषण किया। किन्तु जैन दार्शनिक

साहित्य के इस दौर के वास्तविक संस्थापक श्रीमद् भट्टाकलंकदेव ही थे, जिन्होंने अपने प्रायः समस्त उत्तरवर्ती लेखकों को प्रभावित एवं प्रेरित किया—मात्र जैन विद्वानों को ही नहीं, ब्राह्मण एवं बौद्ध दार्शनिकों को भी प्रभावित किया।

यह अकलंकदेव या भट्टाकलंकदेव जैन परंपरा में अकलंक नाम के प्रथम ज्ञात आचार्य है।^१ मात्र पूज्यपाद, देव, देवेन्द्र, मुनीन्द्र, वादिसिंह जैसे विरुद्धों से भी परवर्ती साहित्य में इनका कई बार उल्लेख हुआ है।^२ वह सर्व-महान जैन नैयायिक, तार्किक एवं वादी थे, और भारतीय न्याय दर्शन की जैन शाखा के वास्तविक संस्थापक थे। वस्तुतः, विभिन्न सम्प्रदायों के नैयायिकों की दृष्टि में जैन न्याय और अकलंकन्याय पर्यायवाची शब्द बन गये।^३ अकलंकदेव के कई टीकाकार भी परम उद्भट नैयायिक थे और वह स्वयं दिगम्बर-श्वेताम्बर उभय-सम्प्रदायों के तथा जैनतर सम्प्रदायों के भी अनगिनत मनीषियों की प्रशंसा के पात्र बने। अनेकों शिलालेखों, साहित्योल्लेखों, एवं लोकानुश्रुतियों में इन आचार्य प्रवर के प्रति परवर्ती पीढ़ियों की श्रद्धा मुखर हुई।^४

अकलंकदेव की मुनिश्चित रूप से ज्ञात एवं उपलब्ध कृतियां हैं :

१. उमास्वामिकृत तत्त्वार्थाधिगमसूत्र की अत्यन्त विद्वतापूर्ण विशद एवं विशाल टीका, तत्त्वार्थ राजवातिक, २. समन्तभद्राचार्य (२री शती ई०) की आप्तमीमासा अपर नाम देवागम की ८०० पद्यों में रचित पांडित्यपूर्ण टीका, अष्टशती, ३. लघ्वीयस्त्रय ४. न्यायविनिश्चय ५. सिद्धिविनिश्चय, ६. प्रमाण सग्रह या प्रमाणसार सग्रह —अकलङ्कदेव की समस्त कृतियां जैन न्याय के सर्वोत्कृष्ट रत्न हैं और शीघ्र संस्कृत भाषा में निबद्ध हैं। 'स्वरूप-संबोधन' आदि कई अन्य ग्रंथों के कृतित्व का श्रेय भी

उन्हें दिया जाता है, किन्तु उनमें से जो उपलब्ध है, वे परवर्ती लेखकों की कृतियाँ प्रतीत होती हैं।

प्राचीन काल के अन्य अनेक महान् आचार्यों की भांति अकलङ्कदेव भी स्वयं अपने विषय में प्रायः कोई ज्ञानव्य प्रदान नहीं करते—उनकी कुछ कृतियों में उनका नामोल्लेख मात्र प्राप्त होता है, केवल तत्त्वार्थराजवातिक के एक पद्य से ज्ञात होता है कि वह लघुहव्व नामक किसी नृपति के पुत्र थे^१। अकलङ्काष्टक-सह-अकलङ्कचरित नामक एक लघु रचना का श्रेय भी स्वयं अकलंकदेव को दे दिया जाता है, किन्तु अधिक सम्भावना यही है कि वह उनके किसी नातिद्वार परवर्ती प्रणसक की कृति है। इसमें अकलङ्कदेव के मुख से किन्ही राजन्—माहसत्तुग की राजसभा में बौद्धों पर प्राप्त अपनी वाद विजय का सक्षिप्त विवरण दिया गया है, और उक्त घटना की तिथि. वि० स० ७०० (अर्थात् ६४३ ई०) भी सूचित कर दी गई है^२। दशवीं शती ई० से ही अकलङ्क की बौद्धाचार्यों पर प्राप्त इस महत्वपूर्ण वाद विजय का उल्लेख अनेक शिलालेखों तथा ग्रन्थों में प्राप्त होने लगना है^३। विशेष-कर, ११२८ ई० की मल्लिपेण-प्रशस्ति नामक शि० ले० में उक्त घटना का विस्तृत वर्णन है जो अकलङ्कचरित के कथन की पुष्टि करता है, और बताता है कि उक्त शास्त्रार्थ महाराज हिमशीतल की राजसभा में हुआ था तथा उक्त अवसर पर बौद्धाचार्यने अपनी सहायतार्थ तारा-देवी का आह्वान किया था^४। प्रभाचन्द्र के आराधना-मन्-कथा प्रबन्ध (११वीं शती) के अनुसार अकलङ्क का भक्त नरेश मान्यखेट का राजा शुभतुग था, जिसका पुरु-षोत्तम नामक ब्राह्मण मन्त्री ही स्वयं उनका पिता था, तथा उक्त शास्त्रार्थ कलिग नरेश हिमशीतल के समक्ष रत्न-सचयपुर में हुआ था^५। श्रीचन्द्र और ब्रह्म नेमि.त्त के कथाकोशों में प्रायः उसी की पुनरावृत्ति है। कन्नड हिमशीतलकथे (१८०० ई०), राजाबलिकथे तथा भुवन-प्रदीपिका (१८०८ ई०) भी स्थूलतया कथाकोशों के कथन का ही समर्थन करते हैं, किन्तु वे अकलङ्क को तामिल देशवासी या कर्णाटक का निवासी सूचित करते हैं, जबकि कथाकोशों का इंगित महाराष्ट्र की ओर है। माहसत्तुग के विषय में ये ग्रन्थ मौन हैं, और हिमशीतल को काञ्ची

का राजा रहा बताते हैं, जो उक्त वादविजय के परिणाम स्वरूप जैनधर्म का अनुयायी बन गया था और उसने बौद्धों का उत्पीड़न किया था। भुवनप्रदीपिका के अनुसार हिमशीतल तुण्डीर देश का राजा था और घटना की तिथी कलि स० ११२५ पिंगलसंवत्सर थी^६। अजितसेन ने न्यायमणिदीपिका की प्रशस्ति में सकल-राजाधिराज-परमेश्वर हिमशीतल के महास्थान को वादस्थल सूचित किया है^७। पीटरसन ने किसी अनुश्रुति के आधार पर अकलङ्क को राष्ट्रकूट कृष्ण प्र० (७५६-७२ ई०) का पुत्र सूचित किया^८।

उपरोक्त तथ्यों तथा सुप्रसिद्ध जैन, बौद्ध एवं ब्राह्म-णीय विद्वानों के साथ जो अकलङ्क द्वारा उल्लेखित हुए अथवा जिन्होंने अकलंक का प्रत्यक्ष या परोक्ष उल्लेख किया, स्वयं अकलंक की समामायिकता एवं पूर्वापर के आधार पर आधुनिक युगीन विद्वानों में अकलङ्क की तिथी एवं जाति-कुलादि को लेकर तथा उनके भक्त नरेशों माहसत्तुग एवं हिमशीतल की पहिचान को लेकर, पर्याप्त ऊहापोह एवं माद विवाद हुए हैं। गन जनाब्दी के प्रारंभिक दशकों में होने वाले कर्नैट मेकेजी सम्भवतया सर्वप्रथम विद्वान थे जिनने उक्त आचार्य के विषय में ऐतिहासिक दृष्टि से विचार किया^९। कर्नैल मेकेजी के उल्लेखों के आधार पर विल्सन ने यह निष्कर्ष निकाला कि 'आठवीं शती ई० में श्रवण बेलगोल के जैन गुरु अक-लङ्क ने, जिनकी अणन. शिक्षा त्रिवत्तूर के निकटस्थ पोन्नग के बौद्ध अधिष्ठान में हुई थी, काञ्ची के अन्तिम बौद्धराजा हिमशीतल के समक्ष बौद्धों से वाद किया और उन्हें पराजित किया था। फलस्वरूप राजा ने भी जैन धर्म अपना लिया और बौद्धों को अपने राज्य से निर्वासित करके (मिहलद्वीप के) कैन्डी नामक स्थान में भेज दिया था^{१०}। विल्सन का अनुसरण करते हुए जान मुरडोख ने वाद की तिथी लगभग ८०० ई० अनुमानित की^{११}। और राबर्ट सिबेल ने तो ठीक ७८८ ई० निर्धारित कर दी^{१२}। बी० एल० राईस ने सिबेल के मत का समर्थन तो किया, उसे इस विषय में भी कोई मन्देह नहीं था कि हिमशीतल काञ्ची का कोई पल्लव नरेश था, किन्तु यह भी सूचित कर दिया कि वाद की तिथि के विषय में स्वयं जैनों का

अविस्मरणीय वाक्य सप्त शैलाद्रि' आदि है, जिसके अनुसार वह तिथि शक ७७७ (या ८५५ ई०) बैठती है। साहसत्तुंग को चीन्हने में उसने अपनी असमर्थता भी स्वीकार की। तदुपरान्त प्रायः किसी भी विद्वान ने हिमशीतल की इस पहिचान पर सन्देह नहीं किया और अनेको ने ७८८ ई० की तिथि को भी मान्य किया।

जहाँ तक साहसत्तुंग की चीन्ह का प्रश्न है, डा० पाठक ने उसका समीकरण पहले राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण प्र० (७५६-८२ ई० के साथ किया था, और डा० स० च० विद्याभूषण ने उनका समर्थन किया था। कालान्तर में पाठक ने अपने पूर्वमत में संशोधन करके उसका समीकरण राष्ट्रकूट दन्तिदुर्ग (७४५-५६ ई०) के साथ कर दिया। तब से इस पहिचान पर भी किसी विद्वान ने प्रश्न चिन्ह नहीं लगाया—केवल डॉ० अल्तेकर एव डा० उपाध्ये ने उसे एक निराधार अनुमान मात्र माना।

उपरान्त काल में कई विद्वानों ने आठवीं शती ई० के उत्तरार्ध वाली (७८८ ई० आदि) तिथि को सर्वथा अस्वीकृत कर दिया और परम्परागत तिथि वि० स० ७०० (ई० ६४३), की सम्भवनीयता की पुष्टि करने का प्रयत्न किया। पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री ने तो स्वयं अकलङ्क तथा उक्त शताब्दियों के अन्य जैन एव जैनतर विद्वानों द्वारा किये गये पारस्परिक उल्लेखों आदि के आधार पर उनका पूर्वाग्रह प्रकट करने हुए यह निष्कर्ष निकाला कि अकलङ्क सातवीं शती ई० में ही हुए है। किन्तु इन सब विद्वानों ने अकलङ्कीय अनुश्रुति के हिमशीतल एव साहसत्तुंग वाले पक्षों का स्पर्श नहीं किया और न ६४३ ई० की परम्परागत तिथि की ऐतिहासिकता पर ही कोई गवेषणा की।

इन महान् आचार्य से सम्बन्धित मूल साधन स्रोतों, अनुश्रुतियों एवं आधुनिकयुगीन चर्चाओं के निरीक्षण-परीक्षण से निम्नोक्त तथ्य उभर कर सम्मुख आते हैं—

अकलङ्कदेव उमास्वामि (प्रथम शती ई०) और सप्तमभद्राचार्य (२री शती ई०) के टीकाकार सुविदित हैं, तथा वह श्रीदत्त (ल० ४०० ई०), देवनन्दि-पूज्यपाद (४६४-५२४), सिद्धसेन दिवाकर (५५०-६०० ई०), पात्र-केसरि (५७५-६२५ ई०) और मल्लवादी (६००) ई० के

उल्लेख या उनके उद्धरण आदि अपने ग्रन्थों में देते पाये जाते हैं।

जैनतर विद्वानों में पतञ्जलि के महाभाष्य (ईसापूर्व २री शती), वसुबन्धु के अभिधर्मकोष (ल० ४०० ई०) दिङ्नाग के प्रमाण समुच्चय (३४५-४२५ ई०) और भर्तृहरि के वाक्यपदीय (५६०-६५० ई०) से अकलङ्क अपने ग्रन्थों में उद्धरण देते हैं, उनके मतों की आलोचना करते हैं, अथवा उनका प्रत्यक्ष या परोक्ष संकेत करते हैं।

स्वयं अकलङ्क देव के सुविदित टीकाकार हैं—अभयचन्द्र (१२वीं शती), प्रभाचन्द्र (६८०-१०६५ ई०), वादिराज (१०२५ ई०), अनन्तवीर्य द्वि० (ल० ८२५ ई०) और अनन्तवीर्य प्र० (ल० ७२५-५० ई०)। इसके अतिरिक्त, जिनसेनीय आदि पुराण (ल० ८३७ ई०), हरिभद्र-सूरि (ल० ७२५-८२५ ई०) की अनेकान्त जयपताका, जिनसेन पुन्नाट के हरिवंश (७८३ ई०), वीरसेनीय धवला टीका (७८० ई०) तथा सिद्धसेनगणि के तत्त्वार्थभाष्य (ल० ७५० ई०) में अकलङ्कदेव का गुणगान, प्रशंसा या प्रत्यक्ष वा परोक्ष उल्लेख प्राप्त हैं। जिनदाम गणि महत्तर, जिनने अपनी नन्दिवर्णन शक ५६८ (या ६७६ ई०) में पूर्ण की थी, अपनी निशीथवर्णन में अकलङ्ककृत सिद्धि-विनिश्चय को एक 'प्रभावक शास्त्र' कहते हैं।

अकलङ्क देव की कृतियों का भर्तृहरि (५६०-६५० ई०), कुमारिलभट्ट (६००-६६० ई०) एव धर्मकीर्ति (६३५-४० ई०) की मृतियों के साथ तुलनात्मक अध्ययन करने से लगता है कि जैसे ये सब विद्वान प्रायः समसामयिक एव दार्शनिक क्षेत्र में साक्षात् प्रतिद्वन्द्वी थे—वे परस्पर आलोचना-प्रत्यालोचना करते प्रतीत होते हैं। अकलङ्क की उनके साथ अल्पाधिक समसामयिकता अवश्य रही लगती है, कम से कम उनके तथा अकलङ्क के मध्य दो-एक दशकों में अधिक का अन्तराल रहा नहीं लगता।

अकलङ्क की परम्परागत तिथि, वि० स० ७०० (या ६४३ ई०) की मान्यता की प्राचीनता कम से कम ६वीं शती ई० मिलती है।

भुवनप्रदीपिका में वह तिथि कलि सं० ११२५ पिंगल वर्ष के रूप में प्राप्त होती है। एक लोकानुश्रुति के अनुसार कलिसंवत् का प्रारम्भ प्रथम नन्द नरेश के सिंहा-

सनारोहण से हुआ था और हरिवंश पुराण में सुरक्षित जैन अनुश्रुति उक्त घटना की तिथि विक्रमपूर्व ४२५ सूचित करती हैं। अतएव ११२५ मे से ४२५ घटाने पर विक्रम वर्ष ७०० प्राप्त होता है, और उस वर्ष का संवत्सर भी पिंगल ही था।

११२८ ई० की मल्लिषेण प्रशस्ति के अनुसार अकलङ्कदेव के एक कनिष्ठ सधर्मा पुष्पसेन थे। जिनके शिष्य महानवादी विमलचन्द्र थे जो कि 'शत्रुभयंकर' नामक किसी नरेश की राजसभा से सम्बद्ध थे। विमलचन्द्र के प्रशिष्य परवादिमल्ल भी भारी वादी एवं तार्किक थे और उनका सम्बन्ध कृष्णराज नामक एक नरेश से था^{३१}। जो विद्वान अकलङ्क को ८वीं शती ई० मे हुआ मानते रहे, उन्होंने उक्त दोनों राजाओं को भ्रमवश राष्ट्रकूट गोविन्द तृ० (७६३-८१४ ई०) तथा राष्ट्रकूट कृष्ण द्वि० (८८४-९१४ ई०) के साथ क्रमशः समीकृत करने का प्रयत्न किया^{३२}। उक्त परवादिमल्ल ने न्यायविन्दु पर रचित बौद्ध विद्वान घर्मोत्तर (७२५-४० ई०) के टिप्पण पर अपनी टीका लिखी है^{३३}। और परवादिमल्ल के एक प्रशिष्य को गुजरात के राष्ट्रकूट वायसराय कर्कराज ने शक ७४३-८२१ ई०) के ताम्रशासन द्वारा दान दिया था^{३४}। अतएव इन परवादिमल्ल से सम्बन्धित नरेश राष्ट्रकूट कृष्ण प्रथम (७५८-७३ ई० ही हो सकता है^{३५}। इसी प्रकार, विमलचित्त "शत्रुभयंकर" गंगनरेश श्री पुरुष मुत्तरस (७२६-७७७ ई०) से अभिन्न है। अनेक गग अभिलेखों मे इस नरेश का एक विरुद 'अरिभयंकर', जो 'शत्रुभयंकर' का ही पर्यायवाची है, प्राप्त होता है—स्वयं उसके अपने राज्यकाल के एक अभिलेख मे जो शक ६६८ (ई० ७७६) में अंकित हुआ था यह विरुद प्राप्त है^{३६}। इस अभिलेख में विमलचन्द्र का भी उल्लेख है और उक्त उल्लेख से प्रतीत होता है कि उक्त आचार्य आठवीं शती ई० के मध्य से पूर्व हुए होने चाहिए^{३७}।

७वीं शती ई० के अन्तिम चरण तथा ८वीं शती के प्रारम्भिक दशकों के कई चालुक्य अभिलेखों मे देवगण के किन्हीं 'पूज्यपाद' के शिष्यों एवं प्रशिष्यों के उल्लेख प्राप्त होते हैं और इन पूज्यपाद को अलक्तक नगर (वर्तमान अल्लोम, महाराष्ट्र मे) का निवासी ग्हा सूचित किया गया

है^{३८}। इस विषय मे अब तनिक भी सन्देह नहीं है कि इन 'पूज्यपाद' से अभिप्राय अकलङ्क देव का ही है^{३९}। अपनी धवला टीका (७८० ई०) में स्वामि वीरसेन ने भी अकलङ्कदेव का मात्र 'पूज्यपाद' नाम से ही स्मरण एवं उल्लेख किया है तथा उनके ग्रन्थों से उद्धरण दिये हैं^{४०}। अकलङ्कदेव एक महान सधाचार्य थे और वह देवगण (या देवसध) से ही सम्बद्ध थे, नन्दि या देशियगण से नहीं^{४१}। उन्हें तथा उनके उत्तराधिकारियों को मुख्यतया वातापी के पश्चिमी चालुक्य नरेशों का संरक्षण एवं राज्याश्रय प्राप्त था, और वे एक प्रसिद्ध ज्ञानकेन्द्र के अधिष्ठाता रहे, जो चालुक्यों की राजधानी वानापी (बादामी) से नातिदूर सभवतया एहोल अथवा उक्त अलक्तकनगर में स्थित था।

अकलङ्कदेव का भक्त 'राजन साहसतुंग' चालुक्य नरेश पुलकेशिन द्वि० (६०६-४२ ई०) के पुत्र एवं उत्तराधिकारी सम्राट विक्रमादित्य प्रथम (६४२-८१ ई०) से अभिन्न प्रतीत होता है—'विक्रम' शब्द 'साहस' शब्द का पर्यायवाची है, और विक्रमांक, साहमाक, साहसोत्तुंग जैसे विरुद इस वंश के, विशेषतः विक्रमादित्य नामधारी नरेशों के साथ, उस काल मे भी तथा उनकी उत्तरकालीन कल्याणीशाखा के समय भी, प्रयुक्त हुए मिलते हैं। यह भी एक सम्भावना है कि राष्ट्रकूट दत्तदुर्ग ने, जिसका राज्याश्रय अब ८वीं शती के दूसरे दशक मे हुआ माना जाने लगा है, और जिसने उक्त चालुक्यों को परास्त (पराभूत) करके अपना राज्य एवं शक्ति स्थापित की थी। उनका 'साहसतुंग' विरुद भी अपनाने का प्रयत्न किया हो, अथवा 'साहसांक' को कुछ परिवर्तित करके।

इसी प्रकार अकलङ्कीय अनुश्रुति का राजा हिमशीतल भी कर्लिंग देश का वह नरेश जो 'त्रिकर्लिंगाधिपति' कहलाता था, और जो मूलतः बौद्ध था तथा जिसके स्वयं के अथवा निकट पूर्वज के समय मे चीनी यात्री हुएनमाग ने ६४३ ई० मे कर्लिंग की यात्रा की थी, रहा प्रतीत होता है। कर्लिंग देश के हीरक-रेणु तट पर स्थित रत्नपुर या रत्नसचयपुर नाम का एक नगर भी उस युग में था। वही उक्त महाराज हिमशीतल के समक्ष अकलङ्क देव का वह इतिहास प्रसिद्ध शस्त्रार्थ बौद्ध विद्वानों के साथ

अविस्मरणीय वाक्य सप्त शैलाद्रि' आदि है, जिसके अनुसार वह तिथि शक ७७७ (या ८५५ ई०) बैठती है। साहसचतुंग को चीन्हने में उसने अपनी असमर्थता भी स्वीकार की^{११}। तदुपरान्त प्रायः किसी भी विद्वान ने हिमशीतल की इस पहिचान पर सन्देह नहीं किया और अनेको ने ७८८ ई० की तिथि को भी मान्य किया^{१२}।

जहां तक साहसचतुंग की चीन्ह का प्रश्न है, डा० पाठक ने उसका समीकरण पहले राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण प्र० (७५६-७२ ई० के साथ किया था, और डा० स० च० विद्याभूषण ने उनका समर्थन किया था^{१३}। कालान्तर में पाठक ने अपने पूर्वमत में मशोधन करके उसका समीकरण राष्ट्रकूट दन्तिदुर्ग (७४५-५६ ई०) के साथ कर दिया^{१४}। तब से इस पहिचान पर भी किसी विद्वान ने प्रश्न चिन्ह नहीं लगाया—केवल डॉ० अल्लेकर एव डा० उपाध्येय ने उसे एक निराधार अनुमान मात्र माना^{१५}।

उपरान्त काल में कई विद्वानों ने आठवीं शती ई० के उत्तरार्ध वाली (७८८ ई० आदि) तिथि को सर्वथा अस्वीकृत कर दिया और परम्परागत तिथि वि० स० ७०० (ई० ६४३), की सम्भवनीयता की पुष्टि करने का प्रयत्न किया^{१६}। प० कैलाशचन्द्र शास्त्री ने तो स्वयं अकलङ्क तथा उक्त शताब्दियों के अन्य जैन एवं जैनेतर विद्वानों द्वारा किये गये पारस्परिक उल्लेखों आदि के आधार पर उनका पूर्वापर प्रकट करने हुए यह निष्कर्ष निकाला कि अकलङ्क सातवीं शती ई० में ही हुए हैं^{१७}। किन्तु इन सब विद्वानों ने अकलङ्कीय अनुश्रुति के हिमशीतल एवं साहसचतुंग वाले पक्षों का रपशं नहीं किया और न ६४३ ई० की परम्परागत तिथि की ऐतिहासिकता पर ही कोई गवेषणा की।

इन महान आचार्य से सम्बन्धित मूल साधन स्रोतों, अनुश्रुतियों एवं आधुनिकयुगीन चर्चाओं के निरीक्षण-परीक्षण से निम्नोक्त तथ्य उभर कर सम्मुख आते हैं—

अकलङ्कदेव उमास्वामि (प्रथम शती ई०) और समन्तभद्राचार्य (२री शती ई०) के टीकाकार सुविदित हैं, तथा वह श्रीदत्त (ल० ४०० ई०), देवनन्दि-पूज्यपाद (४६४-५२४), सिद्धसेन दिवाकर (५५०-६०० ई०), पात्र-केसरि (५७५-६२५ ई०) और मल्लवादी (६००) ई० के

उल्लेख या उनके उद्धरण आदि अपने ग्रन्थों में देते पाये जाते हैं^{१८}।

जैनेतर विद्वानों में पतञ्जलि के महाभाष्य (ईसापूर्व २री शती), वसुबन्धु के अधिधर्मकोष (ल० ४०० ई०) दिङ्नाग के प्रमाण समुच्चय (३४५-४२५ ई०) और भर्तृहरि के वाक्यपदीय (५६०-६५० ई०) से अकलङ्क अपने ग्रन्थों में उद्धरण देते हैं, उनके मतों की आलोचना करते हैं, अथवा उनका प्रत्यक्ष या परोक्ष संकेत करते हैं^{१९}।

स्वयं अकलङ्क देव के सुविदित टीकाकार हैं—अभयचन्द्र (१२वीं शती), प्रभाचन्द्र (६८०-१०६५ ई०), वादिराज (१०२५ ई०), अनन्तवीर्य द्वि० (ल० ८२५ ई०) और अनन्तवीर्य प्र० (ल० ७२५-५० ई०)। इसके अतिरिक्त, जिनसेनीय आदि पुराण (ल० ८३७ ई०), हरिभद्र-सूरि (ल० ७२५-८२५ ई०) की अनेकान्त जयपताका, जिनसेन पुन्नाट के हरिवंश (७८३ ई०), वीरसेनीय ध्वला टीका (७८० ई०) तथा सिद्धसेनगणि के तत्त्वार्थभाष्य (ल० ७५० ई०) में अकलङ्कदेव का गुणगान, प्रशंसा या प्रत्यक्ष वा परोक्ष उल्लेख प्राप्त हैं^{२०}। जिनदास गणि महत्तर, जिनने अपनी नन्दिचूर्णि शक ५६८ (या ६७६ ई०) में पूर्ण की थी, अपनी निशीथचूर्णि में अकलङ्ककृत सिद्धि-विनिश्चय को एक 'प्रभावक शास्त्र' कहते हैं^{२१}।

अकलङ्क देव की कृतियों का भर्तृहरि (५६०-६५० ई०), कुमारिलभट्ट (६००-६६० ई०) एवं धर्मकीर्ति (६३५-४० ई०) की मूर्तियों के साथ तुलनात्मक अध्ययन करने से लगता है कि जैसे ये सब विद्वान प्रायः समसामयिक एवं दार्शनिक क्षेत्र में साक्षात् प्रतिद्वन्द्वी थे—वे परस्पर आलोचना-प्रत्यालोचना करते प्रतीत होते हैं। अकलङ्क की उनके साथ अल्पाधिक समसामयिकता अवश्य रही लगती है, कम से कम उनके तथा अकलङ्क के मध्य दो-एक दशकों से अधिक का अन्तराल रहा नहीं लगता।

अकलङ्क की परम्परागत तिथि, वि० स० ७०० (या ६४३ ई०) की मान्यता की प्राचीनता कम से कम ६वीं शती ई० मिलती है।

भुवनप्रदीपिका में वह तिथि कलि सं० ११२५ विंशत्य वर्ष के रूप में प्राप्त होती है। एक लोकानुश्रुति के अनुसार कलिसंवत्स का प्रारम्भ प्रथम नन्द नरेश के सिंहा-

सनारोहण से हुआ था और हरिवंश पुराण में सुरक्षित जैन अनुश्रुति उक्त घटना की तिथि विक्रमपूर्व ४२५ सूचित करती हैं। अतएव ११२५ में से ४२५ घटाने पर विक्रम वर्ष ७०० प्राप्त होता है, और उस वर्ष का संवत्सर भी मिलल ही था।

११२८ ई० की मल्लिधेय प्रशस्ति के अनुसार अकलङ्कदेव के एक कनिष्ठ सधर्मा पुष्पसेन थे। जिनके शिष्य महानवादी विमलचन्द्र थे जो कि 'शत्रुभयंकर' नामक किसी नरेश की राजसभा से सम्बद्ध थे। विमलचन्द्र के प्रशिष्य परवादिमल्ल भी भारी वादी एवं तार्किक थे और उनका सम्बन्ध कृष्णराज नामक एक नरेश से था^{३०}। जो विद्वान अकलङ्क को ८वीं शती ई० में हुआ मानते रहे, उन्होंने उक्त दोनों राजाओं को भ्रमवश राष्ट्रकूट गोविन्द तृ० (७६३-८१४ ई०) तथा राष्ट्रकूट कृष्ण द्वि० (८८४-९१४ ई०) के साथ क्रमशः समीकृत करने का प्रयत्न किया^{३१}। उक्त परवादिमल्ल ने न्यायविन्दु पर रचित बौद्ध विद्वान धर्मोत्तर (७२५-४० ई०) के टिप्पण पर अपनी टीका लिखी है^{३२}। और परवादिमल्ल के एक प्रशिष्य को गुजरात के राष्ट्रकूट वायसराय कर्कराज ने शक ७४३-८२१ ई० के ताम्रशासन द्वारा दान दिया था^{३३}। अतएव इन परवादिमल्ल से सम्बन्धित नरेश राष्ट्रकूट कृष्ण प्रथम (७५८-७३ ई०) ही हो सकता है^{३४}। इसी प्रकार, विवक्षित 'शत्रुभयंकर' गंगनरेश श्री पुरुष मुत्तरस (७२६-७७७ ई०) से अभिन्न है। अनेक गग अभिलेखों में इस नरेश का एक विरुद्ध 'अरिभयंकर', जो 'शत्रुभयंकर' का ही पर्यायवाची है, प्राप्त होता है—स्वयं उसके अपने राज्यकाल के एक अभिलेख में जो शक ६९८ (ई० ७७६) में अंकित हुआ था यह विरुद्ध प्राप्त है^{३५}। इस अभिलेख में विमलचन्द्र का भी उल्लेख है और उक्त उल्लेख से प्रतीत होता है कि उक्त आचार्य आठवीं शती ई० के मध्य से पूर्व हुए होने चाहिए^{३६}।

७वीं शती ई० के अन्तिम चरण तथा ८वीं शती के प्रारम्भिक दशकों के कई चालुक्य अभिलेखों में देवगण के किन्हीं 'पूज्यपाद' के शिष्यों एवं प्रशिष्यों के उल्लेख प्राप्त होते हैं और इन पूज्यपाद को अलक्तक नगर (वर्तमान अल्लेम, महाराष्ट्र में) का निवासी रहा सूचित किया गया

है^{३७}। इस विषय में अब तनिक भी सन्देह नहीं है कि इन 'पूज्यपाद' से अभिप्राय अकलङ्क देव का ही है^{३८}। अपनी धवला टीका (७८० ई०) में स्वामि वीरसेन ने भी अकलङ्कदेव का मात्र 'पूज्यपाद' नाम से ही स्मरण एवं उल्लेख किया है तथा उनके ग्रन्थों से उद्धरण दिये हैं^{३९}। अकलङ्कदेव एक महान सघाचार्य थे और वह देवगण (या देवसंघ) से ही सम्बद्ध थे, नन्दि या देशियगण से नहीं^{४०}। उन्हें तथा उनके उत्तराधिकारियों को मुख्यतया वातापी के पश्चिमी चालुक्य नरेशों का सरक्षण एवं राज्याश्रय प्राप्त था, और वे एक प्रसिद्ध ज्ञानकेन्द्र के अधिष्ठाता रहे, जो चालुक्यों की राजधानी वातापी (बादामी) से नातिदूर सभवतया एहोल अथवा उक्त अलक्तकनगर में स्थित था।

अकलङ्कदेव का भक्त 'राजन साहसत्तुग' चालुक्य नरेश पुलकेशिन द्वि० (६०६-४२ ई०) के पुत्र एवं उत्तराधिकारी सम्राट विक्रमादित्य प्रथम (६४२-८१ ई०) से अभिन्न प्रतीत होता है—'विक्रम' शब्द 'साहस' शब्द का पर्यायवाची है, और विक्रमाक, साहमाक, माहसोत्तुग जैसे विरुद्ध इस वंश के, विशेषतः विक्रमादित्य नामधारी नरेशों के साथ, उस काल में भी तथा उनकी उत्तरकालीन कल्याणीशाखा के समय भी, प्रयुक्त हुए मिलते हैं। यह भी एक सम्भावना है कि राष्ट्रकूट दत्तदुर्ग ने, जिसका राज्याश्रय अब ८वीं शती के दूसरे दशक में हुआ माना जाने लगा है, और जिसने उक्त चालुक्यों को परास्त (पराभूत) करके अपना राज्य एवं शक्ति स्थापित की थी। उनका 'साहसत्तुग' विरुद्ध भी अपनाने का प्रयत्न किया हो, अथवा 'साहमाक' को कुछ परिवर्तित करके।

इसी प्रकार अकलङ्कीय अनुश्रुति का राजा हिमशीतल भी कर्लिंग देश का वह नरेश जो 'त्रिकर्लिंगाधिपति' कहलाता था, और जो मूलतः बौद्ध था तथा जिसके स्वयं के अथवा निकट पूर्वज के समय में चीनी यात्री हुएनमांग ने ६४३ ई० में कर्लिंग की यात्रा की थी, रहा प्रतीत होता है। कर्लिंग देश के हीरक-रेणु तट पर स्थित रत्नपुर या रत्नसचयपुर नाम का एक नगर भी उस युग में था। वही उक्त महाराज हिमशीतल के समक्ष अकलङ्क देव का वह इतिहास प्रसिद्ध शस्त्रार्थ बौद्ध विद्वानों के साथ

हुआ था"। वस्तुतः अकलङ्क सम्बन्धी अनुश्रुतियां, ७वीं शताब्दी ई० के मध्य भाग का राजनैतिक इतिहास, उस युग की धार्मिक स्थिति तथा अन्तः साम्प्रदायिक सम्बन्ध चीनी यात्री ह्वेनसांग का यात्रावृत्त, अभिलेखीय साक्ष्य सब का स्पष्ट संकेत यही है कि बौद्धाचार्यों के साथ अकलङ्कदेव का वह इतिहास प्रसिद्ध वाद ७वीं शती ई० के मध्योत्तर एक-दो दशकों के भीतर ही किसी समय कलिंग देश के ग्लसचयपुर में हुआ था, और अपने भक्त जिस राजन् साहमत्तुग की सभा में आचार्य ने उक्त वाद विजय का वर्णन सुनाया था, वह वातापी का चालुक्य सम्राट विक्रमादित्य प्र० (६४२-८१ ई०) ही था।

अनुश्रुति के अनुसार अकलकदेव के गुरु का नाम रविगुप्त था। क्या आश्चर्य है जो वह गुरु चालुक्य पुलकेशिन द्वि० की एहोल० प्रशस्ति (६३४ ई०) के इतिहास प्रसिद्ध कवि शिरोमणि तथा स्वयं राजा के श्रद्धास्पद रविकीर्ति से अभिन्न हो। वह बौद्ध विद्यालय जहाँ अकलङ्क ने बौद्ध दर्शन का अध्ययन किया था, चालुक्य राज्य में ही स्थित कन्हेरी का प्रसिद्ध बौद्ध केन्द्र रहा हो सकता है।

इस प्रकार जैन न्याय के सर्वोपरि प्रस्तोता, वादी-सिंह, देव, देवेन्द्र, पूज्यपाद आदि विरुद्धधारी श्रीमद् भट्टा-

कलङ्कदेव की पूर्वावधि ६४३ ई० और उत्तरावधि अधिक से अधिक ७२० ई० हो सकती है। वे सुनिश्चित रूप से सातवीं शताब्दी ई० के उत्तरार्ध में सक्रिय रहे हैं।

अकलङ्कदेव की भारतीय दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में अप्रतिभ देन के मूल्यांकन के लिए महाकवि धनञ्जय (लगभग ७०० ई०) की नाममाला का प्रसिद्ध श्लोक पर्याप्त है—

प्रमाणमकलङ्कस्य पूज्यपादस्य लक्षणम् ।

धनञ्जय-कवेः काव्य त्रिरत्नमपश्चिमम् ॥

ध्यातव्य है कि इसी 'नाममाला' का एक पद्य स्वामी वीरसेन ने अपनी ध्वला टीका (७८० ई०) में भी उद्धृत किया है"। इसके अतिरिक्त स्वयं अकलङ्कदेव के 'प्रमाण संग्रह' का मंगल श्लोक आठवीं शती ई० से ही शिलालेखों में प्रयुक्त होने लगा और ९वीं आदि आगामी शताब्दियों में तो इतना अधिक लोकप्रिय हुआ कि अत्यल्प परिवर्तन के साथ अनेक शैवादि जैनतर शिलालेखों में भी प्रयुक्त हुआ पाया जाता है। आचार्य प्रवर अकलकदेव के सम्पूर्ण व्यक्तित्व एवं कृतित्व का समुज्ज्वल प्रतीक वह अमर श्लोक है :—

"श्रीमत् परमगंभीर स्याद्वादामोघलांछनं ।

जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिन शासनम् ॥"

सन्दर्भ-सूची

१. देखिए—ज्यो० प्र० जैन जैनासोमंज आफ दी हिस्ट्री आफ एन्सेन्ट इंडिया (दिल्ली १९६४), पृ० १६३।
२. वही।
३. देखिए—शोभाङ्क-१ (१७ जुलाई ५८) पृ० १३-१५, जहाँ हमने अकलक नाम के बीस विभिन्न गुरुओं का परिचय दिया है तथा देखें—न्यायकुमुदचन्द्र, भा० १, प्रस्तावना पृ० २५।
४. ज्यो० प्र० जैन, पूज्यपाद आफ दी चालुक्यन रेकार्ड्स जैना एन्टीक्वेरी, भा० १६, न० १, पृ० १६ आदि।
५. डा० स० च० विद्याभूषण, ए हिस्टरी आफ दी मेडिकल स्कूल आफ इंडियन लाजिक, तथा न्यायकुमुदचन्द्र, (भा० १ व २) अकलक ग्रन्थत्रय एवं तत्त्वार्थ राजवातिक की प्रस्तावनाएं।

६. वही, ११३८ ई० के एक शि० ले० (एपी० कर्णा०, भा० २, न० ९७, पृ० १७) में तो इनके विषय में कहा है कि जो 'जिनशासन प्रारम्भ से ही बेदाग रहता आया था, वह अब और अधिक निर्मल रूप में देदीप्यमान हो उठा।'।

७. जीयाच्चिरमलङ्क ब्रह्मा लघुह्रस्व नृपति वरतनयः ।

अनवरतनिखिलविद्वज्जन नुतविद्यः प्रशस्तजनहृद्यः ॥

—देखिए हीरालाल, कंटे मैनुस्क्रिप्ट्स भूमिका पृ० २६

८. देखिए, एपी० कर्णा०, भा० २, भूमिका पृ० ४८, ८४, फ्लोट, डायनेस्टीज आफ कनारीज डिस्ट्रिक्ट्स (प्र० सं०), पृ० ३२-३३; आर० नरसिंहाचर, इन्स० एट श्र० बे० गो० (द्वि० सं०), भूमिका।

तिथ्यांकित पद्य—

- विक्रमाक शकाब्दीय शतसप्त प्रमाजुषि ।
कालेऽकलकयतिनो बौद्धवादो महानभूत ॥
६. एम० ए० आर०, १६२३, पृ० १५ (१०वीं शती),
एपी० कर्णा०, भा० २, न० ६४, पृ० १७ व न० ६७
आदि । ग्रथकारो मे प्रभाचन्द्र, श्रीचन्द्र, वादिराज,
अजितसेन, अजितब्रह्म, शुभचन्द्र आदि ।
१०. एपी० कर्णा०, भा० २, न० ६७ पृ० २७, थ्र० बे०
गो० इन्सीक्र० न० ५४ आफ ११२८ ई० ।
११. हीरालाल, के० मेनुस्क्रिप्ट्स भूमिका पृ० २६ व १६,
यह कथाकोश अब भा० ज्ञा० पीठ से प्रकाशित है ।
१२. देखिए, राईस, मैसूर एण्ड कुर्ग, पृ० २००-२०१;
एम० ए० आर०, १६१८, पृ० ६८ ।
१३. प्रणस्ति सग्रह (आरा, १६४२), पृ० १ ।
१४. पीटरसन रिपोर्ट न० २, पृ० ७६, अल्तेकर, राष्ट्र-
कूटाज एड देयर टाइम्स, पृ० ४०६ ।
१५. क० मेकेंजी-कलेक्शन आफ मेनुस्क्रिप्ट्स (कंट०,
भा० ३, पृ० ४२३-३६) ।
१६. दी मेकेंजी-कलेक्शन, भूमिका पृ० ८० ।
१७. क्लासीफाईड कंट० आफ तमिल प्रिन्टेडबुक्स १८६५,
पृ० ६५-६६ ।
१८. ए स्कैच आफ दी डायनेस्टीज आफ माउथ इंडिया,
पृ० ७३ ।
१९. इन्स० एट थ्र० बे० गो० (बंगलोर १८८६), भूमिका
पृ० ८५, मैसूर इन्सक्रि० पृ० ५६, पण रामायण,
पृ० ३,—राईस को तिथि सूचक श्लोक का कोई
ऐसा पाठ प्राप्त हुआ प्रतीत होता है जिसमें 'मत्त-
प्रमाजुषि' के स्थान में 'सप्तर्षि' शब्द रहे ।
किन्तु यदि उक्त पाठ में कुछ सत्याश है तो उसे
विक्रम सबत् का वर्ष ही मानना उचित था । अर्थात्
१८० स० ७७७=सन् ७२० ई०, और तब वह अक-
लकदेव की अन्तिम उत्तरावधि का सूचक हो सकता है
२०. इस तिथि को न मान्य करने वालों में—एम० के०
आयगर ८५५ ई० के पक्ष में रहे (एन्क्वायर् इंडिया पृ०
२६६), आर० जी० भंडारकर ७७८ ई० के (रिपोर्ट
१८८६, पृ० ३१), स० च० विद्याभूषण ७५० ई०
के (हिस्ट० मेडि० इंडि० लाजिक पृ० २६), नाथूराम

- प्रेमी . ५३-७५ ई० (जन हितैषी भा० १२, पृ० ७-
८), के० बी० पाठक ७४४-८२ ई० (एनल्स बी०
ओ० आर० आई०, भाग ११, न० २, पृ० १५३),
अल्तेकर ७८० ई० (राष्ट्रकूटाज पृ० ४०६), महेंद्र-
कुमार न्यायाचार्य (न्याय० कु० च० भा० १, प्रस्ता०)
७२०-८० ई० के पक्ष में रहा ।
२१. डा० स० च० विद्याभूषण पूर्वोक्त पृ० २६ ।
२२. जर्नेल भंडारकर ओ० रि० इ०, भा० ११, न० २,
पृ० १५५ ।
सन् १६०५ में ही मद्रास के गवर्नमेंट एपीमेचिस्ट ने
रामेश्वर मन्दिर के शि० ले० में उल्लिखित 'साह-
सत्तुग' का आशय राष्ट्रकूट दन्ति दुर्ग में हो सकता
है । यह सम्भावना व्यक्त की थी और यह भी कि
सम्भवतया अकलकीय अनुश्रुति का साहसत्तुग भी वही
नरेश है (एपी रिपोर्ट, गवर्न सरकिल फार १६०५,
पृ० ८६) । इस तिथि रहित, खंडित एवं त्रुटित अभि-
लेख को जो दन्ति के समय से कम से कम दो सौ
वर्ष पश्चात् अंकित कराया गया था । डा० बी० ए०
सालतोर ने अपना आधार बनाकर साहसत्तुग का
समीकरण राष्ट्रकूट दन्तिदुर्ग के साथ कर दिया (दी
एज आफ गुरु अकलक-जर्नेल बाम्बे हिस्टोरिकल
सोसायटी भा० ६, पृ० १०-३३) ।
२३. अल्तेकर पूर्वोक्त पृ० ४०६, उपाध्ये, जर्नेल भंडारकर
ओ० रि० इ०, भा० १८ पृ० १६८ ।
२४. एम० श्रीकठ शास्त्री ६४५ ई०—(जर्नेल भंडारकर
ओ० रि० इ०, भा० १८, न० ३, पृ० २५५), आ०
जुगलकिशोर मुकुनार—६८० ई० (स्वामी समन्तभद्र,
पृ० १२५), ए० एन० उपाध्येय, ७वीं शती ई० का
अन्तिम पाद (जर्नेल भंडारकर भा० १८, पृ० १६८,
पृ० नो०) ।
२५. न्यायकुमुदचन्द्र भाग २, प्रस्तावना ।
२६. वही, तथा उमी के प्रथम भाग को, अकलक-ग्रन्थत्रय
की व राजवातिक की प्रस्तावनाएँ, एस० सी०
घोपाल की परीक्षामुखम् की भूमिका, पाठक एवं
विद्याभूषण के पूर्वोक्त सदर्भ आदि ।
२७. वही । २८. वही । [शेष पृ० १२ पर]

“रूपशतक” एक अनूठी आध्यात्मिक कृति

□ श्री कुन्दनलाल जैन प्रिन्सिपल

मेरे पास ‘बनारसी विलास’ की एक प्राचीन हस्त-लिखित पोथी है जो २३ से० मी० लम्बी १४.१/२ से० मी० चौड़ी है। यह तीन चरणों में लिखी गई है अतः तीनों का लिपिकाल भिन्न-भिन्न है। प्रथम चरण में कविवर बनारसीदाम कृत “समय सार कलश नाटक” है जो कार्तिक सुदी तृतीय गुरुवार स० अर्कादागत्य त्यष्टि (समभवतः १७०० हो स्पष्ट नहीं समझ सका) को श्रीलाभ-वर्द्धन मुनि ने लिपि की। द्वितीय चरण में अमृतचंद स्वामी की समयसार की संस्कृत टीका है जो माघ सुदी...रवि-वार स० १७२३ में प० परमानंद ने लिपि की और तृतीय चरण में कविवर बनारसीदास कृत मभी रचनाएँ ‘बनारसी विलास’ के नाम से अंकित हैं जो कार्तिक सुदी १४ स० १७३२ में प० परमानंद ने लिपि की। इनकी लिपि बड़ी सुन्दर और सुवाच्य है, पृष्ठ मात्रा का प्रयोग किया गया है, लाल स्याही भी प्रयुक्त है। अंतिम चरण की लिपि में प्रति पत्र ३३ पक्तियाँ हैं तथा प्रत्येक पक्ति में २७ अक्षर हैं।

इस पोथी का सबसे बड़ा महत्व यह है कि कवि बनारसीदास एव प० रूपचन्द्र जी की मृत्यु के बाद क्रमशः ३२ और २६ वर्ष बाद की लिखी हुई है। अतः अन्य पोथियों की अपेक्षा अधिक प्रामाणिक और विश्वसनीय कही जा सकती है। इसी पोथी के प्रथम और द्वितीय चरण के बीच खाली छूटे कुछ पत्रों में से तीन पत्रों अर्थात् पाँच पृष्ठों पर प्रस्तुत “रूपचंद शतक” नामक श्रेष्ठ कृति अंकित है। यह कृति ‘बिहारी शतक’ के दोहों की भाँति बड़ी गंभीर और अर्थ परक है, चूँकि ‘बिहारी शतक’ शृंगारी रचना है अतः हिन्दी में पर्याप्त प्रसिद्ध हो गई है और यह आध्यात्मिक रस से सराबोर है अतः इसे उतनी अधिक ख्याति न मिल सकी। इसके दोहे सतसैया के दोहरों की भाँति छोटे पर अत्यधिक गंभीर और आध्या-

त्मिक हृदय को भेदने वाले हैं।

यद्यपि कवि रूपचंद जी ने अपने शतक में अपना परिचय नहीं दिया है अतः स्पष्ट रूप से कुछ कहना कठिन है पर चूँकि ‘बनारसी विलास’ के बीच के पत्रों में इसे स्थान प्राप्त है और रूपचंद नाम से अलंकृत है अतः यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि यह कृति कविवर बनारसीदाम के गुरु प० रूपचंद जी द्वारा रचित है, इस कृति को किन्हीं पोथियों में ‘दोहा शतक’ या ‘परमार्थ शतक’ नाम से भी उल्लेख किया है पर ‘रूप शतक’ या ‘रूपचंद शतक’ के नाम से यह पहला ही उल्लेख देखने को मिला है।

पूर्ववर्ती विद्वान स्व० पं० नाथूराम जी प्रेमी तथा श्री कस्तूरचंद जी कासलीवाल रूपचंद नाम के दो विद्वान मानते हैं एक रूपचंद दूसरे रूपचंद पाडे। पर, परवर्ती विद्वान स्व० प० नेमीचंद जी ज्योतिषाचार्य तथा स्व० प० परमानंद जी शास्त्री इन दोनों को एक ही व्यक्ति मानते हैं। ‘अर्धकथानक’ के प्रकरणों से भी यही ज्ञात होता है कि दोनों एक ही हैं; कहीं उन्हें रूपचंद तथा कहीं उन्हें पाडे उपाधि से अलंकृत रूपचंद लिखा है। कहीं प० रूपचंद भी लिखा है। वे स० १६६० में आगरे गधारे थे और तिहुना के मंदिर में ठहरे थे, वे दरियापुर (बाराबंकी) भी गये थे।

यही रूपचंद जी कविवर बनारसीदास के परम आदरणीय गुरु थे इन्हीं द्वारा गोमटसार के प्रवचन और उपदेश सुन बनारसीदास जी दिगम्बरत्व की ओर आकर्षित हुए थे और ‘समयसार नाटक’ जैसी सर्वोत्कृष्ट आध्यात्मिक कृति जैन हिन्दी साहित्य को समर्पित कर सके। इसके अतिरिक्त बनारसीदास जी की और बहुत सी छोटी मोटी रचनाएँ हैं जिनका संकलन स० १७०१ में श्री जग जीवन ने ‘बनारसी विलास’ नाम से किया है।

प० रूपचन्द जी का जन्म कुह देश के सलेमपुर नामक ग्राम मे स० १६४० के लगभग हुआ था, ये गर्ग गोत्रिय अग्रवाल थे इसके बाबा मामट और पिता का नाम भगवानदास था। भगवानदास की दो पत्निया थी जिनमे से एक से ब्रह्मदास नामक पुत्र का जन्म हुआ था और दूसरी से हरिराज, भूपति, अभयराज, कीर्तिचन्द और रूपचन्द ये पांच पुत्र उत्पन्न हुए थे। यही रूपचन्द जी हमारे ‘रूप शतक’ या ‘रूपचन्द शतक’ के कर्ता है। चूँकि रूपचन्द जी जैन सिद्धान्त के मर्मज्ञ विद्वान् थे और भट्टारकीय परम्परा से सन्निधित थे अतः इन्हें ‘पाण्डे’ की उपाधि से अलंकृत किया गया था। इनकी मृत्यु स० १६९४ में हो गई थी। इनकी कई रचनाएँ उपलब्ध हैं जो आध्यात्म रस से पगी हुई हैं और सैद्धान्तिक चर्चाओं की अगाध भण्डार हैं। १. रूप (रूपचन्द) शतक (दोहा शतक परमार्थ दोहा शतक, दोहा परमार्थ इत्यादि) २. गीत परमार्थ या परमार्थी गीत ३. अध्यात्म सवैया ४. खटोलना गीत ५. पंचमंगल या मंगल गीत प्रबन्ध ६. फुटकर पद ७. परमार्थ हिंडोलना ८. तत्त्वार्थसूत्र भाष टीका ९. नेमिनाथ रासो १०. आध्यात्मिक जकड़िया ११. समवशरण पूजा पाठ १२. पंच कन्याण पूजा पाठ आदि-आदि। इनमें से अन्तिम दो कृतियाँ सम्स्कृत की सुषुप्त रचनाएँ हैं। रूपचन्द कृत समय सार भाषा का भी उल्लेख मिलता है पर यह रचना स० १७०० की है अतः यह कोई दूसरे रूपचन्द होंगे क्योंकि प्रस्तुत प० रूपचन्द जी का देहावसान तो स० १६९४ में ही हो गया था। प्रस्तुत ‘रूप शतक’ बहुत ही सुन्दर और सरस है दोहा जैसे छोटे छंद में कवि ने आध्यात्म एवं निश्चय व्यवहार आदि नयों की सैद्धान्तिक चर्चा का बड़ी गंभीरता पूर्वक चित्रण किया है। पढ़कर मन प्रफुल्लित हो जाता है, आइए आप भी इसका रसास्वादन करें।

दोहा

अथ रूप शतक लिख्यते।

अपनी पद न विचार हो अहो जगत के राइ।

भव बन छाये कहा रहे शिवपुर सुधि बिसराइ।१।

भव बन चेतन बसत ही बीते काल अनादि।

अब किन घर सभारि हो कित दुःख देखत वादि।२।

परम अतिन्दी मुख सुनै तुमहि गयी सु भुलाइ।

किञ्चित् इन्दी मुख लगे विषय विरह लुभाइ।३।

विषयन सेवत हू भलै तिसना तो न बुझाइ।

ज्यू खारा जल पीवतै बाटै तिस अधिकाइ।४।

तिसना उपशम कारन विषयन सेवत आइ।

मृग वपुरा प्यासनि मरै ज्यू जल धोखो खाइ।५।

चेतन तुम भरमत भए रहे विषय सुखमानि।

ज्यो कपि शीत विषा मरै तापै गुजा आनि।६।

विषयन सेवत बुख भजै सुख व तिहारे जानि।

अस्थि चबनि निज रुधिर तै ज्यू सच मानै स्त्रान।७।

जिन ही विषयन दुख दियो तिनही लागन धाइ।

माता मारे बाल ज्यो वह उठ पग लपटाइ।८।

विषयन सेवन दुख बढै देखहु किन जीउ जाइ।

खाज खुजावत ही भलै फिर दुख दूनो होइ।९।

मेवत विषय लगे भलै अन्त करहि अपकार।

दुरजन जन की प्रीति ज्यो जब तब होइ विकार।१०।

सेवन ही मधुरे विषय करए हीहि निशान।

विषफल मीठे खात ज्यू जन्त हरहि निज प्राण।११।

सबि विषय तुम आपुन लीयो अनर्थ विमाहि।

आपुनो आपन बधि रहे ज्यो क्रिम कोठा माहि।१२।

चेतन तुम डहकाइ दे विषय सुखनि बोराइ।

रतन लियो मिमू पास तै ज्यो कछु इक दे माइ।१३।

लागन विषय सुहावने करत जु तिनमो केलि।

चाहत हां तुम कुशल ज्यो बालक फान सो खेलि।१४।

विषयन सेवन सुख नही कष्ट भलै ही होइ।

चाहत ही कर चीकनो निरविग सलिल बिलोइ।१५।

देखि जु विषय सुहावने चाहत है सुख सैइ।

ज्यो बालक विषफल भखै बरजै पर हंस लेइ।१६।

विषयन के दुख जरत हो विषयन ही सो रग।

दीपक देखि सुहावनी ज्यू हठ जरत पतग।१७।

चेतन तुम जु परम दुःखी तानै विषय सुहात।

भूख मरत ज्यू स्वाद तै मूढ़ करेला खात।१८।

विषयन मन में राखिके रहै प्रतीति जु भानि।

घर भीतर ज्यू फनि बसै जब तब पूरी हानि।१९।

विषय भिलाष न छडिही क्रिया करत मन भाइ।

घर ही में बटवा परे बाहिर राखत काय।२०।

विषयन की परनीति में सोबत कहा न चीत।

घर जु तुम्हारी लूटियो जागत काहि न मीन । १२१।
 विषयन की मनमा किये हाथ पर कछु नाहि ।
 ज्यो सेंवल सेवै सुआ उडै तूल फल माहि । १२२।
 जैसी चेतन तुम करी ऐसी करै न कोय ।
 विषय मुखनि के कारनै बँटे सर्वस खोय । १२३।
 चेतन मरकट मूढ ज्यो वाध्यो परसो मोहि ।
 विषय गहन छूटै नही मुकत बात कैसे होहि । १२४।
 चेतन तुम जु पढ़ै सुआ, लटके भवद्रुम कूलि ।
 विषय करहि किन छडिहौ कहा रहे भ्रम भूलि । १२५।
 सुख लग विषय भजौ भलै सुख की बात अगाध ।
 काजी पियै न पूजियै सुरहि दूध की साध । १२६।
 निज सुख छत सेवत विषय चेतन यही समान ।
 घर पंचामृति छडिकै मांगन भीख अयान । १२७।
 सुख स्वाधीन जु परिहरै विषयनि परि अतिराग ।
 कमल सरोवर छडिकै घट जल पीवै काग । १२८।
 सेवत विषय अनादि तै तिसना तो न बुझाइ ।
 ज्यु जलतै सरिता पति ईधन सिख अधिकाइ । १२९।
 चेतन सहजहि सुख बिना यह तिसना न बुझाई ।
 मेघ सलिल बिन ऊमतै ग्रीषम तपति न जाइ । १३०।
 चेतन तुमहि न बूझीए करत विदेश विहार ।
 ताकै कहा अब चाहियै जाकै रतन भडार । १३१।
 चेतन तुमहि कहा भयो घर छाड़े बेहाल ।
 संग पराये फिरत ही विषय मुखनि के छ्याल । १३२।
 बडे करे तुम धापियऊ करत नीच के काम ।
 पर घर फिरत जु लघु भये बहुत धराए नाम । १३३।
 अपने ही घर सब बडे पर घर महिमा नाहि ।
 सिव के अरु भव के न रहे फेर कितौ इह माहि । १३४।
 सिव छड़े भव ही मतै अब है तुम्हारी ग्यान ।
 राज तजै भिक्षा भयै सो तुम कियो कहान । १३५।
 चेतन तुम प्रभु जगत के रंक भए बिललात ।
 बैठि चौक तजि चाट हो तिन सौ क्यु न लजात । १३६।
 चेतन तुम हो कहा सदी रत्न त्रय निधि दावि ।
 रहे दीन हूइ कृपन जिम कहा वहै फल सावि । १३७।
 प्रथम अचेत अरु असुचि जो करै मिले में हानि ।
 चेतन तन में बसत हो कहा भलाई जानि । १३८।
 तन की संगति जरत हो चेतन दुःख सो आप ।

भाजन सगि सलिल तपै ज्यों पावक आताप । १३९।
 क्षीर नीर ज्यु मिल रहै को न कहै तन और ।
 चेतन तुम सा मझतन ही होत मिलै में चोर । १४०।
 भिन्न भयो भीतर रहे बाहर मिल्यौ तो काइ ।
 पर परतीति न मानिये शत्रु न चूकै दाव । १४१।
 पर की संगति तुम गहै खोई अपनी जात ।
 आपा पर न पिछ, न हो रहे प्रमादनि मात । १४२।
 सहज प्रकृति तुम परहरी पकरी पर की वानि ।
 प्रकृति फिरै जब पुरुष की होइ सर्वथा हानि । १४३।
 जो कछु करै सो पर करै करै तुम्हारी छाह ।
 दोष तुम्हारे सिर चढै तुम कछु समझत नाहि । १४४।
 परसो सग कहा कियो पर सौ आश्रव होइ ।
 सवर पर के परिहरै विरला वृक्ष कोइ । १४५।
 पर सजोगतै बध है पर वियोग तै मोख ।
 चेतन पर के मिलन मे लागत है सब दोष । १४६।
 चेतन तुम जु सुजान हो जड सो कहा सनेह ।
 जान अजानहि क्यो मिले मेरे मन सदेह । १४७।
 अपनो ही अपनो भलौ और न अपनो कोइ ।
 कोकिल काग जु पोसिये काग न कोकिल होई । १४८।
 स्व पर विवेक है नही तुमे पर सो कहत जु आप ।
 चेतन मति विभ्रम भई रज्जु विषे जिम साप । १४९।
 चेतन तुम बेसुध भए गयो अपनपो भूलि ।
 काहू तेरे सिर मनो मेली मोहन धूलि । १५०।
 मोहे मम तुम आपको जानत हो पर दब ।
 ज्यो जनमा तू कनक को कनकहि देखे सर्व । १५१।
 भ्रम तें भूल्यो अपनपो खोजत किन घट माहि ।
 बिसरी वस्तु न कर चढै जो घर ढूँढ़हि नाहि । १५२।
 घट भीतर सो आप है तुमहि नही कछु यादि ।
 वस्तु मुठि में भूलिकै इत उत खोजत वादि । १५३।
 पाहन माहि सुबर्न ज्यु दारु विषै हुत भोज ।
 त्यु तुम व्यापक घट विषै देख करो किन खोज । १५४।
 पुहुपनि विषै सुवास ज्यों तिलनि विषै ज्यु तेल ।
 त्यु तुम घट में रहत हो जिन जानहु यह खेल । १५५।
 दर्शन ज्ञान चरित्र मय वस्तु बसै घट माहि ।
 मूरख मरम न जानही बाहिर खोजन जाहि । १५६।
 दर्शन ज्ञान चरित्र मय वचनहि मात्र विसेस ।

दहन पचन अरु तपन ज्यों अग्निनिहि आहि असेस ।५७।
दर्शन वस्तु जु देखिए अरु जानि ये मुख्यान ।
चारिन धिरता तहि विषे तिहुं प्रगटे निरबान ।५८।
रत्नत्रय समुदाय बिन, साध्य सिद्धि कहूं नाहि ।
अध पगु अरु आलमी जुदे जरहि दौ माहि ।५९।
दर्शन ज्ञान चरित्र के गहिये वस्तु प्रमान ।
पीरो भारी चीकनी ज्यो कचन पहिचान ।६०।
एक जु ज्ञायक वस्तु है माधुर साधक सोइ ।
निर विकल्प दोई भोचिए सिद्धि सर्वथा होइ ।६१।
दर्शन ज्ञान चरित्र ए तीनू साधक रूप ।
ज्ञायक मात्र जु वस्तु है ताहि को जु सरूप ।६२।
प्रति विषयनि प्रति मति विषे प्रतिभासे जो कोइ ।
अद्वितीय आनंदमय वस्तु प्रवानहि सोइ ।६३।
अपने रस ज्यो लो न निज्ये विश्व विषे चिद्रूप ।
मुद बोध आनंद मय जानहु वस्तु सरूप ।६४।
भोग गयो गलि मूमि में जाग्रिम अवर होइ ।
गुरुपाकार सुज्ञान में वस्तु न जानै कोइ ।६५।
वस्तु मुद चैतन्य मय लिपे छिपे कहू नाहि ।
जद्यपि नव तत्त्वनि मिली मिले न काहू माहि ।६६।
नन मन वचन अगम्य है इन्द्रिननै हों दूरि ।
वस्तु सु अनुभव ज्ञान के गम्य कहै जिन सूरि ।६७।
वस्तु सुज्ञानहु जाहि विषे गुन परजे सह बास ।
अरु जहा सतत ही रहे थिनि उत्पत्ति बिनास ।६८।
सहभावी गुन जानिए वस्तु विधान जु कोइ ।
क्रमवर्ती पर्याय है वस्तु विकार जु सोइ ।६९।
उपजे बिन जो ऊपजे नासै बिनु जु नमाई ।
जैसे कू तैमो रहै वस्तु सु प्रति पर्याय ।७०।
नित्य अनित्यादिक विविध धर्ममयी नर आहि ।
झगरत विमतिनि रूपिके अध दत विधि ताई ।७१।
नय विभाग बिनु अन्ध तै कलपन जुगन बनाइ ।
वस्तु सरूपनि जानिहि मरन बहिर मुख घाइ ।७२।
अनेकांत नै वादिनी जिनवानी जु रमाइ ।
नित्य अनित्यादिक कथा ताके हिरदै ममाइ ।७३।
जिनवानी नै भेद के थापि जुदो इक पक्ष ।
ता बिनु मुनि जन मोहू कू लखै सुवस्तु अलक्ष ।७४।
विजन परजे नित्य ज्यो निश्चयनय ममवाय ।

विवहार नय सुवस्तुहि छिनक अर्थ पर्याय ।७५।
निश्चय नय जो वस्तु है ज्ञायक रूपी एक ।
दर्शन ज्ञान चरित्र के व्यवहारें सु अनेक ।७६।
फास रहित रस रहित है गंध रहित जु रूप ।
अह प्रतीति जु मानिए वस्तु जु ज्ञायक रूप ।७७।
अमूर्तीक स्वभाव के निश्चय नय सुविचार ।
मूर्तीक सौ बंध ता वस्तु कहू यो व्यवहार ।७८।
लोक प्रमाण प्रदेस तै वस्तु सुनिश्चय रूप ।
सकुचनि पसरनि देह मम सो व्यवहार निरूप ।७९।
निश्चय नय नय परभाव को कर्ता भोक्ता नाहि ।
विवहारें घट कार ज्यो मुकरें भुगतै ताहि ।८०।
मुद निरजन ज्ञान में निश्चय नय जे कोइ ।
प्रकृति मिलै व्यवहार को गम्य निरूपि सोइ ।८१।
निश्चय मुक्त सुभाव नै बंध कहू यो व्यवहार ।
एवमादि नै जुगन के जानहु वस्तु विचार ।८२।
निश्चय नय परमत्त जो अरु अप्रमत्त न होइ ।
गुन सगै व्यवहार के पारवि ज्ञान किमोर ।८३।
नय प्रमाण निक्षेप के परखि गहो निज वस्तु ।
चिन्तामनि ज्य कर चहै त्यू कर नई ममम्त ।८४।
जहि देखे गव देखिए जानै मय जहि जान ।
जहि पाये सब पाईए लेहु ताहि पहिचान ।८५।
चेतन के परिचय बिना जप तप सबै निरत्य ।
कन बिन तुम खुस फटकत आवै कछु न हत्य ।८६।
चेतन के परिचय नही कहा नए व्रतधारि ।
मानि विहूने चेत की वृथा बनावन बारि ।८७।
ना लागि सर्वस रूचत है अरु सब विषे कहान ।
जो लग चेतन तत्व है नही कहू पहिचान ।८८।
बिना तत्व परिचय लगन अपरभाव अभिराम ।
तम और रस रूचत है अमृत न भाख्यो जाम ।८९।
सुनै परचाए अनुभवे बार बार परभाव ।
कबहू भूलि न परनए ज्ञायक मुद सुभाव ।९०।
कहां कहा भैरव तुम्है मुर नर पद की गिद्धि ।
पर कबहू भूलि न भई चेतन केवन सिद्धि ।९१।
अनादि दरसन मोहू नै रहो न मम्यक दृष्टि ।
चेतन ताके तत्व मो भई न कबहू दृष्टि ।९२।
जब लगु मोह न उपमर्मे महर्जाह कर लहिपाइ ।

तब लगु निरमल दिष्टि बिनु तत्व पिछान न जाइ । ६३।
 ग्रंथ पढै अरु तप तपै सहै परीसह साहु ।
 केवल तत्व पिछान बिनु ही कहूं निर्वाहु । ६४।
 चेतन तुम जु अनादि तैं कर्म कर्ममहि फेटि ।
 समल अमल जल ज्यौ भए सहज सुभाव हि मेटि । ६५।
 भेद ज्ञान अब कतक फल सद्गुरु दयो लखाइ ।
 चेतन निर्मल तत्व यह समल वके तक थाइ । ६६।
 गुरु बिन भेद न पाइये को पर को निज वस्तु ।
 गुरु बिन भव सागर विषै परत गहै को हस्त । ६७।
 जो गुरु गुन भेदहि सही तो जन हो इम सिद्धि ।
 लोहा कंचन होइ जिम कचन रस के बिद्धि । ६८।
 गुरु माता अरु गुरु पिता गुरु बाधव गुरु मित्त ।
 हित उपदेसै कवल ज्युं बिकासवै जन चित्त । ६९।

रूपचंद सदगुरुन की जनु बलिहारी जाइ ।
 आपुन वे सिवपुर गए भव्यन पंथ दिखाइ । १००।
 गुरु न लखाई मैं लखी वस्तु भली पर दूर ।
 मन सरसी सम नाल ज्युं सूत्र रहो भरपूर । १०१।
 इति रूपचंद शतक समाप्तम् । श्री ।

तीन पत्र पांच पृष्ठ । लम्बाई २३ से० मी० चौड़ाई १४। से० मी० पक्तियां ३३ अक्षर २७ (प्रति पत्र)

कार्तिक सुदि तृतीय गुरुवार सं० अर्कादाकृत्यत्यष्टि
 लाभवर्द्धन मुनि व्यलिखत ।

त्रिद्विसप्तदशे वर्षे (१७२३) माघ सुदी रबी लिपि
 परमानदेन । कार्तिक सुदी १४ सं० १७३२ वर्षे प०
 परमानन्देन लिखत — श्रुत कुटीर, ६८ कुन्ती मार्ग,
 विश्वासनगर, शाहदरा दिल्ली-११००३२

[पृ० ७ का शेषांश]

२९. देखिए, न्या० कु० च०, भा० २, प्रस्तावना; मुख्तार,
 पुरातन जैन वाक्य सूची, प्रस्तावना पृ० ११०;
 सन्मति तर्क, प्रस्तावना, पृ० ३५-३६, जैसलमेर
 भंडार सूची (बडौदा), पृ० १८। सन् ६७६ ई० मे
 ही रचित जीतकल्पचूर्ण की श्रीचन्द्रसूरि द्वारा
 लिखित वृत्ति मे भी उक्त सदर्थ प्राप्त है ।
३०. एपी० कर्णा०, भा० २, न० ६७, पृ० २७-२८; भाग
 ८, न० ३५, पृ० १३८-४२ ।
३१. बी० ए० साल्तोर, मेडिबल जैनज्म, पृ० ३६-३७,
 एपी० कर्णा०, २, न० ६७, भूमिका पृ० ४८ ।
३२. विद्याभूषण, पूर्वोक्त, पृ० ३४, पुरातन जैन वाक्य
 सूची, प्रस्ता० पृ० १८६; वर्षा० अभिग्रथ पृ० २०४ ।
२३. एपी० इंडिका, भाग २१, न० २२, पृ० १३३ आदि ।
३४. देखिए हमारा लेख— 'परवादि मल्लदेव और कृष्ण-
 राज', शोधांक—१२ (३१-८-६१) पृ० ३६-४२ ।
३५. एपी० कर्णा०, भा० ४, नागर ८५, पृ० १३५-३६
 तथा भूमिका पृ० ६, मेडि० जैनज्म, पृ० ८८, १५५;
३६. देखिए हमारा लेख— 'विमलचन्द्रीय अनुश्रुति का
 'शत्रुभयंकर', शोधांक ११ (१-६-६१), पृ० २-४ ।
३७. इंडियन एन्टीक्वेरी, भा० १२, पृ० १६-२१; भा०
 ७ पृ० ११२; भा० ३० पृ० १०६, डी० सी० सर-

- कार, सक्मेसर्स आफ सातवाहनाज, पृ० ३००, मेडि०
 जैनज्म, पृ० ४१-४२; जैना एन्टीक्वेरी भा० १३,
 न० २, पृ० ३३; एम० ए० आर०, १६२१, पृ०
 २३-२४ ।
३८. देखिए हमारा लेख—पूज्यपाद आफ दी चालुक्यन
 रेकार्ड्स, जैना एन्टीक्वेरी, भा० १६, न० १, पृ०
 १६-२०, भा० २०, न० २, पृ० १-८ ।
३९. वही ।
४०. देखिए—हरिवंश पुराण (२/३१); भंडारकर की
 सूची, १८८६, पृ० ३१; न्यायकु० च०, भा० १ व
 २ तथा अकलंक ग्रन्थत्रय की प्रस्तावनाए ।
४१. देखिये, ज्यो० प्र० जैन—'दी त्रिकलिगाधिपति आफ
 हुएनसांग्स टाइम्स एंड किंग हिमशीतल आफ अकलक
 ट्रेडीशन, जर्नल यू० पी० हिस्टोरिकल सोसायटी,
 भा० ३, (न्यू सीरीज), अक २, पृ० १०८-१२५ तथा
 ज्ञानोदय, नवंबर ५० एब जनवरी, फरवरी, मार्च
 ५१ के चार अंक ।
४२. ज्यो० प्र० जैन, 'दी जैना सोसैज'—पूर्वोक्त, पृ०
 १८३ ।
४३. देखिये हमारा लेख—शोधांक ४ (१६ जुलाई ५६)
 पृ० १३०-१३३ ।

॥ इति ॥

स्वयंभू की भाषा और देशी तत्त्व

□ डॉ० देवेन्द्रकुमार जैन

देशी तत्त्व का प्रश्न, स्वयंभू की भाषा का ही नहीं, समूची भारतीय आर्य भाषा का प्रश्न है। भाषा जब क्षर रूप (बोल चाल के रूप) से अक्षर रूप (लिखित रूप) में आती है, तब यह प्रश्न उठता है? लिखित रूप स्थिर रहता है, जबकि बोल चाल का रूप बदलता रहता है। लिखी गई भाषा से बोली गई भाषा, जब बहुत दूर जा पड़ती है, तो वह देशभाषा बन जाती है। भारतीय आर्य-भाषा का उद्गम, जिस बोली से हुआ, वह भारतमूलक आर्यों की अपनी बोली थी, आग्नेय आर्यों की भाषा भारत ईरानी की टहनी थी, यह विवाद यहाँ अप्रासंगिक है। वह जो भी रही हो, उसका पहला लिखित रूप ऋग्वेद की साहित्यिक भाषा है। पाणिनि ने जिस भाषा का व्याकरण लिखा, उसे उन्होंने वेदभाषा की तुलना में लोकभाषा कहा है। लोकभाषा यानी देशभाषा, लेकिन वह क्षेत्रीय दृष्टि से अविभाजित भाषा है। बोल चाल की भाषा बदलती है, बदलते-बदलते लिखित भाषा से दूर जा पड़ती है, तो वह फिर देशी भाषा बनती है, लिखित रूप ग्रहण करने पर, वह प्राकृत कहलाती है और पुरानी लिखित भाषा संस्कृत। 'कृत' (की गई) भाषाएँ दोनों हैं। एक संस्कारों से बड़ी हुई, दूसरी बोलने वालों के सहज वचन व्यापार के अधीन। प्राकृत क्षेत्रीय रूप से विभक्त होती है, शौरसेनी प्राकृत, अर्धमागधी और मागधी, उसकी ये तीन क्षेत्रीय इकाइयाँ हैं। लिखित रूप में प्राकृत स्थिर होती है तब बोलचाल की प्रक्रिया में वे नए देशी रूप ग्रहण करती हैं, जिनका एक लिखित मानक रूप अपभ्रंश है, अपभ्रंश का अर्थ है और आगे विकसित या बड़ी हुई भाषा। संस्कृत प्राकृत और अपभ्रंश की यह पहचान, भ्रमणों ब्राह्मणों के संकुचित दृष्टिकोण से परे, एक विशुद्ध भाषा वैज्ञानिक पहचान है। स्वयंभू ने इस भाषा को सामान्य भाषा कहा है :—

सामण्ण भास छुडु सावडउ

जुडु आगम जुत्ति का वि घडउ ३।१ प० च।

दूसरी जगह उन्होंने उसे देशी भी कहा है।

सक्कय पायय—पुलिणा लकिय

देसीभाषा—उभय-नहुज्जल,

मेरी रामकथा रूपी यह नदी, संस्कृत प्राकृत के पुलिनो से अलकृत है तथा इसके दोनों किनारे देशीभाषा (अपभ्रंश) से उज्ज्वल हैं। स्वयंभू ने यह भी कहा है कि मेरे वचन ग्राम्य प्रयोगों से रहित हो। इस प्रकार उनके सामने आर्यभाषा का पूरा प्रवाह क्रम था, संस्कृत प्राकृत अपभ्रंश (देशी)। ग्राम्य वचनों से उनका अभिप्राय उन जनपद-बोलियों से था जो अग्नि-त्व में आ चुकी थी, वस्तुतः ये भाषाएँ विद्यापति के शब्दों में देशी वचन हैं, जो सबको मीठे लगते हैं। अपभ्रंश और देशी वचन के बीच 'अपहट्ट' की स्थिति थी। तात्पर्य यह है, कि 'देशी तत्त्व' आर्यभाषा का स्थायी या स्थिर तत्त्व नहीं, बल्कि उसके निरंतर विकास की स्थितियों का सूचक तत्त्व है। संस्कृत प्राकृत और अपभ्रंश, इसी देशी तत्त्व से अस्तित्व में आई मानस भाषाएँ हैं! स्वयंभू की भाषा में 'देशी-तत्त्व' का यही अर्थ होना चाहिए। नीचे, कुछ शब्दों की व्युत्पत्तियाँ दी जा रही हैं, उनसे स्पष्ट होगा कि किस प्रकार काल और क्षेत्र के दबाव से परिवर्तन के साँचे में ढहा कर शब्द क्षर से अक्षर, और अक्षर से क्षर बनते हुए, आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं तक चले आए हैं।

पाहुवा—अतिथि के अर्थ में, यह शब्द हिन्दी प्रदेश के अलावा, पंजाबी गुजराती मराठी आदि भाषाओं में आज भी प्रयुक्त है, जो संस्कृत प्राघूर्णक से विकसित है। प्राघूर्णक—पाहुण्णअ पाहुण—पाहुन। स्वयंभू ने इसका प्रयोग किया है।

रयणउर हो आइउ पाहुणउ। प० च १०।६

रत्नपुर से पाहुना आया ।

पैज—आधुनिक हिंदी में पैज प्रचलन में नहीं है।
मध्ययुगीन हिंदी में इसका प्रयोग अधिक था ।

व्युत्पत्ति होगी—प्रतिज्ञा—पइज्ज—पेज ।

पइज करेवि गउ दस लोयणु (प० च)

रावण प्रतिज्ञा कर चला गया ।

‘चितउर चली पैज कै दूती’, पदमावत

दूती प्रतिज्ञा कर, चित्तौड़ के लिए चली !

दाति—दाति शब्द का प्रयोग कबीर ने किया है ।

“सतगुरु सवॉन को सगा

सोधी सईन दाति,”

टीका कार, दाति का दाता अर्थ करते हुए लिखते हैं—
सद्गुरु के समान कोई सगा नहीं है, और सोधी यानी ईश्वर
के खोजी के समान कोई दाता नहीं है । प्रश्न है ईश्वर
का खोजी दाता कैसे हुआ ? दाता तो ईश्वर ही हो सकता
है ‘वास्तव में दानि’ संस्कृत दातृता से बनी भाव वाचक
सज्ञा है । स्वयंभू के प० च० में उल्लेख है ‘णं दत्ति
विवज्जिउ किविण धणु’ मानो दान से रहित कजूस का
घन हो । व्युत्पत्ति—दातृता—दत्तिआ—दत्ति—दाति ।
इसी प्रकार शोधि शुद्धि का तद्भव है । अतः कबीर की
उक्त अर्धाली का अर्थ होगा सद्गुरु के समान कोई सगा
नहीं है, और शोध (ईश्वर की खोज) के समान कोई
दाति, देने या समर्पण का भाव नहीं है ।

कंठ कुठार—‘कंठ कुठार’ के विचित्र अर्थ मानम की
टीकाओं में मिलते हैं । स्वयंभू का अवतरण है :—

‘दंत तिणगें कंठ कुठारें

णमिउ णराहिउ विणयाचारे

हउं तुहारा एवहिं किंकरू

सपरिवार सकलत्तु सपुत्तउ’ रि० णे० च०

राजा विराट युधिष्ठिर के सामने आत्मसमर्पण कर
रहा है । अर्थ है :—

जिसमें तिनके का अगला भाग दांतों में है, कंठ में
कुठार है ऐसे विनय-आचरण में राजा विराट झुक गया
(और बोला) मैं अब अपने परिवार कलत्र और पुत्र
सहित, तुम्हारा अनुचर हूँ ।

‘रामचरित मानम’ में अंगद रावण को राम के सामने

आत्म समर्पण की विधि बता रहा है :—

“दसन गहहु तृण कंठ कुठारी,

परिजन संग सहित निज नारी ॥

सादर जनक सुता करि आगे

एहि विधि चलहु सब भय त्यागे”

रावण, तुम दांतों में तिनका लो, और कंठ में कुठारी,
तथा अरिजनो के साथ अपनी नारी (पत्नी) लो । फिर
आदर पूर्वक जनक पुत्री सीता को आगे करो सब प्रकार
का भय छोड़कर इस प्रकार चलो । स्वयंभू और तुलसी-
दास के बीच लगभग ७०० वर्ष का अन्तर है, फिर भी,
दोनों के मुहावरो में समानता है । कुठार का अर्थ कुठार
है, पगड़ या कुछ और अर्थ करना ठीक नहीं । मध्य युग
में अपनी हार मानने की यही विधि थी !

अहिवात—का अर्थ, हिंदी टीकाओं में सौभाग्य
मिलता है । प्रश्न है यह अर्थ कैसे हुआ—चिर अहिवात,
असीस हमारी” । वस्तुतः अहिवात के मूल में अविध-
वात्व शब्द है । अविधवात्व—अइहवत्त—अहिवत्त—
अहिवात्त अहिवाता । अहिवाता, यानी तुम्हारा पति
हमेशा बना रहे ।

जौहर करना—जौहर करना और जौहर बिखाना
दो अलग-अलग मुहावरे हैं, हिंदी में इनके बारे में
भ्रम है । पहले मूल में संस्कृत जतुगृह शब्द है, जबकि
दूसरे में फारसी जौहर (साहस, रत्न) शब्द है । जतुगृह
यानी लाक्षा गृह । प्राचीन भारत में शत्रु को धोखे से मारने
के लिए जतुगृह का उपयोग होता था जो विभिन्न रासा-
यनिक द्रव्यों से बना होता था । महाभारत और स्वयंभू
के रिट्ठणेमि—चरिउ में इसका विस्तृत वर्णन है । व्युत्पत्ति
इस प्रकार है, जतुगृह—जउहर—जोहर—जौहर ।
जौहर करना—सामूहिक अग्निदाह करना ।

बरात और जनैत—

मध्ययुगीन कविता में ‘बरात’ और जनैत दोनों शब्दों
का प्रयोग है, जो क्रमशः बरयात्रा और यज्ञ यात्रा के
तद्भव हैं । हिंदी में बरात प्रयुक्त है । स्वयंभू ने बर आत
और जणत्त शब्दों का प्रयोग इसी अर्थ में किया है ।
भारतीय परम्परा में विवाह भी एक यज्ञ है । मानस
में बरि आता और ‘जनेत’ शब्दों का प्रयोग है ।

(शेष पृ० १५ पर)

भागलपुर की प्राचीन जैन प्रतिमाएं

□ डॉ० राजयकुमार सिन्हा

भागलपुर^१, प्राचीन चम्पापुर, जैन धर्मावलम्बियों के लिए एक महत्वपूर्ण नगर है। प्राचीन जैन साहित्य में इसका उल्लेख प्रमुख रूप से मिलता है। यहां बारहवें तीर्थंकर भगवान वासुपुज्य^२ जी का जन्म तथा निर्वाण हुआ था। इसी कारण तैत्तिरीय तीर्थंकर पार्श्वनाथ^३ जी एवं अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर^४ इस नगर में पधारें थे। प्रमुख जैन ग्रंथ आचारंग सूत्र^५ में इस क्षेत्र की राजनैतिक, सामाजिक तथा आर्थिक अवस्था का विस्तृत रूप

(पृ० १४ का शेषांश)

बरयात्रा—बरआत्त—वरात्त—वरात । यज्ञ यात्रा—जण्ण आत्त—जण्णत्त—जन्नत्त—जनेत ।

पंजाबी में वरात के लिए 'जज' राजस्थानी और गुजराती में 'जान' शब्द आता है। जो यज्ञ से बने शब्द है। यज्ञ—जण्ण—जाण—जान। पंजाबी में यज्ञ—जज्ज—जज। वाराती को जानी और जाजी कहते हैं। इसी प्रकार दून्हा पील सवार, दहेज डोर आदि संकडे शब्द हैं, जो आर्यभाषा की देशी प्रवृत्ति से आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में प्रयुक्त हैं, जिन्हें हिंदी के कुछ अति उत्साही समन्वयवादी विद्वान् विदेशी मान रहे हैं, शब्द ही नहीं, उन्हें, अपभ्रंश, उसकी तुलना गैली, दूहा, रड्डा-वद्ध काव्य गैली या पद्धडिया बध में विदेशी प्रभाव (फारसी प्रभाव) दिखाई देता है। मौभाग्य से स्वयम्भू और पुण्यदत्त का साहित्य प्राचीन और आधुनिक के बीच, एक प्रामाणिक कड़ी उपलब्ध है। यदि यह न होनी, तो ये सब शब्द विदेशी करार दे दिए गए होते, हम उन कवियों के अनुगृहीत तो हैं ही, परन्तु उनके भी अनुगृहीत हैं जिन्होंने उन्हें सृजन की प्रेरणा दी और उनके साहित्य को सुरक्षित रखा।

शांति निवास ११४ उपा नगर

इंदौर ४५२००६

में वर्णन हम पाते हैं। चीनी यात्री हुआनसांग^६ ने भी इस नगर (चेन पो) की समृद्धता का वर्णन किया है। औपपातिक सूत्र^७ में इस नगर के द्वार, प्रासाद, उद्यान एवं तालाबों का उल्लेख है।

वासुनन्दि^८ का मत है कि ऐसे सभी स्थान, जहां तीर्थंकर ने जन्म लिया, दीक्षा ली अथवा निर्वाण की प्राप्ति किया जैन मन्दिर के लिए उपयुक्त हैं। भुवनदेव^९ ने अपने ग्रंथ अपराजितपूच्छा में लिखा है कि जैन मंदिर नगर के भीतर ही बनना चाहिए। चूकि भागलपुर अर्थात् प्राचीन चम्पापुर में बारहवें तीर्थंकर भगवान वासुपुज्य पचकल्याण को प्राप्त हुए, अतएव यह जैनियों का एक महान तीर्थ बन गया। छठी शताब्दी ई० पू० में ही इस नगर में भगवान पार्श्वनाथ की प्रतिमा को दन्तपुर नरेश करन्दक ने स्थापित किया था।^{१०} यहां भगवान महावीर के शिष्य मुधर्मन के समय में एक समृद्ध जैन बिहार था। जो पूर्णभद्र यक्ष चैत्य^{११} के नाम से विख्यात था। तब से निरन्तर जैन धर्म इस नगर में फैलता गया। जिसका प्रमाण यहां के अनेक जैन मंदिरों में सर्कलित प्राचीन जैन प्रतिमाएं हैं जो प्रतिमा विज्ञान की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं।

सबसे प्राचीन प्रतिमा भगवान आदिनाथ^{१२} की है। तीर्थंकर कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़े हैं। इसका वृत्तबंध जटाजूट अत्यन्त प्रभावशाली है जो हमें गुप्तकाल का आभास देता है। इनके सीना पर अंकित श्रीवत्स चिह्न, कंधे तक लटकते हुए लम्बे कान, तथा कुचित केशवर्तिल, अधखुली आंखें, मस्तक पर दोनों भौंहों के मध्य में गोल टीका तथा इसका नग्न रूप सब एक साथ मिलकर एक महापुरुष के लक्षण को दर्शाते हैं। भगवान आदिनाथ एक साधारण आसन पर खड़े हैं जिसके मध्य में धर्मचक्र चिह्न अति सुन्दरता से अंकित है। इनका लाछन बेल (बृषभ) है

जो चरणचौकी पर बायी ओर मुख किये बैठा है। यह प्रतिमा ६६.५ × ४८.३ सेंटीमीटर का है तथा हल्के ग्रेनाइट पत्थर में खुदा हुआ है। यह प्रतिमा निस्संदेह पाचवी-छठी शताब्दी की है। इस प्रतिमा में यक्ष-यक्षिणी का अंकन नहीं हुआ है।

दूसरी जैन प्रतिमा भी भगवान आदिनाथ की है जो कायोत्सर्ग मुद्रा में है। इनके मस्तक के ऊपर त्रिछत्र सुशोभित है जो चैत्यद्रुम से आच्छादित है इनका केश विन्यास साधारण है। जिनके लम्बे कान उनके कंधे पर लटक रहे हैं। उनका आजानबाहु तथा श्रीवत्स चिह्न जैन प्रतिमा विज्ञान के अनुरूप है। इनके दोनों ओर छह छोटी-छोटी प्रतिमाएँ अंकित हैं जिनमें ऊपर में दायी ओर शासन देवी चक्रेश्वरी तथा बायी ओर यक्ष गोमुख है। ये दोनों कमल पर समपर्यकासन मुद्रा में बैठे हैं। इनके नीचे दोनों ओर सम्भवतः जिनके माता-पिता हैं। चरण चौकी के मध्य में धर्मचक्र है जिनके दोनों ओर भगवान आदिनाथ का लाछन बैल अंकित है। यह प्रतिमा काले बसाल्ट पत्थर की है जिसका २५.४ × १५.३ सेंटीमीटर माप है इसे सातवी सदी का माना जा सकता है।

भगवान आदिनाथ की पद्मासन मुद्रा में बैठी प्रतिमा अत्यन्त आकर्षक है। जैन ग्रंथ बिम्बेक विलास^{११} में वर्णित विधान के अनुरूप इस प्रतिमा का अंकन किया गया है। भगवान आदिनाथ अतिसुन्दर त्रिछत्र के नीचे ध्यानमुद्रा में बैठे हैं। इनके वक्ष पर श्रीवत्स चिह्न अंकित है। इस प्रतिमा में जिनके शासन देवी तथा यक्ष की अनुपस्थित महत्वपूर्ण है। भगवान आदिनाथ की वृत्तबन्ध जटाजुट कंधे तक लटकते लम्बे कान तथा घुंघराले केशवल्लि प्रतिमा-शास्त्र के विधानों के अनुरूप है। भगवान आदिनाथ मस्तक के ठीक ऊपर दोनों ओर शासन देवी चक्रेश्वरी तथा यक्ष गोमुख कमलदल पर आसीन हैं। यह बिहार के जैन प्रतिमा विज्ञान में एक अद्भुत कलाकृति है। यह प्रतिमा काले बसाल्ट पत्थर में अंकित है तथा इसका माप ११२ × ६५ सेंटीमीटर है। यह प्रतिमा आठवीं शताब्दी की है। चरण चौकी के मध्य में धर्मचक्र तथा उनके दोनों ओर दो बैल, जो जिनके लाक्षण है सुन्दरता पूर्वक अंकित हैं।

भगवान आदिनाथ की एक चौबीसी भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। जिन पद्मासन मुद्रा में एक कमल आसन पर आसीन हैं। चरण चौकी के मध्य में धर्मचक्र के स्थान पर शासन देवी चक्रेश्वरी स्वयम् एक शिशु को गोद में लिये बैठी है। जिनके एक ओर लाछन बैल तथा दूसरी ओर एक हाथी है। भगवान आदिनाथ के अगल-बगल में दो चामरधारी सेवक खड़े हैं। भगवान का घुंघुराला केश भगवान बुद्ध के उष्णीष की भांति है। श्रीवत्स चिह्न नहीं दीख पड़ता है। जिनके मस्तक के दोनों ओर दो विद्याधर लंबे पुष्पहार लिए हुए हैं। चैत्यद्रुम से आच्छादित त्रिछत्र जिनके मस्तक पर सुशोभित है तब इस अन्य तीर्थंकर पद्मासन मुद्रा में भगवान आदिनाथ के चारों ओर अत्यन्त सुंदरता से अंकित किये गये हैं। जिनके लाछन स्पष्ट है। यह प्रतिमा काले बसाल्ट पत्थर में उत्कीर्ण किया गया है तथा इसका माप ६० × ३६ सेंटीमीटर है।

भागलपुर के जैन मूर्तिकारों ने परम्परागत 'युगलिया' प्रतिमा को भी उत्कीर्ण किया। 'युगलिया' जिनको कुछ विद्वानों ने युग गोमेध तथा शासनदेवी चक्रेश्वरी की संज्ञा दी है^{१२} पूर्ण विकसित कमल पर ललितासन में विराजमान है। इन्होंने सुन्दर मुकुट आभूषण आदि को धारण किया है। इनके दाहिने हाथों में एक-एक फल तथा बायें हाथ से पकड़े गोद में बिठाये एक-एक बालक है। इनके नीचे चार अन्य बालक तथा बगल में एक बालक बैठा है। इनके ऊपर चैत्यद्रुम के ऊपर कमलदल पर एक राजसिंहासन रखा हुआ है जिसपर भगवान आदिनाथ पद्मासन मुद्रा में आसीन हैं। जिनके मस्तक के पीछे एक अलंकृत प्रभामण्डल है जिसमें अतिसुन्दर छत्र अंकित हैं। कुछ विद्वान जिनके नीचे में आसीन युगलजोड़ी को उनका माता-पिता मानते हैं।^{१३} ऐसी प्रतिमा बिहार तथा बंगाल प्रदेश में कम संख्या में मिलती हैं। यह प्रतिमा काले बसाल्ट पत्थर में उत्कीर्ण है। इसकी सजीवता हमें अत्यन्त आकर्षित करती है। बिहार प्रान्त में अब तक प्रकाशित यह प्रथम युगलिया है। इसका माप ३०.५ × ५.३ सेंटीमीटर है।

सोलहवें तीर्थंकर भगवान शान्तिनाथ की प्रतिमा कलात्मक दृष्टिकोण से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यह काला

बसाल्ट पत्थर में उत्कीर्ण है तथा इसका माप ६१ × ३०.५ सेंटीमीटर है। भगवान शांतिनाथ पद्मासन मुद्रा में पूर्ण पुष्पित कमल पर आसीन हैं। कमलासन दो सिंहों के पीठ पर स्थिर है। जिसके मध्य में एक धर्मचक्र अंकित है। धर्मचक्र के ठीक नीचे भगवान शांतिनाथ का लांछन मृग अतिसुन्दरता पूर्वक बनाया गया है। मृग के दोनों ओर दो उपासक दर्शाये गये हैं। भगवान शांतिनाथ के ऊपर त्रिछत्र तथा उसके दोनों ओर मालाधारी विद्याधरों का अंकन बड़ा सजीव है। भगवान के मस्तक के पीछे चित्रित प्रभा-मण्डल प्रभावशाली है। इस प्रतिमा को अत्यन्त महत्वपूर्ण बनाता है ज्योतिष्क देवों का (जिन के दोनों ओर) चित्रण। ज्योतिष्क देव हिन्दू प्रतिमा विज्ञान के नवग्रह हैं। इस प्रतिमा में सिर्फ आठ ज्योतिष्क देवों—सूर्य, सोम, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि एवं राहु को दर्शाया गया है। बिहार प्रांत में अब तक ज्ञात जैन प्रतिमाओं में यह प्रतिमा अद्वितीय है।

उपर्युक्त सभी प्रस्तर प्रतिमाये भागलपुर के श्री

चम्पापुर दिगम्बर जैन सिद्ध क्षेत्र मंदिर, नाथ नगर में सकलित है। ये प्रतिमाएं सन् १९१४ ई० में चम्पानगर के एक सुखे तालाब (सम्भवतः रानी भग्गर छठी सदी ई० पू० द्वारा खुदवाए गए तालाब) से प्राप्त हुई थी तथा १९३४ ई० के भयानक भूकम्प में जब इनके लिए बना मंदिर ध्वस्त हो गया तब नाथनगर के प्रमुख दिगम्बर जैनियों के प्रयास से उपर्युक्त मंदिर में सकलित किया गया।^{१६} इसके लेखक ने उपर्युक्त मंदिर के सचिव श्री रतन लाल जैन बिनायक्या, जिनके सद्प्रयास से भागलपुर की जैन संस्कृति का दिन दूना रात चौगुना विकास हो रहा है के सहयोग पर अनुमति से इसे विद्वानों तथा श्रद्धालु भक्तों के समक्ष रखने का प्रयास किया है। भागलपुर में जैन धर्म जो छठी सदी ई० पू० में ही अपनी जड़ डाल चुका था अभी भी विकसित अवस्था में है।

—बिहार शिक्षा सेवा

हटिया रोड, मोहल्ला : तिलका माझी,
भागलपुर (बिहार)

संदर्भ-संकेत

१. राय चौधरी, पी० सी०—बिहार डिस्ट्रीक्ट गजे-टियर—भागलपुर: (पटना—१९६२) पृ० ५६६
२. समवायाग—पृ० ६७
३. भगवती सूत्र—पृ० २२३
४. लाहा बी० सी०—महावीर: हिज लाइफ एण्ड टिचीग्रस (लंदन—१९२७), पृ० ३२-३३
५. मिश्र, यु० कि०—सोसियो—इकानामिक एण्ड पोलिटीकल हिस्ट्री ऑफ इस्टर्न, (दिल्ली—१९७७) पृ० ४
६. वील० एस०—बुद्धिष्ट रिर्कांडस ऑफ दी बेस्टर्न वर्ल्ड, खण्ड १, पृ० १६१-६२
७. लाहा बी० सी० समन जैन कैनोनिकल सूत्राज, (कलकत्ता—१९१४) पृ० ७३
८. प्रतिष्ठासार संग्रह—३.३-४

९. अपराजित पृच्छा—१७६.१४
१०. चटर्जी, ए० के०—कम्प्रीहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ जैनियम, (कलकत्ता—१९८१), पृ० ७८
११. औपपातिक उपाग पृ० १०
१२. यह प्रतिमा उत्तर गुप्त कालीन है।
१३. विवेक विलास—१.१२८-३०
१४. शर्मा, बी० एन०—जैन प्रतिमायें, (नई दिल्ली—१९७६), पृ० ५२
१५. उपरिवत्—पृ० ३०
१६. भट्टाचार्य, बी० सी०—दी जैन आइक्नोग्राफी, (नई दिल्ली—१९७८, नवीन संस्करण) पृ० ११६
१७. पाटिल, डी० आर०—दी एण्टिक्यूयरियन रिमेन्स इन बिहार, (पटना—१९६३) पृ० १७८
१८. उपरिवत्

नागौर तथा उसमें स्थित भट्टारकीय दि० जैन ग्रंथ भंडार की स्थापना एवं विकास का संक्षिप्त इतिहास

□ डॉ० पी० सी० जैन

नागौर का ऐतिहासिक परिचय

वर्तमान में नागौर राजस्थान प्रदेश का एक प्रान्त है जो उसके मध्य में स्थित है। पहिले यह जोधपुर का प्रमुख भाग था। नागौर इस जिले का प्रमुख नगर है तथा यहाँ की भूमि अर्द्ध रेगिस्तानी है।

रामायण कालीन अनुश्रुति के अनुसार पहिले यहाँ पर समुद्र था। लेकिन रामचन्द्र जी ने अग्नि बाण चला कर उस समुद्र को सुखा दिया। महाभारत के अनुसार इस प्रदेश का नाम कुरू-जागल देश था। मौर्य वंश का शासन भी इस क्षेत्र पर रहा। विक्रम की दूसरी शताब्दी से पाँचवी शदी तक यह नागौर का अधिकांश क्षेत्र नाग-वंशी राजाओं के अधीन रहा। उसी समय से नागौर नागपुर, नागपट्टन, अहिपुर, भुजगनगर, अहिछत्रपुर आदि विभिन्न नामों से समय-समय पर जाना जाता रहा। कुछ समय के लिए इस प्रदेश पर गौड़ राजपूतों का शासन रहा। गौड़ राजपूत कुचामन, नावां, मारोठ की ओर चले गए इसलिए वह पूरा प्रदेश गौड़वाटी के नाम से जाना जाने लगा।

विक्रम की ७वी शताब्दी में यहाँ पर चौहानों का शासन हुआ। चौहानों की राजधानी शाकम्भरी (सांभर) थी। इनके शासनकाल में यह क्षेत्र सपादलक्ष के नाम से प्रसिद्ध हुआ। यही कारण है कि आज भी स्थानीय लोग इसे सवालक्ष कहते हैं।

इसी बीच कुछ समय के लिए यह नगर प्रतिहारों के अधीन आ गया। जयसिंह सूरि के धर्मोपदेश की प्रशस्ति में मिहिरभोज प्रतिहार का उल्लेख मिलता है। जयसिंह सूरि ने नागौर में ६१५ वि० स० में इस ग्रन्थ की रचना की।^१

अणहिलपुर पाटन (गुजरात) के शासक सिद्धराज जयसिंह ने १२वी शताब्दी में इस क्षेत्र पर अपना अधिकार कर लिया। जो भीमदेव के समय तक बना रहा। महाराजा कुमारपाल के गुरु प्रसिद्ध जैनाचार्य कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्र सूरि का पट्टाभिषेक सम्वत् ११६६ की वैशाख सुदी ३ को यही पर हुआ था।

इसके बाद यह नगर तथा क्षेत्र वापिस चौहानों के में चला गया। प्राचीन समय से ही यहाँ पर छोटा गढ़ बना हुआ था। जिसके खडहर आज भी उपलब्ध होते हैं, चौहानों ने अपने मध्य में होने के कारण तथा लाहौर से अजमेर जाने के रास्ते में पड़ने के कारण यहाँ पर दुर्ग बनाना आवश्यक समझा क्योंकि उस समय तक महमूद गजनवी के कई बार आक्रमण हो चुके थे। नगर में विशाल दुर्ग का निर्माण वि० स० १२११ में पृथ्वीराज तृतीय के पिता सोमेश्वर के शासन काल में बनना प्रारम्भ हुआ था जिसका शिलालेख दरवाजे पर आज भी सुरक्षित है।

सन् ११९३ में पृथ्वीराज चौहान (तृतीय) की हार के बाद यहाँ पर दिल्ली के सुल्तानों का अधिकार हो गया। उसी समय यहाँ पर प्रसिद्ध मुस्लिम सन्त तारकीन हुआ जो अजमेर वाले ख्वाजा मोइनुद्दीन चिश्ती का शिष्य था। इसकी दरगाह पर परकोटे के बाहर गिनाणी तालाब के पीछे की तरफ बनी हुई है। इनका उर्स के अवसर पर अजमेर के मोइनुद्दीन चिश्ती की दरगाह से चादर कब्र पर ओढ़ने के लिए आती है। इसी समय से नागौर मुस्लिम धर्म का भी केन्द्र बन गया।

सन् १३२३ के एक शिलालेख के अनुसार इस क्षेत्र पर देहली के शासक फिरोजशाह तुगलक का शासन था। फिरोजशाह के शासन में ही दिगम्बर जैन सम्प्रदाय के

भट्टारक द्वारा संवत् १३६० पौष सुदी १५ को दिल्ली में वस्त्र धारण करने की प्रथा का श्री गणेश हुआ। उसके पूर्व वे सब नग्न रहते थे। इन भट्टारकों का मुस्लिम शासकों (बादशाहों) पर अच्छा प्रभाव था इसलिए उन्हें बिहार एवं धर्म प्रचार की पूरी सुविधा थी। यही नहीं मुस्लिम बादशाहों ने इनकी सुरक्षा के लिए समय-समय पर कितने ही फरमान निकाले थे। उसी समय से दिल्ली गादी के भट्टारक नागौर आते रहे और संवत् १५७२ में नागौर में एक स्वतन्त्र रूप में भट्टारक गादी की स्थापना की गयी।

सन् १४०० ई० के बाद नागौर की स्वतन्त्र रियासत स्थापित हुई जिसका सुल्तान^१ फिरोजखान प्रथम सुल्तान था जो गुजरात के राजवंश^१ से सम्बन्धित था। जिसका प्रथम शिलालेख १४१८ ए० डी० का मिलता है। सुल्तान फिरोजखान के समय में मेवाड़ के महाराजा मोकल ने नागौर पर आक्रमण किया तथा डीडवाना तक के प्रदेश पर अपना अधिकार कर लिया। मोकल के लौटने पर शम्सखा के पुत्र मुजाहिदखा ने इस क्षेत्र पर अपना अधिकार कर लिया। शम्सखा ने शम्स तालाब बनवाया। शम्स तालाब के किनारे अपने गुरु की दरगाह तथा मस्जिद बनवाई। इसी दरगाह के प्रांगण में ही शम्सखा तथा उनके वंशजों की कब्रें बनी हुई हैं। इस तालाब के चारों ओर परकोटा बना हुआ है।

महाराजा कुम्भा ने भी एक बार नागौर पर आक्रमण किया था। जिसका शिलालेख गोठ मांगलोद के माता जी के मन्दिर में लगा हुआ है। महाराजा कुम्भा ने राज्य को वापस पुराने सुल्तान को ही सौंप दिया। इसी वंश में मुजाहिदखा, फिरोजखा, जफरखा, नागौरीखा आदि सुल्तान हुए। ये सुल्तान मुस्लिम होते हुए भी हिन्दू तथा जैन धर्म के विरोधी नहीं थे। इनके राज्यकाल में दिगम्बर जैन भट्टारक तथा साधुओं का बिहार निर्बाध गति के साथ होता था। उस समय जैन धर्म के बहुत से ग्रन्थों की रचनाएँ एवं लिपि करने का कार्य सफल हुआ। तत्कालीन प्रसिद्ध भट्टारक जिनचन्द्र (संवत् १५०७ से १५७१) का भी यहाँ आगमन हुआ था जिनके द्वारा १५६४ में प्रतिष्ठित सैकड़ों मूर्तियाँ सम्पूर्ण देश के बड़े जैन मन्दिरों में

उपलब्ध होती हैं। पं० मेघावी ने नागौर में ही रह कर संवत् १५४१ में धर्मसंग्रह श्रावकाचार की रचना की थी।^१ इसमें फिरोजखान की न्यायप्रियता, बीरता और उदारता की प्रशंसा की है।^१ मेघावी भट्टारक जिनचन्द्र के शिष्य थे। इस ग्रन्थ की प्रतियाँ भारत के सभी जैन ग्रन्थ भंडारों में प्रायः पायी जाती हैं। इसी वंश के नागौरीखा नवाब के दीवान परबतशाह पाटनी हुए थे जिनका शिलालेख श्री दिगम्बर जैन बीस पन्थी मन्दिर में लगा हुआ है। इन परबतशाह पाटनी ने एक बेदी बनवाई तथा उसकी प्रतिष्ठा बड़ी धूमधाम से करायी थी ऐसा शिलालेख में लिखा है। चूने की पुताई हो जाने से पूरा लेख पढ़ने में नहीं आता है।

सुल्तानों के शासन के पतन के पश्चात् नागौर पर मुगल सम्राट अकबर का अधिकार हो गया। स्वयं अकबर भी नागौर आया था। उसने गिनाणी तालाब के किनारे दो मीनारों वाली मस्जिद बनवाई जो आज भी अकबरी मस्जिद के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें अकबर के समय का फारसी भाषा का शिलालेख लगा हुआ है।

जोधपुर नरेश महाराजा गजसिंह के दो पुत्र थे—बड़े अमरसिंह तथा छोटे जसवन्तसिंह। अमरसिंह बड़े अक्खड निर्भीक और वीर थे। जोधपुर के सरदार अमरसिंह से नाराज हो गये। उन्होंने महाराजा से मिलकर अमरसिंह को देश निकाला दिला दिया। अमरसिंह शाहजहाँ के दरबार में गये, शाहजहाँ ने उनकी वीरता पर खुश होकर नागौर का प्रदेश इनको जागीर में दे दिया।

अमरसिंह के पश्चात् शाहजहाँ ने इन्दरसिंह को नागौर का राजा बना दिया। इन्दरसिंह ने शहर में अपने रहने के लिए महल बनवाया जिसका उल्लेख महल के दरवाजे पर स्थित लेख में मिलता है।

सैकड़ों वर्षों तक मुस्लिम शासन में रहने के कारण धर्मान्ध शासकों ने यहाँ के हिन्दू एवं जैन मन्दिरों को खूब ध्वस्त किया। मन्दिरों को मस्जिदों में परिवर्तित किया गया फिर भी नागौर जैन संस्कृति का एक प्रमुख नगर माना जाता रहा। सिद्धसेन सूरि (१२वीं शताब्दी) ने इसका प्रमुख तीर्थ के रूप में उल्लेख किया है। जैनाचार्य हेमचन्द्र सूरि के पट्टाभिषेक के समय यहाँ के घनद नाम

के श्रेष्ठि ने अपनी अपार सम्पत्ति का उपयोग किया था। १३वीं शताब्दी में पेशवाशाह ने यहाँ एक जिन मन्दिर का निर्माण कराया था। तपागच्छ की एक शाखा नागपुरिया का उद्गम भी इसी नगर से माना जाता है। १५वीं-१६वीं शताब्दी में यहाँ कितनी ही श्वेताम्बर मूर्तियों की प्रतिष्ठाएं हुईं। उपदेशगच्छ के कक्कसूरि ने ही यहाँ शीतल-नाथ के मन्दिर की प्रतिष्ठा कराई थी।

भट्टारकीय वि० जैन शास्त्र भण्डार की स्थापना एवं विकास—

संवत् १५८१, श्रावण शुक्ला पचमी को भट्टारक रत्नकीर्ति ने यहाँ भट्टारकीय गादी के साथ ही एक बृहद् ज्ञान भण्डार की स्थापना की। जिनचन्द्र के शिष्य भट्टारक रत्नकीर्ति के पश्चात् यहाँ एक के बाद दूसरे भट्टारक होते रहे। इन भट्टारकों के कारण ही नागौर में जैन धर्म एवं साहित्य का अच्छा प्रचार प्रसार होता रहा। नागौर का ग्रन्थ भण्डार सारे राजस्थान में विशाल एवं समृद्ध है। पाण्डुलिपियों का ऐसा विशाल संग्रह राजस्थान में कहीं नहीं मिलता है। यहाँ करीब २० हजार पाण्डुलिपियों का संग्रह है जिनमें दो हजार से अधिक गुटके हैं। यदि गुटकों में संग्रहीत ग्रन्थों की संख्या कम की जावे तो इनकी संख्या भी १०,००० से कम नहीं होगी। भण्डार में मुख्यतः प्राकृत, अपभ्रंश, संस्कृत, हिन्दी एवं राजस्थानी भाषा में निबद्ध कृतियाँ सर्वाधिक संख्या में हैं। अधिकांश पाण्डुलिपियाँ १४वीं शताब्दी से १९वीं शताब्दी तक की हैं जिससे पता चलता है कि गत १५० वर्षों से यहाँ ग्रन्थ संग्रह की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया। इससे पूर्व यहाँ ग्रन्थ लेखन का कार्य पूर्ण वेग से होता था। सम्पूर्ण भारतवर्ष के शास्त्रागारों में सैकड़ों ऐसे ग्रन्थ हैं जिनकी पाण्डुलिपियाँ नागौर में ही हुई थीं। प्राकृत भाषा के ग्रंथों में आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार की यहाँ सन् १३०३ की पाण्डुलिपि है, इसी तरह मूलाचार की सन् १३३८ की पाण्डुलिपि उपलब्ध होती है। कुछ अनुपलब्ध ग्रन्थों में वराग-चरित (तेजपाल) वसुधौर चरित (श्री भूषण), सम्यक्त्व कौमुदी (हरिसिंह) जेमिणाह चरित (दामोदर), जगरूपविलास (जगरूप कवि) कृपणपञ्चीसी (कल्ह) सरस्वती लक्ष्मी सवाद (श्रीभूषण) क्रियाकोश (सुखदेव) के नाम उल्लेखनीय हैं।

भट्टारक परम्परा :—

नागौर की परम्परा में निम्न भट्टारक हुए—

१. भट्टारक रत्नकीर्ति	संवत् १५८१
२. " भुवनकीर्ति	" १५८६
३. " धर्मकीर्ति	" १५९०
४. " विशालकीर्ति	" १६०१
५. " लक्ष्मीचन्द्र	" १६११
६. " सहस्रकीर्ति	" १६३१
७. " नेमिचन्द्र	" १६५०
८. " यशःकीर्ति	" १६७२
९. " भानुकीर्ति	" ११९०
१०. " श्रीभूषण	" १७०५
११. " धर्मचन्द्र	" १७१२
१२. " देवेन्द्रकीर्ति	" १७२७
१३. " सुरेन्द्रकीर्ति	" १७३८
१४. " रत्नकीर्ति द्वितीय	"
१५. " ज्ञानभूषण	
१६. " चन्द्रकीर्ति	
१७. " पद्मनन्दि	
१८. " सकलभूषण	
१९. " सहस्रकीर्ति	
२०. " अनन्तकीर्ति	
२१. " हर्षकीर्ति	
२२. " विद्याभूषण	
२३. " हेमकीर्ति	
२४. " सेमेन्द्रकीर्ति	
२५. " मुनीन्द्रकीर्ति	
२६. " कनककीर्ति	
२७. " देवेन्द्रकीर्ति	

भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति नागौर गादी के अन्तिम भट्टारक थे। नागौर गादी का नागपुर, अमरावती, अजमेर आदि नगरों में भी सम्बन्ध रहा है तथा महाराष्ट्र के अन्य नगरों में जहाँ मारवाड़ी व्यापारी रहते थे वहाँ भी वे जाया करते थे। भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति के पश्चात् नागौर ग्रन्थ भण्डार बन्द पड़ा रहा। अनेक वर्षों के बाद पं० तृतीया-
(शेष पृ० २५ पर)

जैनदर्शन में द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय

□ अशोक कुमार जैन एम० ए०, शास्त्री

अनेकान्तदृष्टि जैवतत्वदर्शियों की अहिंसा का ही एक रूप है जो विरोधी विचारों का वस्तु स्थिति के आधार पर सत्यानुगामी समीकरण करती है और उमी अनेकान्त दृष्टि का फलितवाद नयवाद है। प्रमाण और नय से जीवादि पदार्थों का अधिगम ज्ञान होता है। प्रमाण वस्तु के पूर्णरूप को ग्रहण करता है और नय प्रमाण के द्वारा जानी गई वस्तु के एक अंश को जानता है। वस्तु अनन्त-धर्म वाली हैं। प्रमाण के द्वारा ग्रहण किये गये पदार्थ को एकदंश में वस्तु का निश्चय कराने वाले ज्ञान को नय कहते हैं। ज्ञाता के अभिप्राय का नाम नय है। प्रमाण के द्वारा प्रकाशित अनेक धर्मात्मक पदार्थ के धर्मविशेष को ग्रहण करने वाला ज्ञान नय है। आचार्य समन्तभद्र ने स्याद्वाद से गृहीत अर्थ के नित्यत्व विशेषधर्म के व्यञ्जक को नय कहा है। नय प्रमाण से उत्पन्न होता है अतः प्रमाणात्मक होकर भी अशङ्काही होने के कारण पूर्ण प्रमाण नहीं कहा जा सकता। अतः जैसे घड़े का जल समुद्रैकदेश है उसी तरह नय भी प्रमाणैकदेश है अप्रमाण नहीं। वस्तु के अनेक धर्मात्मक होने पर भी ज्ञाता किसी एक धर्म की मुख्यता से ही वस्तु को ग्रहण करता है जैसे व्यक्ति में अनेक सम्बन्धों के होते हुए भी प्रत्येक सम्बन्धी अपनी दृष्टि से ही उसे पुकारता है। अनेकान्त का मूल नय है। नय का विषय एकान्त है इसलिए नय को एकान्त भी कहते हैं और एकान्तों के समूह का नाम अनेकान्त है। अतः एकान्त के बिना अनेकान्त सम्भव नहीं है। जो वस्तु प्रमाण की दृष्टि में अनेकान्तरूप है वही वस्तु नय की दृष्टि में एकान्त स्वरूप है। यदि एकान्त न हो तो जैसे एक बिना अनेक नहीं वैसे ही एकान्त के बिना अनेकान्त नहीं। अतः जब सभी अनेकान्त रूप है तो अनेकान्त एकान्तरूप कैसे हो सकता है। प्रमाण और नय के द्वारा अनेकान्त भी अनेकान्तरूप है। प्रमाण की अपेक्षा अनेकान्त

है और विवक्षित नय की अपेक्षा एकान्त है। अतः नय के बिना अनेकान्त सम्भव नहीं है। सकलादेश प्रमाण का विषय है, विकलादेश नय का विषय है प्रमाण समग्र को विषय करता है तथा उससे ही नय प्ररूपणा की उत्पत्ति हुई है। सकलादेश क्या है? कथञ्चिद् घट है, कथञ्चिद् घट नहीं है, कथञ्चिद् घट अवक्तव्य है, कथञ्चिद् घट है नहीं है, कथञ्चिद् घट है और अवक्तव्य है, कथञ्चिद् घट नहीं है और अवक्तव्य है, कथञ्चिद् घट नहीं है और अवक्तव्य है इस प्रकार ये सातों भग सकलादेश कहे जाते हैं। विकलादेश क्या है? घट है ही, घट नहीं ही है, घट अवक्तव्य रूप ही है घट है ही और नहीं ही है, घट है तो और अवक्तव्य ही है, घट नहीं ही है और अवक्तव्य ही है, घट है ही, नहीं है और अवक्तव्यरूप ही है इस प्रकार यह विकलादेश है। सातों वाक्य एक धर्म विशिष्ट वस्तु का ही प्रतिपादन करने हैं इसलिए ये विकलादेश रूप हैं। जैसे शास्त्रों का मूल अकारादि वर्ण है, तप आदि गुणों के भण्डार साधु में सम्यक्त्व है। धातुवाद में पारा है वैसे ही अनेकान्त का मूल नय है। जो नय दृष्टि से विहीन हैं उन्हें वस्तु के स्वरूप का ज्ञान नहीं हो सकता और वस्तु के स्वरूप को न जानने वाले सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकते हैं। अध्यात्मशास्त्र में नयों के निश्चय और व्यवहार ये दो भेद प्रसिद्ध हैं। निश्चय नय को भूतार्थ और व्यवहार नय को अभूतार्थ कहा गया है। इसी बात को माइल्ल धवल ने भी कहा है कि निश्चय नय और व्यवहार नय सब नयों के मूल भेद हैं। निश्चय के साधन में कारण पर्यायार्थिक और द्रव्यार्थिक जानो। जैन अध्यात्म का निश्चय नय वास्तविक स्थिति को उपादान के आधार से पकड़ता है वह अन्य पदार्थों के अस्तित्व का निषेध नहीं करता जब कि वेदान्त या विज्ञानाद्वैत का परमार्थ अन्य पदार्थों के अस्तित्व को ही समाप्त कर देता है। बुद्ध की

धर्मदेशना को भी परमार्थ सत्य और लोकसंवृतिसत्य इन दो रूप^{१०} से घटाने का प्रयत्न हुआ है। जो नय आत्मा को बंध रहित और पर के स्पर्श रहित, अन्यत्वरहित, चलाचलता रहित विशेष रहित अन्य के संयोग रहित ऐसे पांच भाव रूप अवलोकन करता है उसे शुद्धनय जानो।^{११} व्यवहार नय तो ऐसा कहता है कि जीव और देह एक ही है और निश्चय नय का कहना है कि जीव और देह ये दोनों तो कभी एक पदार्थ नहीं हो सकते।^{१२} स्वसमयी व्यक्ति दोनों नयों के वक्तव्य को जानता है पर किसी एक नय का तिरस्कार करके दूसरे नय के पक्ष को ग्रहण नहीं करता। वह एक नय को द्वितीय सापेक्ष रूप से ही ग्रहण करता है।^{१३} जिस पदार्थ में जितने शब्दों का प्रयोग होता है उममें उतनी ही वाच्य शक्तियाँ होती हैं तथा वह जितने प्रकार के ज्ञानों का विषय होता है उसमें उतनी ही ज्ञेय शक्तियाँ होती हैं। शब्द प्रयोग का अर्थ है प्रतिपादन क्रिया। उसके साधन दोनों ही हैं शब्द और अर्थ। एक ही घट में घट पार्थिव, मार्तिक, सत्, ज्ञेय, नया, बड़ा आदि अनेकों शब्दों का प्रयोग होता है तथा इन अनेक ज्ञानों का विषय होता है। अतः जैसे घड़ा अनेकान्तरूप है उसी तरह आत्मा भी अनेक धर्मात्मक है।^{१४} अनेकान्तात्मक जीव का कथन शब्दों से दो रूप में होता है एक क्रमिक और दूसरा योगपद्य रूप से। तीसरा कोई प्रकार नहीं है जब अस्तित्व आदि अनेक धर्म कालादि की अपेक्षा भिन्न-भिन्न विवक्षित होते हैं उस समय एक शब्द में अनेक अर्थों के प्रतिपादन की शक्ति न होने से क्रम से प्रतिपादन होता है इसे विकलादेश कहते हैं परन्तु जब उन्ही अस्तित्वादि धर्मों की कालादिक की दृष्टि से अभेद विवक्षा होती है तब एक भी शब्द के धर्ममुखेन तादाम्यरूप से एकत्व को प्राप्त अखण्ड भाव से युगपद कथन हो जाता है और यह सकलादेश कहलाता है।^{१५} समन्तभद्र ने नय के साथ उपनय का भी प्रयोग किया है।^{१६} अकलङ्क देव ने लिखा है सग्रह आदि नय हैं और उसकी शाखा प्रशाखायें उपनय हैं।^{१७} द्रव्या-र्थिक और पर्यायार्थिक ये दो ही मूल नय कहे गये हैं अन्य असंख्यात संख्या को लिए हुए उन दोनों के ही भेद जानने चाहिए। नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समधि-रूढ़ और एवम्भूत इन सात नयों में द्रव्यार्थिक और पर्या-

यार्थिक को मिलाने से नौ नय हैं तथा तीन उपनय हैं वे हैं सद्भूत, असद्भूत और उपचरित।^{१८} शब्द की अपेक्षा नयों के एक से लेकर असंख्यात विकल्प होते हैं। मध्यम रुचि शिष्यों की अपेक्षा ७ भेद भट्टाकलङ्क देव ने बताये हैं।^{१९} जो उन-उन पर्यायों को प्राप्त होता है या उन-उन पर्यायों के द्वारा प्राप्त किया जाता है वह द्रव्य है।^{२०} स्व और पर कारणों से होने वाली उत्पाद और व्ययरूप पर्यायों को जो प्राप्त हो तथा पर्यायों से जो प्राप्त होता हो वह द्रव्य है।^{२१} जो सत् है वह द्रव्य है।^{२२} वह सत् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त है।^{२३} गुणपर्याय वाला द्रव्य होता है।^{२४} उत्पाद एवं नाशरूप पर्यायों से रहित द्रव्य नहीं होता और द्रव्य अर्थात् ध्रुवांश से रहित पर्याय नहीं होते क्योंकि उत्पाद नाश, स्थिति ये तीनों द्रव्य सत् का लक्षण है।^{२५} जो नहीं छोड़े हुए अपने अस्तित्व स्वभाव से उत्पाद-व्यय तथा ध्रौव्य से युक्त है और अनन्त गुणा-त्मक है, पर्याय सहित है उसे द्रव्य कहते हैं।^{२६} अकलङ्क देव ने नय के दो मूल भेद माने हैं द्रव्यास्तिक और पर्यायास्तिक। द्रव्यमात्र के अस्तित्व को ग्रहण करने वाला द्रव्यास्तिक और पर्यायमात्र के अस्तित्व को ग्रहण करने वाला पर्यायास्तिक है। अथवा द्रव्य ही जिसका अर्थ है— गुण और कर्म आदि द्रव्यरूप ही है वह द्रव्यार्थिक और पर्याय ही जिसका अर्थ है वह पर्यायार्थिक। पर्यायार्थिक का विचार है कि अतीत और अनागत चूकि विनष्ट और अनुत्पन्न है। अतः उनसे कोई व्यवहार सिद्ध नहीं हो सकता और वर्तमान मात्र पर्याय ही सत् है। द्रव्यार्थिक का विचार है कि अन्वयविज्ञान अनुमताकार वचन और अनुगत धर्मों का लोप नहीं किया जा सकता अतः द्रव्य ही अर्थ है।^{२७} माइल्लधवल ने भी जो पर्याय को गौण करके द्रव्य का ग्रहण करता है उसे द्रव्यार्थिक नय कहते हैं और जो द्रव्य को गौण करके पर्याय को ग्रहण करता है उसे पर्यायार्थिक नय कहते हैं। जो कर्मों के मध्य में स्थित अर्थान् कर्मों से लिप्त जीव को सिद्धों के समान शुद्ध ग्रहण करता है उसे कर्मोपाधि निरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिक नय कहते हैं। उत्पाद और व्ययको गौण करके जो केवल सत्ता को ग्रहण करता है उसे आगम से सत्ता ग्रहण शुद्ध द्रव्यार्थिक नय कहते हैं। गुण गुणी आदि चतुष्क रूप अर्थ में जो भेद

नहीं करता वह भेद विकल्प निरपेक्षशुद्ध द्रव्याधिक नय है। जो सब रागादि भावों को जीव कहता है या रागादि भावों को जीव कहना है वह कर्मोपाधि सापेक्ष अशुद्ध द्रव्याधिक नय है। जो नय उत्पाद-व्यय के साथ मिली हुई सत्ता को ग्रहण करके द्रव्य को एक समय में उत्पाद-व्यय ध्रौव्यरूप कहता है वह अशुद्ध द्रव्याधिकनय है। समस्त स्वभावों में जो यह द्रव्य है इस प्रकार अन्वय रूप से जो द्रव्य की स्थापना करता है वह अन्वय द्रव्याधिक नय है। जो स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव में वर्तमान द्रव्य को ग्रहण करता है वह स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्याधिक नय है और जो परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव में असत् द्रव्य को ग्रहण करता है वह परद्रव्यादिग्राहक-द्रव्याधिक नय है। जो अशुद्ध, शुद्ध और उपचरित स्वभाव से रहित परम स्वभाव को ग्रहण करता है वह परमभाव-ग्राही द्रव्याधिक नय है उसे मोक्ष के अभिलाषी को जानना चाहिए। जो अक्रमिक और अनिघन अर्थात् अनादि अनन्त चन्द्रमासूर्य आदि पर्यायों को ग्रहण करता है उसे जिन भगवान ने अनादि नित्य पर्यायाधिक नय कहा है। जो पर्याय कर्मों के क्षय से उत्पन्न होने के कारण सादि है अतः विनाश का कारण न होने से अविनाशी है। ऐसी सादि नित्य पर्याय को ग्रहण करने वाला सादि नित्य पर्यायाधिक नय है। जो सत्ता को गौण करके उत्पाद-व्यय को ग्रहण करता है उसे अनित्य स्वभाव को ग्रहण करने वाला शुद्ध पर्यायाधिक नय कहते हैं। जो एक समय में उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य से युक्त पर्याय को ग्रहण करता है वह स्वभाव अनित्य अशुद्ध पर्यायाधिक नय है। जो चार गतियों के जीवों की अनित्य अशुद्ध पर्याय का कथन करता है वह विभाव अनित्य अशुद्ध पर्यायाधिक नय है।¹⁴ गौण मुख्य द्विवक्षा से परस्पर सापेक्ष होकर ये नय सम्यग्दर्शन के कारण होते हैं और पुरुषार्थ क्रिया में समर्थ होते हैं।¹⁵ नयों के मूलभेद मानने में भी मतभेद है आचार्य सिद्धसेन अभेदग्राही नैगम का सग्रह में तथा भेदग्राही नैगम का व्यवहार नय में अन्तर्भाव करके नयों के छह भेद ही मानते हैं।¹⁶ षट्खण्डागम में नैगमादि शब्दान्त ५ भेद नयों के गिनाये हैं पर कषाय-पाहङ्ग में मूल ५ भेद गिनाकर शब्द नय के ३ भेद कर

दिए हैं और नैगम नय के संग्रहिक और असंग्रहिक दो भेद भी किए हैं। इस तरह सात नय मानना प्रायः सर्वसम्मत है ऐसा प्रो० महेन्द्रकुमार जी ने लिखा है।¹⁷ द्रव्याधिक नय तीन प्रकार का है संग्रह, व्यवहार और नैगम। इन तीनों में से जो पर्यायकलक से रहित होता हुआ अनेक भेदरूप संग्रह नय है वह शुद्ध द्रव्याधिक है और जो पर्याय-कलक से युक्त द्रव्य को विषय करने वाला व्यवहार नय है वह अशुद्ध द्रव्याधिक है। जो सत् है वह दोनों अर्थात् भेद और अभेद को छोड़कर नहीं रहता है इस प्रकार जो केवल एक को अर्थात् अभेद या भेद को ही प्राप्त नहीं होता है किन्तु मुख्य और गौणभाव से भेदाभेद दोनों को ग्रहण करता है उसे नैगम नय कहते हैं। शब्दशील, कर्म, कार्य, कारण, आधार, आधेय, सहचार, मान, मेय, उन्मेय, भूत, भविष्यत् और वर्तमान इत्यादिक का आश्रय लेकर होने वाला उपचार नैगम नय का विषय है।¹⁸ पर्यायाधिक नय ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ, एवम्भूत के भेद से ४ प्रकार है इनमें जो तीन काल विषयक अपूर्व पर्यायों को छोड़कर वर्तमान कालविषयक पर्याय को ग्रहण करता है वह ऋजुसूत्र नय है।¹⁹ जो शक्ति अर्थात् अर्थ को बुलाता है या उसका ज्ञान कराता है वह शब्दनय है यह नय लिंग, बचन, कारक पुरुष और उग्रह के व्यभिचार को दूर करने वाला है।²⁰ शब्दभेद से जो नाना अर्थों में रूढ़ हो अर्थात् जो शब्द के भेद से अर्थ के भेद को स्वीकार करता है वह समभिरूढ नय है।²¹ जैसे इन्दन अर्थात् ऐश्वर्यो व सोम रूप क्रिया के सयोग में इन्द्र, सकल क्रिया के सयोग में शक्र और पुरो के विभाग करने रूप क्रिया के सयोग में पुरन्दर इस प्रकार एक अर्थ का एक शब्द से परिज्ञान होने से अथवा अन्वर्थक शब्द का उस अर्थ में सामर्थ्य न होने से पर्याय शब्दों प्रयोग व्यर्थ है इसलिए नाना अर्थों को छोड़कर एक अर्थ में ही शब्द का रूढ़ होना इस नय की दृष्टि में उचित है।²² जो शब्द गत वर्णों के भेद से अर्थ का और गौ आदि अर्थ के भेद से गौ आदि शब्द का भेदक है वह एक भूतनय है क्रिया का भेद होने पर एवम्भूत नय अर्थ का भेदक नहीं है क्योंकि शब्द नय के अन्तर्गत एवम्भूत नय के अर्थ नय का विरोध है।²³

जैनदर्शन में ये नय वस्तु को सम्यक् रूप से समझने

की कुंजी है। तत्त्वज्ञान के निरूपण की दिशा वस्तु तत्त्व के विश्लेषण पूर्वक वर्णन की होती है। अतः हमें आचार्यों की विभिन्न नय दृष्टियों का यथावत् परिज्ञान करके तथा तीर्थ की व्याख्या में प्रवृत्त होना चाहिए।

एक आचार्य की भी विभिन्न प्रकरणों में क्या विवक्षा है यह सम्यक् प्रतीति करके ही सर्वनय समूह साध्य अनेकान्त —निकट दि० जैन मन्दिर, बिजनौर

सन्दर्भ-सूची

१. कषायपाहुड़ भाग १ प्रस्तावना पृ० १०६ प्र० भारत-वर्षीय दि० जैन संघ, मथुरा।
२. प्रमाणनयैरधिगमः तत्त्वार्थ सूत्र १-६।
३. धवला स० पृ० ७३।
४. नयोज्ञातुरभिनाय —लघीयस्त्रय-अकलकदेव श्लोक ५२
५. प्रमाणप्रकाशितार्थविशेषप्ररूपको नय १-३३ तत्त्वार्थ राजवार्तिक।
६. स्याद्वादप्रविभक्तार्थ विशेषव्यञ्जको नय। आप्त-मीमांसा श्लोक १०।
७. सिद्धि विनिश्चय १०।३।
८. नाय वस्तु न चा वस्तु वस्त्वश कथ्यते यतः। नासमुद्रः समुद्रो वा समुद्रांशो यथोच्यते ॥ —त० श्लोकवार्तिक १।६
९. अनेकान्तोऽप्यनेकान्त प्रमाण नय साधन। अनेकान्त प्रमाणान्ते तदेकान्तोऽपितान्नयात् ॥ —वृ० स्वयम्भूः समन्तभद्र १०३।
१०. सकलादेश. प्रमाणाधीन, विकलादेशो नयाधीन। —सर्वार्थसिद्धि. पूज्यपाद १।६
११. स्यादस्ति स्यान्नास्ति स्यादवक्तव्य. स्यादस्ति च नास्ति च स्यादस्ति चा वक्तव्यश्च स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यश्च घट इति सप्तापि सकलादेशः। —कषायपाहुड़ भाग १, पृ० २०१-२०२
१२. कषाय पाहुड़ भाग १, पृ० २०३।
१३. जह सत्याणं माई सम्मत्त जह तवाद्गुणणिलए। धाउवाए रसो तहणयमूल अणेयंते ॥ —द्रव्यस्वभाव प्रकाशक नय चक्र। माइल्लधवल १७५
१४. जे णयदिट्ठविहीणा ताण ण वत्थूसहावउवलद्धि। वत्थूसहाव विहूणा सम्मादिट्ठी हवइ जीवो ॥ —नयचक्र : द्रव्यस्वभाव प्रकाशक माइल्लधवल १८१

१५. ववहारो भूयत्योऽभूयत्यो देसिदो दु सुद्धणओ। भूदत्थमस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवइ जीवो ॥ —समयसार कुन्दकुदाचार्य गाथा ११, अहिंसा म० दिल्ली
१६. द्रव्यस्वभाव प्रकाशक नयचक्र माइल्लधवल विरचित गाथा १८२।
१७. द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धाना धर्मदेशना। लोकसंवृत्तिसत्यं च सत्यं च परमार्थं ॥ —माध्यमिक कारिका आर्य सत्य परीक्षा श्लोक ८
१८. जो पस्सदि अप्पाण अबद्धपुट्ठ अण्णय णियद। अविसेसमसजुत त सुद्धणय वियाणीहि ॥ —समयसार १४
१९. ववहारणयो भामदि जीवो देहो य हवदि खलु इक्को। ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो य कयावि एकट्ठो ॥ —समयसार २७
२०. दोण्हवि णयाण भणिय जाणइ णव्वरि तु समय पडिबद्धो। णदु णयपक्ख गिण्हदि किञ्चवि णयपक्खपरिहीणो ॥ —समयसार गाथा १४३
२१. तत्त्वार्थ राजवार्तिक ४-४२ हिन्दी सार पृ० ४२०।
२२. " ४-४२ " पृ० ४२१।
२३. आप्तमीमांसा कारिका १०७।
२४. अष्टशती कारिका १ ५।
२५. दो चेव य मूलणया.....जाणतिविह पि ॥ —द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र माइ० धवल गा० १८३-१८७
२६. तत्त्वार्थवार्तिक १।३३।
२७. ब्रवति गच्छति तांस्तान्पर्यायान्, द्रूयते गभ्यते तैस्तैः पर्यायैरिति वा द्रव्यम् —कषायपाहुड़ भाग १, पृ० २११
२८. स्वपरप्रत्ययोत्पाद विगमपर्यायै द्रूयन्ते गभ्यते पर्यायैरिति वा द्रव्यम्। —तत्त्वार्थवार्तिक ५।२
२९. तत्त्वार्थसूत्र ५-२६।
३०. " ५-३०।
३१. " ५-३१।

३२. दब्बं पज्जव विउयं दब्ब विउत्ता य पज्जवा णत्थि ।
उप्पायट्ठिहंभा हदि दविय लक्खणं एयं ॥
—सन्मति प्रकरण १।१२
३३. अपरिचत्त सहावेणुप्पादव्वय धुवत्तसज्जुत्त ।
गुणवं च सपज्जायं जं जं दब्बति वुच्चति ॥
प्रवचनसार अ० २।३
३४. तत्वार्थ वातिक १।३३ ।
३५. द्रव्यस्वभाव प्रकाशक नयचक्र : माहल्लघवल संपादक
कैलाशचन्द्र शास्त्री गाथा १८६ से २०४ ।
३६. तत्वार्थवातिक हिन्दी सार : स० प्रो० महेन्द्रकुमार
न्यायाचार्य हिन्दी सार पृ० ३३४ ।
३७. सन्मति प्रकरण १।४।५ ।
३८. सिद्धिविनिश्चय टीका प्र० भाग—सम्पादक पंडित
महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य प्रस्तावना पृ० १४४ ।
३९. कषायपाहुड़ भाग १, गयपरुवणं भाग १, छाया १३-
१४, पृ० २२१ ।
४०. षट्खण्डागम : वेदनाखण्ड कृति अनुयोग द्वार खण्ड
४, भाग १, पुस्तक ६, पृ० १७१ ।
४१. तत्वार्थ राजवातिक १।३३ ।
४२. सर्वार्थसिद्धि १।३३, ष० खं० पु० १, पृ० ८६ ।
४३. जयधवल पृ० २७० ।
४४. ष० ख० पु० १, पृ० ६०; जयधवला १, पृ० २४२ ।

(पृ० २० का शेषांश)

चन्द्र तथा यतीन्द्र कुमार शास्त्री ने ग्रन्थ सूची निर्माण एवं प्रकाशन का कार्य अपने हाथ में लिया था परन्तु किन्ही कारणों से वे इसे पूरा नहीं कर पाये ।

तत्पश्चात् सन् १९७७ मे लेखक ने इस ग्रन्थ भण्डार के वर्तमान मे उपलब्ध ग्रन्थों की सूची के निर्माण एवं उसके प्रकाशन का कार्य हाथ मे लिया । लेखक के समक्ष शास्त्र भण्डार की व्यवस्था सम्बन्धी सीमाएं हैं जिनके

कारण वे इसे शीघ्रतर पूरा नहीं कर पा रहे हैं । फिर भी अब तक सूची के दो भाग प्रकाशित किये जा चुके हैं, अगला भाग प्रेस में दिया जा रहा है । ग्रंथ भण्डार की सम्पूर्ण सूची का पांच भागों मे प्रकाशित करने का लेखक का अपना संकल्प है ।

—जैन अनुशीलन केन्द्र,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर ।

सम्बन्ध-सूची

1. Jainism in Rajasthan by K. C. Jain p. 153
2. History of Gujrat Page 68.
3. Epigraphika Indomuslima 1623-24 & 26.
4. राजस्थान के ग्रंथ भण्डारों की सूची भाग प्र० पृ० ७६
5. सपादलक्षे विषयेति सुंदरे, भियांपुरं नागपुरं समस्तितत् ।
फैरोजखाना नृपति प्रयासिन्यायेन शौर्येण रिपुनिहंति च ।।
6. Dr. P.C. Jain, Granth Bhandar in Jaipnr and Nagpur, P. 118.
7. नागौर ग्रंथ भण्डार मे उपलब्ध भट्टारक पट्टावली के आधार पर । ब-डा० जोहरापुरकर-भट्टारक सम्प्रदाय पृ० १२४-२५ ।
8. डा० कासलीवाल ने शाकम्भरी प्रदेश के सांस्कृतिक विकास में जैनधर्म का योगदान में 'भुवनकीर्ति' नाम दिया है ।
9. नोट—जैन सिद्धान्त भास्कर किरण ४ भाग १ अप्रैल से जून तक १९१३ में पृ० ८० पर ६वें भट्टारक का नाम भुवनकीर्ति तथा १३वें में अमरेन्द्रकीर्ति दिया गया है । और डा० कासलीवाल ने भी 'वीर शासन के प्रभावक आचार्य' मे इनका 'अमरेन्द्रकीर्ति' नाम दिया है ।

जैन साहित्य में वर्णित जन-जातियाँ⁺

□ डा० प्रेम सुमन जैन, उदयपुर

भारतीय समाज में जातियों का विभाजन प्रायः चतुर्वर्ण जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत हुआ है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र इन चार जातियों के अन्तर्गत विभिन्न जातियों को सम्मिलित किया जाता रहा है। किन्तु नीति शास्त्रों में वर्णित इन चारों जातियों के कार्य एवं प्रतिष्ठा समय-समय पर बदलती रही है।^१ भारत के प्राचीन साहित्य एवं इतिहास की सामग्री में जातियों के इस विकास-क्रम के उल्लेख प्राप्त हैं। जैन साहित्य ईसा की प्रथम शताब्दी से वर्तमान युग तक लिखा जा रहा है।^२ इस विशाल साहित्य का सम्बन्ध जन-जीवन तथा लोक-जीवन से अधिक रहा है।^३ अतः जैन साहित्य में जन-जातियों की संस्कृति का पर्याप्त वर्णन हुआ है। अभी इस दृष्टि से जैन-साहित्य का अध्ययन नहीं हुआ है। अतः जन-जातियों के प्रारम्भिक जीवन के अध्ययन की दृष्टि से जैन साहित्य में शोध कार्य की अधिक सभावनाएँ हैं।

भगवान् महावीर के उपदेशों का सग्रह प्राकृत भाषा के आगम साहित्य में हुआ है।^४ यह आगम साहित्य लगभग एक हजार वर्ष की भारतीय संस्कृति को अपने में समेटे हुए है। इसका आधारभूत अध्ययन डा० जगदीश-चन्द्र ने अपने ग्रन्थ “जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज” में प्रस्तुत किया है।^५ इसी तरह के अन्य अध्ययनों की भी नितात आवश्यकता है। प्राकृत के कुछ स्वतन्त्र कथाग्रंथों का भी सामाजिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन विद्वानों ने प्रस्तुत किया है।^६ उससे भी प्राकृत साहित्य में वर्णित भारतीय समाज का चित्र उजागर होता है। इन अध्ययनों से तथा जैन साहित्य के अन्य ग्रन्थों से भारत की जन-जातियों आदि पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। प्रस्तुत निबन्ध में संक्षेप में कुछ जन-जातियों का वितरण प्रस्तुत किया गया है, जिसे आधुनिक समाज शास्त्रीय दृष्टि से जाँचा-परखा जा सकता है।

प्राचीन भारत में शूद्रों की स्थिति के सम्बन्ध में विद्वानों ने विशेष अध्ययन किये हैं।^७ उसके आधार पर वर्तमान में जिन्हें हरिजन, अनुसूचित जन-जाति आदि के

नाम से जाना जाता है, उन्हें पहले शूद्र के अन्तर्गत गिना जाता था। मोटे तौर पर जो जातियाँ किसी भी कारण से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के अन्तर्गत नहीं आ पाती थीं। उन्हें शूद्र जाति के अन्तर्गत गिना जाता था। कृषक, शिल्पी, अन्त्यज और मलेच्छ कही जाने वाली जातियाँ शूद्र के अन्तर्गत थीं। यद्यपि आगे चलकर पूर्व-मध्य युग में ये जातियाँ क्रमशः अपनी स्थिति में सुधार कर रही थीं।^८ आर्थिक सम्पन्नता के कारण इन्हें कुछ सम्मान प्राप्त हो रहा था, किन्तु इनकी सामाजिक और धार्मिक स्थिति अच्छी नहीं थी।

जैन साहित्य में जातियों का विभाजन यद्यपि परंपरागत ढंग से इन चार वर्णों में हुआ है—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। किन्तु इनको प्रमुख रूप से दो वर्गों में विभक्त किया गया है—(१) आर्य जातियाँ और (२) अनाय जातियाँ। प्रज्ञापना (१.६७-७१) नामक प्राकृत आगम में वर्णित है कि आर्यों के छह भेद थे—क्षेत्र आर्य, जाति-आर्य, कुल-आर्य, कर्म-आर्य, भाषा-आर्य और शिल्पी-आर्य। इनमें जाति आर्य में छह जातियाँ थी—अम्बट्ठ, कलिन्द, विदेह, वेदग, हरित और चुचुण। इनमें से अम्बट्ठ और विदेह निम्न जातियाँ थीं। कर्म-आर्यों में कुम्हार (कौलालिय) और पालकी दोनों वाले (णरवाहणिय) निम्न जातियाँ थीं। शिल्प-आर्यों में मशक बनाने वाले देयड़, रस्सा बटने वाले वरुड़, चटाई बुनने वाले छबिय आदि निम्न जाति के कर्मकार थे। रामायण एवं बौद्ध साहित्य में भी इनमें से कुछ जातियों का उल्लेख है।^९

अनाय जाति के लोग आर्यों के अधीन रहते थे और प्रायः ये कृष्ण वर्ण के होते थे।^{१०} प्राकृत के प्रति कथाकार हरिभद्रसूरि ने “उन जातियों को जो आचार-विचार से भ्रष्ट हों तथा जिन्हें धर्म-कर्म का कुछ विवेक न हों, अनाय या म्लेच्छ कहा है। उद्योतनसूरि ने भी कुबलय-माला कहा है अनायों को पापी, प्रचण्ड और धर्म, अर्थ, काम, पुरुषार्थ से रहित कहा है। उन्होंने लगभग ४० प्रकार की अनाय जातियों का उल्लेख किया है, जिनकी

म्लेच्छ, अन्त्यज, कर्मकार एवं विदेशी इन चार जातियों में प्रमुख रूप से विभक्त किया जा सकता है।^{११}

प्राकृत आगम के प्रसिद्ध ग्रंथ निशीथसूत्र (१६.२६ आदि) में पांच प्रकार की अनार्य जातियों का उल्लेख है—बिरुव, दसू, अणारिय, मिलक्खू और पच्चतिय। अनेक वेष धारण करने वाले और विभिन्न जन-भाषाओं को बोलने वाले लोग बिरुव कहलाते थे। इस बिरुव का आधुनिक शब्द बँरवा हो सकता है। राजस्थान में बँरवा जाति प्रचलित है। क्रोधी और दांत से काट खा जाने वाले जंगली लोग दसू (दस्यु) कहलाते थे। आर्यभाषा को न समझने वाले, हिंसा आदि में रत लोग अनार्य कहे जाते थे। अव्यक्त वाणी बोलने वाले आदिवासी म्लेच्छ कहे जाते थे। तथा गांव या नगर की सीमा के बाहर निवास करने वाले निवासी पच्चतिय (प्रत्यतिक) कहे जाते थे।^{१२} प्राकृत के इस विवरण से यह प्रतीत होता है कि उस समय की जन-जातियों के विशेष लक्षण इस प्रकार थे—विचित्र वेष-भूषा, ग्रामीण बोली, हिंसक-प्रवृत्ति, कुरूपता और एकांतवास। ये प्रवृत्तियाँ थोड़े-बहुत परिवर्तन के साथ आज भी जन-जातियों में मिल जायेंगी।

जैन साहित्य में मुख्यरूप से आर्य संस्कृति के विपरीत आचरण करने वालों को म्लेच्छ कहा गया है। आठवीं शताब्दी तक इन म्लेच्छों का रहन-सहन अलग था। अतः इनके संगठन भी भ्रन गए थे।^{१३} प्रश्नव्याकरण सूत्र तथा कुवलयमाला में कई म्लेच्छ जातियों के उल्लेख हैं। उनमें से कुछ जातियों का परिचय इस प्रकार है :

औड : औड की आधुनिक पहचान उडीसा की पिछडी जातियों से की जा सकती है। ह्युनसांग ने इनको औड कहा है, जो काले रंग के असभ्य लोग थे।^{१४}

चंचुय : यह जाति भारत के सीमा प्रदेशों में निवास करती थी। वर्तमान में दक्षिण भारत की चेच्चुस नामक जाति से इसकी पहिचान की जा सकती है।^{१५}

मुहंड : प्राकृत के अतिरिक्त भी अन्य भारतीय साहित्य में इसके उल्लेख हैं। इतिहास से ज्ञात होता है कि समुद्रगुप्त ने शक और मुरुडों को हराया था।^{१६} किन्तु बाद में इस जाति के उल्लेख नहीं मिलते। अतः मुरुड

जन-जाति न होकर कोई विदेशी जाति रहिं होगी।

आरण्य : जंगल में निवास करने के कारण जन-जाति का एक नाम आरण्य भी था। यह घनुर्धर एवं बीर जाति थी। आरण्य जाति के लोग शिकार करते थे। वे जंगली जड़ी-बूटियोंको एकत्र कर उन्हें नगरोंमें बेचते थे।^{१७}

चरटु : म्लेच्छ जातियों में चरट नामक जाति भी थी। उसे आरण्यचर भी कहते हैं।^{१८} जो उसके जंगल में विचरण करने का द्योतक है।

गोंड : यह भी एक जन-जाति थी, जिसे अनार्य कहा गया है।^{१९} नर्मदा तथा कृष्णा नदी के बीच में स्थित प्रदेश में इनका निवास बताया गया है।^{२०} मध्यप्रदेश में आज भी गोंड नामक जनजाति है, जो जंगल की वस्तुओं से ही अपनी जीविका चलाती है।

किरात : यह जाति प्राचीन भारत में प्रचलित जंगली जाति है।^{२१} म्लेच्छ जाति की यह एक उपजाति थी। किरातार्जुनीयम् नामक संस्कृत काव्य से किरातों की वेश-भूषा स्पष्ट हो जाती है।^{२२} कुवलयमाला, यशस्तिलकचम्पू में किरात को शिकारी जाति के रूप में गिना है। किरात का दूसरा नाम बिलान भी मिलता है।^{२३} किसी वन में किरातों का राज्य होता था।^{२४}

शबर : अनार्य जातियों में शबरों का प्रमुख स्थान था। जैन-साहित्य में शबर को असभ्य और जंगली जाति माना गया है।^{२५} शबर जाति के लोग दरिद्री होते थे। ठंड में भी उनके पास कपड़े नहीं होते थे। समराइच्चकहा में भिल्ल और शबर जाति को एक माना है।^{२६} शबरों की अलग पाल्लि (गांव) होती थी। जिसका एक मुखिया होता था शबर जंगल से गुजरने वाले पथिकों एवं साथीों को लूट लेते थे। शबर चण्डिका देवी की आराधना करते थे।^{२७} जंगल की जड़ी-बूटियों का इन्हें ज्ञान था। अतः शबर रोगों का उपचार भी करते थे। दक्षिण भारत की पहाड़ी जाति के रूप में शबर प्रसिद्ध थे। शबर कुछ विद्याओं के जानकार थे। उनकी शाबरी-विद्या शबर-वेष धारण करके ही सीखी जा सकती थी।^{२८}

पुलिन्द : प्राचीन साहित्य में पुलिन्दों का पर्याप्त उल्लेख है। पुलिन्द भी भीलों की ही एक जाति थी।

किन्तु पुलिन्दों ने अपना सामर्थ्य बढ़ाकर अधिपति बनना प्रारम्भ कर दिया था। कुवलयमाला में पुलिन्द राजकुमार का भी उल्लेख है। किन्तु उसे राज्यसभा में पर्याप्त आदर प्राप्त नहीं था।^{१२} पुलिन्दी दासियां भी राजदरबार में रखी जाती थीं।^{१३}

भील : प्राचीन जन-जातियों में भील जाति के भी उल्लेख हैं। शबर, पुलिन्द भिल्ल इन तीन के नाम प्रायः एक साथ मिलते हैं। तीनों ही जंगली जातियां थी। इनमें थोड़ा अन्तर रहा होगा। कुवलयमाला में भिल्ल जाति की दो पल्लियों (गाँवों) का वर्णन किया गया है, जिससे उनके क्रिया-कलापों और रहन-सहन का पता चलता है। भिल्लपति एक राजा के समान अपना शासन चलाता था। सद्यः पर्वत में चिन्तामणिपल्लि थी, जो कुछ समय भीलों का निवास-स्थान थी। किन्तु विन्ध्य पर्वत की म्लेच्छपल्लि असम्य और जंगली भीलों की बस्ती थी।^{१४} प्राकृत साहित्य से ज्ञात होता है कि भील शिव के परम भक्त होते थे।^{१५} शबर और भिल्ल जाति के लोग सेना में काम करते थे। युद्ध में उनकी सेना सबसे आगे रहती थी।^{१६}

इनके अतिरिक्त वनेचर, मातंग आदि भी जंगली जन-जातियां थी।^{१७} इन सभी जन-जातियों का वर्तमान

सन्दर्भ में अध्ययन किया जा सकता है। जैन साहित्य के इस प्रकार के उल्लेखों को ध्यान में रखकर भारतीय जन-जातियों के इतिहास और विकासक्रम को प्रस्तुत किया जा सकता है।

प्राकृत साहित्य के मध्ययुगीन साहित्य में भी इन जातियों का उल्लेख है। कुछ अन्य नई जातियां भी इसमें सम्मिलित हुई हैं। यदि इस साहित्य का सूक्ष्म दृष्टि से मूल्यांकन किया जाए तो भारतीय समाज की विभिन्न जातियों के उद्भव और विकास का पता चल सकता है। प्राकृत साहित्य की दृष्टि जन-सामान्य के जीवन की ओर रही है। अतः उसने सूक्ष्मता से मनुष्य के जीवन को आँका है। समाज के किसी भी वर्ग के चित्रण में इस साहित्य ने संकोच नहीं किया है। अतः इसमें भारतीय समाज का सही प्रतिबिम्ब प्राप्त हो सकता है। समाज शास्त्रियों और इतिहास वेत्ताओं का ध्यान प्राकृत साहित्य की ओर आकृष्ट करने के लिए प्राकृत की इस प्रकार की बहुमूल्य सामग्री को आधुनिक ढंग से प्रस्तुत करने की आवश्यकता है, जिसकी पूर्ति प्राकृत के विद्वान कर सकते हैं।

□ □

सन्दर्भ-सूची

१. घुर्ये, कास्ट एण्ड रेस इन इण्डिया।
२. शास्त्री, नेमिचन्द्र, प्राकृत भाषा एवं साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, वाराणसी।
३. द्रष्टव्य, लेखक का निबन्ध—“प्राकृत साहित्य और लोक संस्कृति” पं. चैनसुखदास अभिनन्दन ग्रंथ जयपुर
४. जैन साहित्य का बृहत् इतिहास, भाग १-३
५. जैन जे० सी० जैन लाइफ इन ऐंशियेन्ट इण्डिया, ऐज डिफिक्टेड इन जैन कैनन्स, बम्बई।
६. (क) चन्द्रा, के० आर०, ए क्रिटिकल स्टडी आफ पञ्चमचरियं।
(ख) शास्त्री, नेमिचन्द्र, हरिभद्र के प्राकृत कथा साहित्य आलोचनात्मक परिशीलन, बैशाली।
(ग) जैन, प्रेम सुमन, कुवलयमालाकहा का सांस्कृतिक अध्ययन।
७. शर्मा दशरथ, राजस्थान थू दि एजेज, बीकानेर पृ० ४२७।
८. बुद्धप्रकाश, आस्पेक्ट्स आफ इंडियन हिस्ट्री एण्ड सिविल इजेशन, पृ० २५५।
९. (क) रामायण (२. ८३-१२ आदि)।
(ख) दीर्घनिकाय १, सामंयफलसुत्त (पृ० ४४)।
१०. सेनार्ट, कास्ट इन इण्डिया, पृ० १२२ आदि।
११. समराइच्चकहा, पृ० ३४८ एवं ६०५ आदि।
१२. विस्तार के लिए देखें—लेखक की पुस्तक—कुव० सा० अ० पृ० १०८ आदि।
१३. निशीथ भाष्य, १६ २७-२८ चूर्णी।
१४. शर्मा राजस्थान थू दि एजेज, पृ० ४४३, पृ० ४२६१
१५. प्राचीन भारतीय स्थलकोश प्रयाग, पृ० २४१
(शेष पृ० ३० पर)

बाहर-भीतर

□ श्री बाबूलाल जैन

देखने के दो तरीके हैं बाहर से देखना अथवा भीतर की तरफ से देखना। एक वृक्ष से एक पत्ता गिर गया और नया पत्ता आ गया बाहर से देखने वाला देखता है कि पुराना पत्ता गिरने से नया पत्ता आया है। उसका कहना जैसा बाहर से दिखाई देता है उसी पर आधारित है परन्तु भीतर से देखने वाला कहता है कि नया पत्ता आने के सम्मुख हुआ तो पुराने पत्ते ने जगह खाली कर दी। अब अपने को समझना है कि सही बात क्या है। यह सही है कि दोनों अवस्थाओं में पुराना पत्ता गिरा है परन्तु देखना है कि पुराना पत्ता गिरना कारण है कि कार्य है। बाहर से देखने वालों को कारण दिखाई देता है अतर से देखने वालों को कार्य याने (reaction) दिखाई देता है।

आत्मकल्याण के कार्य में भी ऐसे दो प्रकार से दिखाई देता है। बाहर से देखने वाला समझता है इतना त्याग करने से—इतना काया कष्ट करने से, इतना व्रत उपवासदि करने से ऐसी बीतरागता प्राप्त हो जाती है और वह वैसा करने का पुरुषार्थ करता है परन्तु उलब्धि प्राप्त नहीं होती। जैसे बाहर के पत्ते कच्चे तोड़कर फेंक देने से नया पत्ता नहीं आता परन्तु भीतर से देखने वाला देखता है कि अगर मैं भीतर में निज आत्मस्वभाव का अवलम्बन कर—और ज्ञाता-दृष्टा बने रहने का पुरुषार्थ करूँ तो स्वालम्बन बढ़कर परालम्बन छूटता चला जायेगा। फिर बाहर में त्याग नहीं करना पड़ेगा परन्तु बाहर में उसकी जरूरत ही नहीं रहेगी। बाहर से देखने वाले को कायाकष्ट मालूम देता है परन्तु वह तो गर्मी सर्दी में रहते हुए भी दुख नहीं भोग रहा है परन्तु अपने स्वभाव का भोग कर रहा है वहाँ गर्मी सर्दी मालूम ही नहीं हो रही है। निज आनन्द में लगा हुआ है भूख और प्यास की जरूरत ही नहीं। बाहर में कार्य तो मभी उसी प्रकार

के हो रहे हैं जैसा पहले वाले ने किया है परन्तु दोनों में बड़ा फर्क है एक शारीरिक परिवर्तन है और एक आत्मीक परिवर्तन है। एक आत्मीक क्रांति है जो पूरे जीवन को बदल देती है।

इसी को कहते हैं केवल व्यवहार का उपदेश जो पहले वाला है। और एक है निश्चयपूर्वक व्यवहार जो दूसरा है। असली बात तो निश्चयपूर्वक व्यवहार है परन्तु जो देखा जाता है कि अभी इसकी पात्रता नहीं है तो मात्र व्यवहार का याने बाहर का उपदेश देते हैं यह समझकर कि कम से कम इसमें लगा रहेगा उतना ही ठीक है फिर कभी असलियत को समझने का उपाय करेगा।

एक और तीसरा व्यक्ति है जो अतर को तो जाना नहीं अतर दृष्टि हुई नहीं परन्तु किसी से अथवा ग्रन्थों से उसका कथन जान कर बना हुआ ज्ञानी है वह आत्म-क्रांति को तो प्राप्त हुआ है? इसलिए बाहर में परिवर्तन आता नहीं और पहले वाले खाली व्यवहार को गलत समझ बैठे और फल यह निकला कि बाहर में स्वच्छन्दता को प्राप्त हो जाता है।

इसी प्रकार बाहर से देखने वाला समझता है कि फलाने आदमी ने गाली निकाली इसने मुझे क्रोध करा दिया। उसने ऐसा किया इसलिए मेरे को राग हो गया। उसका सुख-दुःख सब पर के अधीन हो जाता है। रास्ते चलते किसी भीख मांगने वाले ने बाबू जी कह दिया तो सुख हो गया और चलबे ! बाबू जी तेरे जैसे बहुत देखे हैं, कह दिया तो दुखी हो गया। असल में विचार जावे तो हमारा दुःख-सुख एक भिखमंगे के आधीन है। यह है हमारी आत्मा की पराधीनता का नमूना। हमें विचारना होगा कि दुख पैदा करने वाला वह भिखमंगा था कि कुछ और था।

ग्रन्थकार कहते हैं कि बोला गया शब्द तो यह कहता

नहीं कि तू मेरे को सुन और कान में जाकर वह आपको दुखी बना दे ऐसा भी नहीं परन्तु उस शब्द को तुमने ही सुनने की चेष्टा की है और तुमने ही उसको उस रूप से ग्रहण किया है जिससे दुखी हुआ है। तूने उस शब्द के साथ सम्बन्ध जोड़ा है तू अपने से सम्बन्ध जोड़े रहता तो कुछ होता नहीं। अपने से हटकर शब्दों से और शब्दों के कहने वाले से जैसा सम्बन्ध जोड़ा वैसा दुखी-सुखी तू हो गया। इसलिए भीतर से देखने वाला समझदार है कि दुख-सुख का कारण शब्द नहीं वह व्यक्ति नहीं परन्तु मैं हूँ जिससे उससे सम्बन्ध जोड़ा है। वह अपनी गलती भीतर समझ कर कालांतर में फिर पर से सम्बन्ध नहीं जोड़ने का अथवा अपने से सम्बन्ध बनाये रखने का पुरुषार्थ करता है जबकि पहले वाला गाली निकालने वाले व्यक्ति को दुख का कारण समझकर उससे द्वेष और सुख का कारण समझकर उससे राग करता है।

पहली परालम्बन दृष्टि है दूसरी स्वालम्बन दृष्टि है। पहली बात हमें बाहर की तरफ, पर की तरफ ले जाती है दूसरी हमें बाहर से भीतर लाती है। आत्मकल्याण बाहर से, पर से, भीतर आने में है भीतर ही रहने में है। संसार मार्ग भीतर से बाहर में पर में जाने में है। जो शब्द, जो मूर्ति, जो स्तोत्र जो पूजा हमें बाहर से भीतर ले जाने में प्रेरक है वह उपयोगी है जो हमें भीतर से बाहर की तरफ प्रेरणा करती है वह उपयोगी नहीं है यही

हमारा पैमाना है और यही वह फार्मूला है। सवाल है बाहर से भीतर नहीं परन्तु भीतर से बाहर की तरफ। हर बात को इसी पैमाने पर नापना है।

इसी प्रकार एक बीज जब बोया जाता है और जब वह अंकुरित होने के सम्मुख होता है तो फट जाता है और जैसे-जैसे आगे बढ़ता है ऊपर की चट्टाने रास्ता देने लगती है और ऊपर की जमीन फट जाती है। ऊपर की जमीन फटना बता रही है कि अब बीज पौधा बनने लग गया है परन्तु बाहर से देखने वाले कितनी ही जमीन को क्यों न फाड़े परन्तु पौधा नहीं निकल सकता।

एक तो फल पकता है गाच्छ पर और एक पकाया जाता है कारवाइड गैस देकर। जो कारवाइड गैस देकर पकाया जाता है वह ऊपर ऊपर से, बाहर से तो पका दिखाई देता है परन्तु भीतर में मिठास नहीं होता और उसकी पकस अन्ततः तक नहीं जाती परन्तु जो गाच्छ का पका होता है वह भीतर से पकता है और उसकी पकस भीतर से बाहर की तरफ आती है, उसकी मिठास का क्या कहना। यही बात आत्मा के बारे में है भीतर जब आत्म परिवर्तन होता है तब आत्मदर्शन होता है तो बाहर में उसी के अनुकूल मिठास आती है। फल में परिवर्तन आता है परन्तु बाहर का परिवर्तन करने मात्र से भीतर में मिठास नहीं पैदा होती।

—सन्मति बिहार, नई दिल्ली

(पृ० २८ का शेषांश)

१६. जामखेडकर, कुवलयमाला ए कलचरल स्टडी, पृ० २४२।
१७. फ्लीट, भाग ३ पृ० ८
१८. आदि पुराण (जिनसेन) १६-१६१
१९. आदिपुराण में प्रतिपादित भारत, पृ० १५५
२०. समराइच्चकहा, ४ पृ० ३४६
२१. आप्टे संस्कृत-हिन्दी कोश।
२२. समराइच्चकहा, १, पृ० ५५
२३. किराता०, सर्ग १२, श्लोक ४०-४३
२४. ज्ञाताधर्म कथा, अ० २
२५. यशस्तिलकचम्पू पृ० २०३ (उत्तरा०)
२६. यादव, समराइच्चकहा का सांस्कृतिक अध्ययन पृ० १०५।

२७. समराइच्चकहा, ७, पृ० ६८८
२८. वही ६, पृ० ५२६
२९. जैन प्रेम सुमन, कुवलयमाला का सां० अ० पृ० २४१-४२
३०. वही, पृ० ३१६
३१. ज्ञाताधर्म कथा, प्रथम अध्ययन।
३२. कुवलयमाला का सां० अ०, पृ० ७७-७८
३३. दशवैकालिक (हरिभद्रवृत्ति), पृ० २०८
३४. वर्धमान चरितं, सोलापुर, ३-३८
३५. जैन, गोकुल चन्द्र, यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन पृ० ६६

विचारणीय-प्रसंग

(आत्मा और शान्तरस : एक विसंगति)

□ पद्मचन्द्र शास्त्री, नई दिल्ली

तत्त्वार्थ सूत्र जैन आगम का महत्वपूर्ण सूत्र-ग्रन्थ है और जैन के सभी सम्प्रदायों में आबाल-वृद्ध बड़ी श्रद्धा से पढ़ा सुना जाता है। इसकी पवित्रता का सहज अनुमान इसी से होता है कि इसका एक बार पाठ करने से वाचक और श्रोता दोनों को बिना ही उपवास किए, एक उपवास का फल-लाभ हो जाता है। इसमें सात तत्त्वों के क्रम में समस्त पदार्थों के मूल-प्रवाहों और स्थितियों का दिग्दर्शन कराया गया है। इसके दूसरे अध्याय के प्रथम सूत्र में जीव के भावों का वर्णन है। आचार्य ने जीव के भावों को पाँच विभागों में बाटा है। तथाहि—‘औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्व-तत्त्वमौदयिक पारिणामिकौ च’ अर्थात् औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक भाव जीव के स्व-तत्त्व हैं। ये सभी भाव जीव की अपेक्षा से हैं, शुद्ध आत्मा के परिप्रेक्ष्य में नहीं।

उक्त पांच भावों में शुद्धात्माओं में औपशमिक, क्षायो-पशमिक और औदयिक भावों का अभाव तो स्पष्ट परिलक्षित होता है। औदयिक भाव के लक्षण में तो यह भी कहा गया है कि—‘द्रव्यादि निमित्तवशान् कर्मणा फलप्राप्तिरुदयः’ अर्थात् द्रव्य आदि के निमित्त वश से कर्मों की फलप्राप्ति उदय है और कर्म के उदय में होने वाला भाव औदयिक भाव है। जैसे साता वेदनीय के उदय में मानसिक-शारीरिक शान्ति या असाता वेदनीय के उदय में मानसिक-शारीरिक अशान्ति। यदि शान्तरस साता का ही नाम है तो वह कर्मोदयजन्य-संसारि होने से शुद्धात्मा में नहीं बनता। तथा—‘सुखदुःख जीवतमर-जोपग्रहादयः’ और ‘कम्मशरीरमज्जाभासाभाजपाणसुह-भुक्ख जीविअमरणोवग्गहहेऊ नायव्वा’—समयसार प्रकरण टीका देवनन्दाचार्य अ० २, पृ० १२ के अनुसार सुख-दुःखादि शरीरकृत उपकार भी हैं और शरीर भी नामकर्मोदयजन्य

है। फलतः शुद्ध आत्माओं में नामकर्म व शरीर तथा वेदनीयकर्म तीनों के अभाव में सुख-शान्ति या शान्तरस की सम्भावना असंभव ठहरती है।

इसके सिवाय जिन भव्यत्व, अभव्यत्व और जीवत्व को पारिणामिक भाव कहा है, यह कहना भी उपचार है। यतः भव्य, अभव्य दो भाव ऐसे हैं जो मुक्त होने और संसार में सदा काल रहने की योग्यता शक्ति के परिप्रेक्ष्य में है—आत्मा के त्रैकालिक स्वभाव की अपेक्षा में नहीं। तीसरा जीवत्व भाव भी आत्मा में सदाकाल रहने वाला भाव नहीं—प्राणों पर अपेक्षित है और उपचार ही है। अत आचार्य ने इस भाव को भी औदयिक घोषित कर पर-निरपेक्ष चैतन्य मात्र को ही पारिणामिक मानने की घोषणा की है। तथाहि—

‘सिद्धा ण जीवा जीविदपुब्बा इवि । सिद्धाणं पि जीवसं किण्ण इच्छिज्जवे ? ण, उवयारस्स सञ्चत्ताभावावो । सिद्धेसु पाणाभावण्णहाणुबत्तीवो जीवसं ण पारिणामियं, किंतु कम्मविवागजं तत्तो जीवभावो ओदइओ सि सिद्धं । तच्चत्वे जं जीवभावस्स पारिणामियसं पक्खिदं तं पाण धारणसं पडुक्ख ण पक्खिदं किंतु चेदण्णगुणभवसंविद्य तत्थ पक्खणा कवा ।’—षट्खडागम, धवला पु० १४, ५।६।१६ पृ० १३

—सिद्ध जीव नहीं है, जीवितपूर्व कहे जा सकते हैं।

शका—सिद्धों के भी जीवत्व स्वीकार क्यों नहीं किया जाता ?

समाधान—नहीं, सिद्धों में जीवत्व उपचार से (कहा) है (और) उपचार को सत्य मानना ठीक नहीं। सिद्धों में प्राणों का अभाव अन्यथा बन नहीं सकता इसलिए ‘जीवत्व’ पारिणामिक भाव नहीं है, किन्तु कर्मोदय जन्य है। इसलिए ‘जीव’ (य) भाव औदयिक है ऐसा सिद्ध है। त० सूत्र में जो ‘जीवत्व’ को पारिणामिक कहा है

वह प्राण धारण की अपेक्षा से प्ररुषित नहीं किया किन्तु चेतनगुण के अवलंबन से वहां प्ररूपणा की गई है।

इसके सिवाय रहे क्षायिक भाव : सो जहा क्षायिक भावों को कर्मों के क्षय से उत्पन्न भाव कहा गया है वहां भी क्षय का अर्थ प्रध्वसाभाव है, अत्यताभाव नहीं। क्योंकि किसी द्रव्य का पर्यायरूप से ही नाश होता है, द्रव्यरूप से नहीं। यतः—ज्ञानावरणादि रूप जो कर्मर्याय है उसके नाश से अकर्मरू उत्तरपर्याय ही प्रकट होती है, जीव की अपनी चैतन्य ज्ञानादि रूप पर्याय निमित्त नहीं होती।

एक बात और है। वह यह कि जिस समय जीव की केवल ज्ञानादि पर्यायें प्रकट होती हैं उस समय तो ज्ञानावरणादि कर्मों का अभाव ही है और अभाव को कार्योत्पत्ति में कारण माना नहीं जा सकता। अन्यथा खर-विषाण को या शून्य से कुसुम उत्पत्ति को भी वैध मानना पड़ेगा। फलतः निष्कर्ष ऐसा है कि ये भाव कर्मों की विच्छेद दशा में आत्मा में प्रकट होते हैं। इसी कर्म-विच्छेद यानी विकार-निरास को आचार्यों ने क्षय नाम से कहा है और इसी क्षय या विकार-निरास को 'शान्त' शब्द से भी इंगित किया है—शान्त रस जैसे किसी लौकिक-अलौकिक रस की उत्पत्ति होने को नहीं। जैसे लोक में भी किसी के मरने (पर्याय बदलने) पर प्रायः कह देते हैं कि—'अमुक' शान्त हो गया—समाप्त हो गया, आदि।

'शान्त' शब्द से विकार-निरास को इंगित करना निम्न शब्दों से भी स्पष्ट होता है—उपशमत्व, क्रोधादि अभाव, व्याधिविर्जित, विकल्पोज्झित आदि इन सभी एक भाव द्योतक शब्दों को 'शान्त' शब्द से इंगित किया गया है—शृंगारादि रसों जैसे किसी शान्त-रस के सद्भाव को इंगित करने के भाव में नहीं। तथाहि—

१. 'शान्तरसे'—शान्तः उपशमत्वं स एव रसः।

—परमाध्या० त० कलश ३२

२. 'शान्तमहः'—किं भूतं महः शान्तं क्रोधादेरभावात्।

—परमाध्या० त० कलश १२३

३. 'परं शान्तं—सर्वव्याधिवर्जितम्।'

—पद्मनन्दि पंच० १।१८

४. 'शान्तं—सर्वोपाधिवर्जितम्।'

—पद्मनन्दिपंच० (टीका ४।१)

५. 'विकल्पोन्मिभरत्यक्तः—शान्तः।'

—पद्मनन्दिपंच० ४।२६

६. 'विकल्पोज्झितं परं शान्तं।'

४।५४

इसके सिवाय 'लघुतत्त्वस्फोट' में भी निम्नस्थलो पर आत्मा के सम्बन्ध में जहां रस शब्द का प्रसंग आया है वहां भाषाकार ने रस से चैतन्य, ज्ञायक या आत्म-रस को लिया है, शान्त-रस जैसे भाव को नहीं। तथाहि—

१. एकरसप्रभाव—चैतन्यरस के एक प्रवाह स्वरूप।

—स्तुति १०, श्लोक ३

२. 'भिन्नरस' स्वभावः—विभाव परिणति से भिन्न रस वाला यह स्वभाव।

—स्तुति १०, श्लोक ६

३. 'एवंकरसस्वभावः'—एक ज्ञायक स्वभाव से सहित।

स्तुति १०, श्लोक १३

४. 'स्वरसेन'—आत्म रस से।

—स्तुति १०, श्लोक १४

५. 'चिदेकरसनिर्भरः'—एक चैतन्य रस से परिपूर्ण।

—स्तुति १२, श्लोक २३

पाठक यह भी विचारे जब आचार्यों ने पारिणामिक नाम से प्रसिद्ध 'जीवत्व' जैसे भाव को भी उपचरित होने के कारण शुद्ध आत्मा का स्वाभाविक भाव मानने से निषेधकर, मात्र चैतन्य को ही स्वाभाविक भाव माना, तब शान्त-रस जैसा कल्पित, औद्देशिक (क्षायिक ?) भाव, जो लोक व्यवहाराश्रित है—शुद्ध आत्मा का स्वभाव कैसे हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता। आत्मा का शुद्ध स्वभाव तो 'चिदेकरसनिर्भरः' ही आचार्य सम्मत है—अन्य नहीं।

कई मनीषियों का विचार है कि दो विरोधी धर्मों में से एक का रह जाना अवश्यभावी है, एतावता जब आत्मा में अशान्त रस नहीं, तो शान्तरस अवश्य होगा। ऐसे विचारको से हमारा निवेदन है कि—पहिले तो निरपेक्ष वस्तुस्वरूप में द्वित्व या विरोध का प्रश्न ही नहीं। फिर, यह भी आवश्यक नहीं कि विरोधी दो में से एक शेष रह ही जाय। यदि एक विरोधी धर्म को शेष मानना अवश्यभावी माना जायगा तो आचार्यों के कथनानुसार जो सिद्ध भगवान जीव संज्ञा में नहीं हैं, उन्हें क्या 'अजीव'

मान लिया जायगा ? हमारी दृष्टि में तो ऐसा सर्वथा ही नहीं है। शुद्ध आत्मा को हम तो ऐसा मानते हैं—कि वे न जीव हैं और ना ही अजीव हैं, न अशान्त हैं और ना ही शान्त हैं, वे तो पर-निरपेक्ष 'चिदेकरसनिर्भरः' जो है सो हैं—बचन अगोचर। जीव के जो प्रचलित भेद संसारी और मुक्त बतलाए गए हैं वे भी बंध और अबंध दशा को लक्ष्यकर हृदयगम कराने की व्यवहार दृष्टि से ही बतलाए गए हैं—शुद्ध आत्मस्वभाव की दृष्टि से नहीं। शुद्ध आत्मा की दृष्टि से तो वे केवल 'चिदेकरसनिर्भर' ही हैं—शान्तरस आदि जैसा कोई अन्य विकल्प नहीं।

'संत'—

'पदेससंतकम्म' और 'पदेससंतमज्झ' उक्त दोनों पदों में अन्त के शब्द 'कम्म' और 'मज्झ' का भेद है। जब आचार्य ने पूर्वं पद का अर्थ 'प्रदेश सत्कर्म' किया है तो उत्तर पद का अर्थ 'प्रदेश सत्तमध्य' स्वाभाविक फलित होता है। और यदि इन्हीं दोनों पदों के पूर्व में 'अ' उपसर्ग जोड़ कर इन्हें 'अपदेस संत कम्म' और 'अपदेस संत मज्झ' कर दें तो इनका अर्थ क्रमशः 'अप्रदेश सत्कर्म' और 'अप्रदेश सत्तमध्य' (अखंड सत् (सत्त्व) के मध्य) फलित होता है। ये तो हम पहिले भी लिख चुके हैं कि आत्मा असंख्यात प्रदेशी और अखंड है : अप्रदेशी (प्रदेश रहित या एक प्रदेशी) नहीं। (तीर्थंकर मई ८३, टा० ३, भू० जिनेन्द्र वर्णीजी को भी पढ़ें)

आश्चर्य न करें 'कषाय पाहुडसुत्त चूर्णि' में इस 'पदेस-संत कम्म' पद का उल्लेख है और यति वृषभाचार्य को प्रामाणिक मानने वालों के लिए यह भ्रष्टा का विषय है। वहा इस पद का अर्थ 'प्रदेश सत्कर्म' किया गया है—'प्रदेश शान्तकर्म' जैसा अर्थ नहीं। अब पाठक देखें कि वे 'अप्रदेश सत्कर्म' और 'अप्रदेश सत्तमध्य' अर्थ लेंगे या उन्हें इनके अर्थ क्रमशः 'अप्रदेश शान्त कर्म' और 'अप्रदेश शान्त मध्य' ठीक जेंवेंगे ? हम उन्ही पर छोड़ते हैं। देखें, वे अब 'संत' का अर्थ सत् (सत्त्व) लेते हैं या शान्त ? देखिए—

सम्प्रामिच्छत्तस्सजहण्णय 'पदेस सन्त कम्म' कस्स ?

—कषायपाहुड, पदेसविहत्ती स्वामित्व गा० २२ सूत्र ३१ और वही पद गाथा २२ सूत्र ५, ६-२० ३१, ३२, ३५, ३६, ४४, ४६, ५४, ५०, ११७-२६० में।

इसी भांति के पाठ 'संत कम्म' रूप में देखें—

'भूलुत्तर पगइगयं चउव्विहं 'संत कम्म' वि नेयं

—कम्मपयडि. सत्तापगरण गाथा १ और टीका—

“...पुनरेकं चतुर्विधं तद्यथा—प्रकृति सत्कर्म, स्थिति सत्कर्म, अनुभाग सत्कर्म प्रदेश सत्कर्म च (मलयगिरि)।

संपुन्नगुणिय कम्मो पएस उक्कस्स 'संतसामी उ'

—कम्म पयडि, सत्ता पगरण गाथा २७

टीका—तस्सेव य त्ति णेरइय चरमसमये वट्टमाणस्स सामण्णेणं सब्बकम्माणं उक्कोसं 'पदेससंत कम्मं भवति ।'

खुलासा अर्थ—'उत्कृष्ट प्रदेश सत् कर्म स्वामी संपूर्ण गुणित कर्माश. सप्तम्यां पृथिव्यां नारक चरम समये वर्तमानः प्रायः सर्वासामपि प्रकृतीनामवगन्तव्यः (मलयगिरि)

इसी प्रकार इसी ग्रन्थ की मूलगाथा २८ से ३१ की चूर्णि में 'उक्किस्स (उक्कोस ?) पदेससंत' पद बारम्बार, उत्कृष्टतया कर्म प्रदेशों की सत्ता को बतलाने को कहा गया है—शान्त या शान्त—रस जैसा अर्थ बतलाने के लिए नहीं।

ऐसे ही 'उबसंत मोह' गुणस्थान में 'संत' शब्द को मोह के प्रभावहीन होने के भाव में भी देखा जा सकता है। वहां यही कहा गया है कि इस गुण स्थान में मोह दब गया है—शान्त या प्रभावहीन हो गया है. आदि। यदि वहा 'उब-संत मोह' में से 'उब' उपसर्ग को हटा कर संत मोह का अर्थ लें तो वह भी दब जाने—प्रभावहीन हो जाने के भाव में ही होगा। यानी मोह का शमन होगया ऐसा कहेंगे। यदि हम ऐसा न कह 'संत' का अर्थ 'शान्त-रस' लेंगे (जैसा कि उपक्रम किया जा रहा है) तो अर्थ होगा कि इस गुणस्थान में मोह शान्तरसी—शान्त रस-बाला मोह, हो गया है। इसका भाव ऐसा फलित होगा कि जिन लोगों को शुद्ध आत्मा में शान्त रस दृष्ट है, उनके मत में मोह के सद्भाव में ही दृष्ट—(शान्त रस) का पूर्ति हो जाने से मुक्ति के लिए मोह क्षय का उपक्रम न करना पड़ेगा—यतः मोह शान्त रसी होकर—सत्ता में रहते हुए ही सिद्धों में शान्त-रस का संचार करता रहेगा। इस प्रकार बारहवें, तेरहवें गुण स्थान और अशरीरी होने के उपक्रमों से भी छुटकारा मिल जाएगा और मोह क्षय की आवश्यकता भी न पड़ेगी। ऐसे में तो जैन ईश्वर भी

जब कभी [सप्ततिर्मोहनीयस्य] मोहनीय के उदय में आने पर, हितबुद्धि या सीलावश अवतार ले सकेगा; लोक का निर्माण कर सकेगा, कर्मफल दे सकेगा और वह सर्वव्यापक भी हो सकेगा जैसा कि काफी समय से प्रच्छन्न उपक्रम है। क्या यही ईश्वर जैन-दर्शन-मान्य ईश्वर होगा? जरा सोचें और जैन-दर्शन-मान्य आत्मा को 'न शून्यं न जडं नोचिच्छान्तमेवेदमाततम्' जैसी घुसपैठ से रोकें। नहीं तो इसके परिणाम जैन-तत्त्व विध्वंसक होंगे। सदियों बाद कहा जायगा कि—जैन-मान्य-आत्मा भी न शून्य है न जड है और न चैतन्य है—वह तो शान्त और सर्वव्यापक है।

दूसरी बात। मोह के शान्तरसी मानने पर शान्तरस और मोह में गुण-गुणीपना मानना पड़ेगा अर्थात् शान्तरस गुण और मोह गुणी ठहरेगा। एक के अभाव में दूसरे का भी अभाव होगा। यदि मोह (गुणी) का अभाव किया जायगा तो शान्त रस (गुण) उसके साथ ही जायगा। और इस भांति 'शान्त रस' मानने वालों के सिद्धांत में मोह-क्षय करना सर्वथा निषिद्ध हो जायगा। जो जैन-दर्शन को ह्दष्ट नहीं।

अब तो कोई-कोई यह भी कहने लगे है कि—'संत' शब्द देसी हिन्दी भाषा में भी है और शान्त अर्थ में है। पर, जहां तक हमने देखा है 'संत' शब्द श्रेष्ठ जैसे अन्य अनेक अर्थों में है, शान्त अर्थ में नहीं। संत का तत्समरूप सत् भी है—संत पुरुष को सत्पुरुष भी कहते हैं। हिन्दी

कोषकारों ने प्रायः जो अर्थ दिए हैं वे निम्न भांति हैं—

संत—साधु, धर्मात्मा, विरक्त, महत्त्वात्मा।

—बृहत् हिन्दी कोष (ज्ञानमण्डल)

संत—सन्यासी, सत्संगी पुरुष, सज्जन, परमधार्मिक, यति, (ऊपर की भांति अन्य अर्थों में भी)—मानक हिन्दी कोष।
—संस्कृत में 'संत' शब्द है या नहीं हम नहीं जानते।

यह भी तथ्य है कि आचार्यों ने 'संत' को 'सत्त्व' भाव में भी लिया है। यथा—'अप्पदरसंतविभत्तिओ' (कषायपाहुड चूर्णि गाथा २२ सूत्र १२४)

हमारा निश्चित मत है कि आचार्यों द्वारा 'अपदेस' 'संत' और 'मज्झ' तीनों शब्दों के अर्थ अनेकों बार दिए गए हैं जो आगमों में यत्र-तत्र उपलब्ध हैं। अतः यह कहना कि टीकाकारों ने गलत या उलझनपूर्ण जो जैसा चला आ रहा था वैसा ही मान लिया, आचार्यों का अपमान है। हां, अब तो यह भी सोचना पड़ेगा कि आचार्यों को मान्य करने की दिशा में 'संत' के अर्थ में यतिवृषभाचार्य और धवलाकार आदि जैसे मर्मज्ञ पूर्वाचार्यों के मन्तव्य को बरीयता दी जाय या नहीं : अस्तु !

हमारी भावना है कि आगम तद्वस्थ और अपरिवर्तित रहे इसी भावना को लक्ष्य में रख हमने प्राचीन उद्धरणों को संकलित किया है। हमारे भाव तबनुकूल और स्पष्ट हैं—पाठक विचारें। इस विषय में हम पहले भी काफी स्पष्टीकरण दे चुके हैं। हमारा अपना कुछ नहीं।



'छद्मस्थ-लौकिक पुरुष चाहे कितने भी प्रसिद्ध विद्वान् क्यों न हों? उन सभी के सभी लेख, वार्तालाप सैद्धान्तिक-प्रसंगों में जिनागम का रहस्योद्घाटन नहीं करते—उनमें कुछ और भी हो सकता है। अतः ज्ञानी पुरुष प्रमाण और नय की कसौटी पर परखकर ही उनकी हेयोपादेयता का निर्णय करते हैं। वे उनके मंतव्यों को प्रचारित भी सभी करते हैं।'

—सम्पादक

स्वाध्याय और उसकी महत्ता

□ कु० राका जैन

‘सुष्ठु सम्यक् प्रकारेण अधीयत् इति स्वाध्यायः ।’ भले प्रकार मन, बचन और काय की शुद्धता से अर्थ के चिन्तन सहित जिनागम का अध्ययन करना ही स्वाध्याय है ।^१ अथवा ‘शोभनोऽध्यायः इति स्वाध्यायः’ अर्थात् काल-शुद्धिपूर्वक शास्त्रों का अध्ययन करने या कराने को स्वाध्याय कहते हैं । जो निर्दोष हो, हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और और परिग्रह इन पांच पापों को नाश करने वाला हो, जो प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाण से सहित हो एवम् सर्वज्ञ तीर्थंकर भगवान् द्वारा कहा गया हो वही सच्चा शास्त्र है ।^२ सर्वज्ञ कथित सच्चा जिनागम प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग से चार भेद वाला है । इन चारों के शास्त्रों को यथार्थ रूप से पढ़ने पढ़ाने को ही स्वाध्याय कहते हैं ।^३ इसे प्राकृत में ‘सज्जाय’ कहते हैं । इस प्रकार श्रुत के अध्ययन पाठ को स्वाध्याय कहा जाता है ।^४

जिस प्रकार बिना प्रकाश के अन्धकार में रखे पदार्थों का पूर्ण ज्ञान नहीं होता उसी प्रकार बिना श्रेष्ठ शास्त्रों के पढ़े ज्ञान सम्भव नहीं । ज्ञान के अभाव में मनुष्य प्रगति के पथ पर नहीं पहुँच सकता अतः ज्ञान-मानव-जीवन का सार है ।^५ ज्ञान नेत्र का उद्घाटन शास्त्र स्वाध्याय द्वारा ही सम्भव है । बिना शास्त्र ज्ञान के चक्षु होने पर भी मनुष्य अन्धा ही कहा जाएगा । जो पदार्थ चक्षु द्वारा प्रतीत नहीं होता उसे प्रकाशित करने के लिए शास्त्र ही सक्षम हैं । यह शास्त्र-ज्ञान मानव का तीसरा नेत्र है ।^६

सम्यक् ज्ञान के लिए स्वाध्याय आवश्यक है । स्वाध्याय के माध्यम से अज्ञान-दीप बुझकर पुनः ज्ञान दीप ज्वलित होता है । जैन धर्म में श्रावक के षट्कर्म बताए गए हैं जिनमें स्वाध्याय भी समाहित है यथा—

“देवपूजा गुरुपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः ।

दानं वेति गृहस्थानाम् षट्कर्माणि दिने दिने ॥”

मानव जन्म-मरण के बन्धनों से आक्रांत है जिसके

फलस्वरूप वह दुःखों का बहन करता है यह दुःख वस्तुतः अज्ञान ही है । स्वाध्याय के द्वारा मनुष्य दुःखों से दूर रहता है ।^७ अतः सम्यग्ज्ञान अर्जित करने के लिए स्वाध्याय आवश्यक है, यहां सम्यग्ज्ञान मोक्ष की प्राप्ति का मार्ग है ।^८ स्वाध्याय मोक्ष-प्राप्ति का एक सोपान है ।

तप के द्वारा अभीष्ट (मोक्ष) की प्राप्ति सम्भव है— ऐसा भारतीय सस्कृति में मान्य है । जैन-धर्म में बारह प्रकार के तप बताए गए हैं ।^९ उनमें से एक तप स्वाध्याय भी है । यह तप के आभ्यन्तर रूप में समाहित है । वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश, ये पांच प्रकार के स्वाध्याय माने गए हैं ।^{१०} स्वाध्याय का अर्थ विद्या-भ्यास करना है ।^{११} पढ़ना, पढ़ाना, शुद्ध-भाठ उच्चारण करना, धर्म सम्बन्धी उपदेश करना अथवा तत्त्वों का चिन्तन करना, ये सभी बातें विद्याभ्यास में ही गणित हैं ।^{१२}

१. वाचना—निर्दोष ग्रन्थ का अर्थ सहित अध्ययन करना वाचना स्वाध्याय कहा जाता है ।^{१३}

२. पृच्छना—जो वाचना द्वारा अध्ययन किया जाता है उसे दुढ़ बनाने के लिये विशेष विद्वान् से उस विषय में प्रश्न करना पृच्छना है ।^{१४}

प्रश्न करना अध्ययन नहीं कहा जा सकता अतः इसे स्वाध्याय नहीं कहा जा सकता अतः इसे स्वाध्याय में समाहित नहीं करना चाहिए किन्तु प्रश्न करना अध्ययन की प्रवृत्ति में सहायक है अतः उसको भी स्वाध्याय कहना असंगत न होगा । पृच्छना को पढ़ना भी कह सकते हैं ।^{१५}

३. अनुप्रेक्षा—जो अध्ययन किया है उसका बार-बार चिन्तन करना अनुप्रेक्षा स्वाध्याय कहलाता है । बार-बार भावनाओं का भाना भी अनुप्रेक्षा स्वाध्याय है ।^{१६}

४. आम्नाय—पढ़े हुये पाठ को शुद्ध उच्चारणपूर्वक पढ़ना आम्नाय स्वाध्याय कहलाता है ।^{१७}

५. धर्मोपदेश—पूर्व पुरुषों के चरित्र अथवा विषयों का स्वरूप बतलाना धर्मोपदेश कहलाता है । अथवा त्रेसठ

मलाका के पुरुषों का चरित्र कहना धर्मोपदेश है ।”

इस प्रकार पांच प्रकार का स्वाध्याय विधि पूर्वक करना चाहिये, इससे कर्म क्षय होता है, वैराग्य की वृद्धि होती है और अन्ततोगत्वा मोक्ष-लक्ष्मी की प्राप्ति होती है ।

स्वाध्याय करने से यावत् वस्तु के स्वरूप का ज्ञान होता है ।” मानसिक व्यापार अशुभ प्रवृत्ति से हटकर शुभ प्रवृत्ति की ओर आकृष्ट होता है । आत्मा से राग-द्वेष दूर होकर आत्मा विशुद्ध हो जाती है । स्वाध्याय के करने से राग, क्रोध, मान, माया, लोभादिक पापों से आत्मा पराङ्मुख होती है । आत्मा मोक्ष के मार्ग सम्यग्दर्शन,

ज्ञान और चरित्र में प्रवृत्त होती है । स्वाध्याय से ही मैत्री बढ़ती है ।

स्वाध्याय करने से तर्क शक्ति, बुद्धि की प्रकर्षता, परमागम की स्थिति, वस्तु का यथार्थ ज्ञान एवं निर्णय, धर्म-प्रभावना करने की शक्ति आदि गुणों का विकास होता है यथा—

‘प्रज्ञातिशयः प्रशस्ताध्यवसायाध्यर्थं स्वाध्यायः ।’

इस प्रकार स्वाध्याय सांसारिक बन्धनों से मुक्त होकर विजय लक्ष्मी (श्रेयस) प्राप्त करने का पहलू है तथा जो सम्यग्ज्ञान के लिए आवश्यक है ।

—अलीगंज (एटा)

सन्दर्भ-सूची

१. विद्वज्जन बोधक, पृ० ४६५ ।

२. पूर्वापर विरोधादि हिंसादिनाशनम् ।

प्रमाणद्वय संवादिशास्त्रं सर्वज्ञभाषितम्

—स्वामी समन्त भद्राचार्य विरचित रत्नकरण्डश्रावकाचार २।६८।

३. चतुर्णामनुयोगानां जिनोक्तानां यथार्थतः ।

अध्यापनमधीतिर्वा स्वाध्यायः कथ्यते हि सः ॥

—संस्कृत भाव संग्रह, श्लोक सं ५६६, पृ० २१० ।

४. शुद्ध श्रावक धर्म प्रकाश-स्वाध्याय प्रकरण, जैन समाज मरौठ (राज०) पृ० २५६ ।

५. अनगार धर्माभूत—पं खूबचन्द्रकृत, भाषाटीका, पृ० ७६४

६. ‘णार्णं णरस्स सारो ।’

—३१, दर्शन पाहुड़ ।

७. अलोचन गोचरे ह्यर्थे शास्त्रं तृतीयं पुरुषाणाम् ।’

—नीतिवाक्यामृतम् ।

८. पद्मनन्दि श्रावकाचार ।

९. ‘सज्जाए वा निउत्तेण, सव्व दुःख विमोक्खणे ।’

—उत्तराध्ययन २६।१०।

१०. सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गं - तत्त्वार्थ १।१

११. प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्त्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम् ।’—श्रीउमास्वामि विरचित ‘तत्त्वार्थ सूत्र’ ६।२०

१२. से किं तं सज्जाए पंचविहे पण्णत्ते तं ।

जहा बायणा पडिपुच्छण ररिपट्टण धम्मकहा सेतं सज्जाए ॥’

—भगवती शतक ७३।६०२ ।

“वाचना पृच्छनाभ्यायस्तथा धर्मस्य देशना ।

अनुप्रेक्षा च निदिष्टः स्वाध्यायः पंचधा जिनैः ॥

तत्त्वार्थसार ६।१६ पृ० ३६३ ।

‘वाचना पृच्छनाऽनुप्रेक्षाऽभ्याय धर्मोपदेशाः ।’

—तत्त्वार्थ सूत्र ६।२५।

१३. शुद्ध श्रावक धर्म प्रकाश —श्री जैन समाज मरौठ (राज०) पृ० २६२ ।

१४. निरवद्यग्रन्थार्थोभय प्रदानं वाचना ।’

—राजवातिक १, पृ० ३४७ ।

१५. पृच्छनं संशयोच्छ्रित्य निश्चीति दृढनाय वा ।

प्रश्नोऽनीति प्रवृत्त्यर्थं त्वादर्थ्यं विरसावपि ॥

—तत्त्वार्थ सार ७।६४।

१६. भाषा टीका तत्त्वार्थ सार, पृ० ३८३ ।

१७. अनुप्रेक्षा द्वादशानुप्रेक्षाऽनित्यत्वादेशिचन्तनम् ।’

—आचारवृत्ति, पृ० ३०६ ।

१८. धर्मकथा धर्मोपदेश संस्तुति मंगला ।’

—आचार वृत्ति, पृ० ३०६ ।

१९. ‘पठणार्हं सज्जायं वे एण विवन्धनं कुण्डी विहिगा ।

सज्जायं कुब्बतो पंचेदियं सं बुडोति गुत्तोय ।

हवदि ए अग्गणो विणएण समाहि ओभिक्खू ।’

—मूलाचार पूर्वार्द्ध २१३, पृ० ३२१ ।

२०. विनयवद्विनेतृणामपि स्वाध्यायशालया ।’

—अनगारधर्माभूतम् पृ० ५२१

‘विना विमर्शान्यधीदृष्टेऽप्यन्धायतेऽवनि ।’

—सागारधर्माभूतम् पृ० ४४ ।

जरा-सोचिए

१. 'सर्वसाधु' में साधु कौन !

'णमो लोए सर्व साधु'—लोक अर्थात् ढाई द्वीप में विद्यमान सर्व साधुओं को नमस्कार हो ।

उक्त पद से क्या लोक के सभी—सच्चे और वेश या नामधारी दिखावटी साधुओं को नमस्कार करने का भाव प्रगट नहीं होता ? यह प्रश्न कई लोगों द्वारा पूछा जाता रहा है । इस विषय में आगम का अभिमत क्या है, इस परिप्रेक्ष्य में विचारना चाहिए । आगम में 'साधु' की व्याख्या इस प्रकार दी है—

“जो अनन्त ज्ञानादिरूप शुद्ध आत्मा के स्वरूप की साधना करते हैं । उन्हें साधु कहते हैं । जो पांच महा-व्रतों को धारण करते हैं, तीन गुणियों से सुरक्षित हैं, अठारह हजार शील के भेदों को धारण करते हैं और चौरासी लाख उत्तर गुणों का पालन करते हैं, वे साधु परमेष्ठी होते हैं ।”

“सिंह के समान पराक्रमी, गज के समान स्वाभि-मानी या उन्नत, बैल के समान भद्र प्रकृति, मृग के समान सरल, पशु के समान निरीह गोचरी वृत्ति करने वाले, पवन के समान निःसंग या सब जगह बिना रुकावट के विचरने वाले, सूर्य के समान तेजस्वी या सकल तत्वों के प्रकाशक, उदधि अर्थात् सागर के समान गंभीर, मद-राचल अर्थात् सुमेरु पर्वत के समान अकम्प रहने वाले, चन्द्र के समान शान्तिदायक, मणि के समान प्रभापुञ्जयुक्त, पृथ्वी के समान बाधाओं को सहने वाले, सर्प के समान अनियत आश्रय—वसतिका में निवास करने वाले, आकाश के समान निरालम्बी या निर्लेप, सदाकाल मोक्ष का अन्वे-षण करने वाले साधु होते हैं ।” (षट्खं० १-१-१)

“मूलमंत्र में सर्वगुण सम्पन्न सभी साधुओं के ग्रहण के भाव में 'सर्व' पद है । सर्व शब्द से अर्हत्-मत मान्य साधुओं मात्र का ग्रहण है, बुद्धमत आदि के साधुओं का ग्रहण नहीं है । जिनसे सब जीवों का हित हो, जो अरहन्त की आज्ञानुसार प्रवर्तें, दुर्नयो का निराकरण करें वे सर्व साधु हैं ।” मंत्र में उन्हीं को नमस्कार किया गया है और उन्हीं के विषय में कहा गया है । (षट्० भाग १-१-१) 'उरग-गिरि-जलण-सागर-नहुतल-नरुणसमो अ जो होई ।

भमर, मिय, धरणि, जलरुह, रवि पवण समो अतो समणो ॥’

उक्त परिप्रेक्ष्य में विचारना है कि आज देखा-देखी, चाहे जो हो, जैसा हो, अपने से तनिक भी श्रेष्ठ हो—चाहे आडम्बर परिग्रह का पुंज ही क्यों न हो ? सभी को गुरु मानकर नमस्कार करने की जो परिपाटी चल रही है, वह कहां तक उचित और णमोकार मंत्र सम्मत है । जरा सोचिए !

२. 'मिथ्यादृष्टि' का अनादित्व !

वस्तुतत्त्व का निरूपण जुदी प्रक्रिया है और प्रमाद-कषायादि भावों वश वस्तु का कथन या विचार करना जुदी बात है । तीर्थंकरों की दिव्यध्वनि के प्रमाण नय-गर्भित और प्रमाद-कषायादि रहित होने से उसमें केवल वस्तु-तत्त्व का विवेचन है और उसमें पुण्यात्मा-पापी सम्यग्दृष्टि-मिथ्यादृष्टि आदि जैसी दृष्टियों के स्वरूप कथनों का समरूप में समावेश है । वहां प्रमादादि का अभाव होने से भाव या द्रव्य रूप जैसी हिंसा की सम्भावना नहीं । इसके विपरीत—जब किसी को कषाय या प्रमादवश होकर या तिरस्कार की भावना से पापी, हिंसक, झूठा, चोर, व्यभिचारी, मिथ्यादृष्टि आदि कहा जाय तब वहां हिंसा का दोष है और इस दोष में प्रवृत्ति करना जैन या जैन धर्म को अमान्य है ।

यतः—जैन-आगम के अनुसार यह संसार अनादि है । मोक्ष भी अनादि है और इनके मार्ग और अनुगमनकर्त्ता भी अनादि हैं । आचार्यों ने सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि को मोक्ष का मार्ग और इन मार्गों के अनुसरणकर्त्ताओं को सम्यग्दृष्टि, सम्यग्ज्ञानी और सम्यक्चारित्रि कहा है । इसमें विपरीत यानी मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्या-चारित्र को संसार मार्ग और इन मार्गों के अनुसरण-कर्त्ताओं को मिथ्यादृष्टि, मिथ्याज्ञानी और मिथ्याचारित्रि कहा है । इस प्रसंग को यदि विशदरूप में जानना चाहें तो कह सकते हैं कि उत्सर्ग-अपवाद, बिधि-निषेध, अस्ति-नास्ति, सम्यक्—मिथ्या जैसी दो विरोधी विचार-धारायें अनादि-निघ्न हैं—जब एक का विकल्प है तब दूसरी का होना अनिवार्य है । बिना ऐसा माने, अनेकान्त की भी सिद्धि नहीं है । फलतः चूकि सम्यग्दृष्टि आदि व्यवहार अनादि हैं

अतः वस्तुस्थिति के परिप्रेक्ष्य में उससे उल्टे मिथ्या दृष्टि आदि व्यवहार भी अनादि हैं।

आठों कर्मों में मोहनीय कर्म को सबसे बलवान बत-
लाया है और उसका साक्षात् सम्बन्ध आत्मा के भावों से
है। मूलतः उसकी दर्शन मोहनीय और चारित्रमोहनीय ये
दो प्रकृतियाँ हैं और कर्मोंके अनादि होने से ये प्रकृतियाँ भी
अनादि हैं। दर्शन मोहनीय प्रकृति के उदय का फल
मिथ्यात्व भाव भी है और जिसे इस मिथ्यात्व का उदय
होता है वह मिथ्यादृष्टि है।

सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनों भावों और शब्दों
तथा व्यक्तित्वों का अस्तित्व भगवान् ऋषभदेव के समय
मे भी था। उस युग में जो ३६३ मिथ्या-मत कहे गए
हैं—वे मिथ्यादृष्टियों के ही थे। तीर्थंकर महावीर के
समय में भी ऐसे जीव विद्यमान थे। बाद के प्राचीनतम
आचार्यों ने भी मिथ्यादृष्टि शब्द को स्थान दिया है।
तथाहि—

‘मिच्छादृष्टी नियमा उवड्ठं पवयणं ण सद्दहि ।’

—गुणधराचार्य कसायपाहुड १०८

—गोम्मटसार जीवकाण्ड

‘ओषेण अत्थि मिच्छादृष्टी’—

—षट्खंडागम १-१-६

इसी प्रकार गुणस्थानों में प्रथम गुणस्थान का नाम
‘मिथ्यात्व’ है और वह अनादि से है और उस गुणस्थान-
वर्ती अनन्तजीव हैं, उन सभी को ‘मिथ्यादृष्टि’ नाम दिया
गया है। उक्त वर्णन में हिंसा-अहिंसा का प्रश्न छुए बिना
मात्र वस्तु-तत्त्व वर्णन को प्रमुखता दी गई है। एतावता
ऐसा मानना कि ‘मिथ्यादृष्टि’ हिंसक, झूठा, चोर आदि
जैसे शब्दों में ‘वैचारिक हिंसा’ का दोष आता है—अतः ये
जैन आगमिक शब्द नहीं हैं या बाद के प्रचलन है आदि
कहना सर्वथा निर्मूल है। पुण्यात्मा-पापात्मा, हिंसक-
अहिंसक, सत्यवादी-झूठा आदि सभी विरोधी धर्मों के
विकल्प और सभी विरोधी धर्म अनादि हैं। भावों की
संमाल (उत्तमता) से इनके कथन में अहिंसा है और
भावों की कलुषता में हिंसा है। समताभाव से यथार्थ
वस्तु-स्वरूप का वर्णन करना पाप नहीं। मिथ्या को मिथ्या
और मिथ्या मानने वाले को मिथ्यादृष्टि कहना आगम

संमत अनादि तथ्य है—तथीन नहीं। इसमें जैनी को कैसे
बर्तना चाहिए? जरा सोचिए!

३. शोध-पत्रिकाएं कैसी हों!

भौतिक शोध (रिसर्च) का जोर है और लोगों का
ध्यान पर्याप्त मात्रा में उधर ही है। उस दिन एक सज्जन
बोले—समाज में शुद्ध मायने में शोध-पत्रिकाएं होनी
चाहिएं। हमने सोचा बात तो ठीक है। टीका-टिप्पणी
और आलोचना-प्रत्यालोचना के प्रसंगों से तो अनेकों पत्र
भरे रहते हैं। पर, प्रश्न यह उठता है कि शोध करने से
तात्पर्य क्या है? मात्र जड़ की या चेतन की भी?

अनादि काल से यह जीव पर की खोज में रहा;
उसने सिद्धान्त को और अपने को नहीं खोजा। यदि
अपने को खोजे और खोजकर अपना निखार करे तो खोज
सार्थक हो। आज जो लोग खोज की बातें या खोज के
कार्य करते हैं उनमें कितने ऐसे हैं जिनका ध्यान सिद्धान्त
और आचार-विचार के प्रसंगों की ओर हो या जो जिन-
मार्ग में प्रवृत्ति करते-कराते हों। यतः सिद्धान्त ज्ञान और
आचार-विचार के बिना इन भौतिक मिट्टी-पाषाणों,
साहित्य, इतिहास एवं पाण्डुलिपियों के संग्रह मात्र में धर्म
का उतना लाभ नहीं। ऐसी-ऐसी खोजें तो आज तक
बहुत हो चुकीं और उनसे जैनधर्म का उतना ठोस प्रचार नहीं
हो सका। ठोस सिद्धान्त ज्ञान और आचार-विचार के
बिना धर्म का आचरण में ह्रास ही हुआ है।

इस प्रसंग में अनेकान्त के जन्म का इतिहास जब
हमारी दृष्टि में आया तब हमने पढ़ा—

“जैन समाज में एक अच्छे साहित्यिक तथा ऐति-
हासिक पत्र की जरूरत बराबर महसूस हो रही है, और
सिद्धान्तविषयक पत्र की जरूरत तो उससे पहिले से चली
आती है। इन दोनों जरूरतों को ध्यान में रखते हुए,
समंतभद्राश्रम ने अपनी उद्देश्य सिद्धि और लोकहित की
साधना के लिए सबसे पहिले ‘अनेकान्त’ नामक पत्र को
निकालने का महत्त्वपूर्ण कार्य अपने हाथ में लिया है।’
अनेकान्त वर्ष १, किरण एक, बी० नि० २४५६।

उक्त नीति के आधार पर ‘वीर सेवा मन्दिर’ की
नियमावली में प्रकाशित निम्न पैरा भी मननीय है—

‘अनेकान्त पत्रादि द्वारा जनता के आचार-विचार को ऊँचा उठाने का सुदृढ़ प्रयत्न (करना) — नियम ३(घ)

उक्त सन्दर्भ में ‘अनेकान्त’ आज तक खरा उतरता आया है इसमें प्रारम्भ से ही शोध-पूर्ण, सैद्धान्तिक, आचार-विचार सम्बन्धी सभी प्रकार के लेखों, कविताओं कथाओं आदि का समावेश होता रहा है।

आज स्थिति ऐसी है कि युग के अनुरूप धर्म को चलाने का प्रयत्न किया जा रहा है और धर्म के अनुरूप युग को चलाने में उपेक्षा भाव दिखाया जा रहा है। फलतः—युगानुरूप—सिद्धान्त ज्ञानहीन या भीरु कुछ लोग अण्डे जैसे अश्वत्थ को निरामिष घोषित कर धर्म में खीचना चाह रहे हैं, कुछ शुद्ध खान-पान को छोड़ होटलों में जाने और उनमें विवाह शादी आदि रचाने में लगे हैं और कुछ समूहिक रात्रि भोजन आदि की परम्पराएँ बना रहे हैं तथा जिन्हें मन्दिर शास्त्र और गुरुओं से लगाव नहीं रह गया है उनमें कितने ही धर्म के प्रमुख बनने की दौड़ धूप में भी लग रहे हैं। यदि उन्हें सिद्धान्त का ज्ञान और आगम-विहित आचार-विचार का ज्ञान कराकर धर्म के अनुरूप युग को बदलने की प्रेरणा दी जाय तो धर्म के ह्रास का स्थान धर्म का उत्थान ले सकेगा। बिना आचार-विचार के सब सूना है। हमारे पाक्षिक-मासिक, द्वि या त्रैमासिक पत्र इस ओर प्रमुख ध्यान दें, तो कैसा रहेगा ? जरा सोचिए !

४. व्यसन-मुक्ति आंदोलन !

जैन देखे, जैन समाज देखा। इसके सदस्य, पंच, पंचायतें और नेता भी देखे। हमने महाव्रती मुनि और अणुव्रती तथा अव्रती श्रावकों के समागम के अवसर भी पाए। कभी यह सब ऐसा ही रहा। पर, आज सब स्थिति बदली हुई है। अब न वैसे जैन हैं, न जैन समाज। सदस्य, पंच, पंचायत और नेता भी वैसे नहीं हैं। सब बदल गया है। जो कुछ दिख रहा है, अधिकांश बनावटी—अर्थ और यश-अर्जन की दिशा में मुड़ा हुआ है।

अब तो न जाने कितनेक व्यसनी अपने को जैन लिखते हैं, कितनेक जैन समाज हैं, कितने सदस्य और कितनी ही पंचायतें हैं। और नेताओं का तो कहना ही क्या ?

उनमें कितनेक राजनैतिक, आर्थिक या सामाजिक धरोहर का लाभ उठाने की धुन में हैं और कितनेक कोरी प्रतिष्ठा और यश-अर्जन के चक्कर में हैं ?

जैन संस्थाओं—मन्दिरों, विद्यालयों, महाविद्यालयों और सरस्वती भवनों के हाल भी प्रायः डगमगाए हुए हैं। मन्दिरों में दर्शन-पूजा करने वालों को जबर्दस्ती हाकना पड़ता है। कहीं-कहीं तो पूजा का कार्य बेतन देकर पुजारियों से कराया जाता है। विद्यालयों, महाविद्यालयों के विद्यार्थी धर्म-शिक्षा का ग्रहण मजबूरी में ही करते हैं—वे भी कालेजों की शिक्षा-सुविधा को ही प्रमुखता देते हैं। हमारे पूर्वजों ने सरस्वती भवनों की स्थापनाएं कीं। खोज २ कर दुर्लभ-ग्रंथों के संग्रह किए—उन्हे आज पढ़ने वाले नहीं। इन सब बातों में, अनेक कारणों में एक कारण लोगों का व्यसनो से लगाव भी है। अतः व्यसनो से मुक्ति आवश्यक है।

जैन को सबसे पहले व्यसन-मुक्त होना चाहिए और आज की पीढ़ी में इसका ह्रास है। जब तक एकजुट होकर इन व्यसनो से मुक्ति नहीं पाई जाती, तब तक सुधार असम्भव है।

हाल ही में कोल्हापुर में घटित समाचारों को पढ़कर कुछ आशा की किरणें चमकती जैसी लगी हैं। वहाँ के बीरो ने मुनि श्री विद्यानन्द जी के आशीर्वाद में ‘व्यसन-मुक्ति आंदोलन’ पद्धति को अपनाया है। म० गांधी की भांति इसमें भी डगर-डगर, नगर-नगर, ग्राम-ग्राम और गली-मुहल्लों में पैदल मार्च होता होगा और लोगों को व्यसन-मुक्त रहने का सदेश दिया जाता होगा।

हमें स्मरण रखना चाहिए कि मुनि श्री पिछलें दशकों में, व्यवहारतः—धर्म प्रचार के विधि-विधान निमित्त एवं उनको सफलतापूर्वक संचालित करने में सफल हुए हैं। उन्होंने आबाल-वृद्ध—विशेषकर नवयुवकों को व्यवहार धर्म की दिशा में जागृत किया है। धर्म-चक्र, मंगलकलश, धार्मिक रिकार्ड्स निर्माण, गोमटगिरि पर भ० बाहुबली महामस्तकामिषेक का बड़े पैमाने पर आयोजन आदि सब मुनि श्री के आशीर्वाद—फल हैं।

इस प्रकार के व्यसन-मुक्ति आंदोलन को अपनाना—सभी के हित में है ऐसा हम सोचते हैं। जरा आप भी सोचिए !

—सम्भावक

(हिन्दी का ऐतिहासिक दस्तावेज)

दिवंगत हिन्दी सेवी

लेखक : आचार्य श्री क्षेमचन्द्र 'सुमन' ।

प्रकाशक : शकुन प्रकाशन ३६२५ सुभाष मार्ग, नई दिल्ली ।
साइज डबल क्राउन, पृष्ठ ८५२, मूल्य ३०० रु० ।

दिनांक २२ जून ८३ को जब हमने राष्ट्रपति भवन पर भारतीय भाषा—हिन्दी के प्रति महामहिम राष्ट्रपति के विचार सुने, हमारा मन राष्ट्र और हिन्दी-गौरव के प्रति नम्रीभूत हो उठा । राष्ट्रपति महोदय 'शकुन प्रकाशन' के उत्तम प्रकाशन 'दिवंगत हिन्दी-सेवी' के दूसरे खण्ड का उद्घाटन कर रहे थे । प्रस्तुत कृति आचार्य श्री क्षेमचन्द्र 'सुमन' के पुण्य संकल्पों और अथक परिश्रमों से खिला द्वितीय पुष्प है । इसके प्रथम खण्ड का उद्घाटन सन् ८१ में प्रधान मन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने किया था ।

महामहिम राष्ट्रपति ने कहा—हिन्दी ही एक मात्र ऐसी भाषा है जो समूचे देश को एक कड़ी में पिरोती है । हिन्दी यदि कमजोर होती है तो देश कमजोर होता है । अगर हिन्दी मजबूत हुई तो देश मजबूत होगा । देश की एकता मजबूत होगी ।

उन्होंने कहा कि हिन्दी भाषा को कई सौ वर्षों से कमजोर बनाने के प्रयत्न होते रहे हैं फिर भी बिना किसी राजकीय सहयोग के हिन्दी देश के कोने-कोने में बोली और समझी जाती रही । इसके सीचने में हमारे ऋषियों, मुनियों एवं साधुओं ने अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभायी । आजादी की लड़ाई में हमारे नेता महात्मा गांधी और जवाहरलाल नेहरू आदि ने हिन्दी के जरिये जगे आजादी में कमाल का काम किया । जब मैं राष्ट्रपति बन कर यहां आया तो हिन्दी, उर्दू और गुरुमुखी का अखबार पढ़ने की इच्छा हुई लेकिन मुझे ये अखबार नहीं मिले । मुझसे कहा गया कि राष्ट्रपति भवन में सिर्फ अंग्रेजी के अखबार आते हैं । मुझे बहुत तकलीफ हुई । आजाद भारत में राष्ट्रपति भवन में जब देश को जोड़ने वाली भाषा के अखबार न आते हों तब देश की एकता कैसे रह सकती है । हालांकि

अब वह कमी दूर हो गई और अब हिन्दी के अखबार आते हैं । हिन्दी की किसी भाषा से दुश्मनी नहीं है । हिन्दी तो सभी भाषाओं को साथ लेकर चलती है । मैं हिन्दी वालों से अनुरोध करूंगा कि वे सरल हिन्दी का प्रचार करें । जब लोग सरल हिन्दी पढ़ने के आदी हो जायेंगे तब गूढ़ हिन्दी भी समझने लगेंगे ।

दिवंगत हिन्दी सेवी का संपूर्ण प्रकाशन दस खण्डों में पूर्ण होगा और इसमें हिन्दी को राष्ट्र भाषा बनाने में श्रेय-प्राप्त तमिलनाडु, बंगाल, महाराष्ट्र, गुजरात, कर्नाटक, पंजाब आदि प्रांतों के और सभी धर्मों के सन् १८०० के बाद के दिवंगत हिन्दी सेवियों का परिचय रहेगा । प्रथम खण्ड में ८८६ और द्वितीय खण्ड में ८६३ परिचयों का समावेश हो चुका है । दोनों खण्डों में लगभग—५० जैन-नक्षत्रों पर भी हमारी बृष्टि पड़ी । देश की आजादी की लड़ाई, शासन-अनुशासन और भारत-भारती की सेवा आदि सभी क्षेत्रों में जैनी सदा आगे रहे हैं । उक्त ग्रन्थ के प्रकाशन का कार्य भी तदनुरूप है । 'ग्रन्थ प्रकाशन' में आने वाली कठिनाइयों का जिक्र करते हुए श्री सुभाष जैन ने प्रारम्भिक स्वागत भाषण में कहा कि - हिन्दी के प्रति समर्पित भाव के कारण ही उनमें ग्रन्थ को प्रकाशित करने का साहस हुआ ।

लेखक व प्रकाशक की सूझ, प्रयत्न, साहस और सामग्री सजोने की कला को जितना सराहा जाय, थोड़ा है । उनका सकल्प-लोगों को हिन्दी सेवी पूर्वजों की स्मृति करा, उन्हें श्रद्धा-सुमन चढ़ाने का अवसर देना है । इससे बड़ा उपकार कोई क्या होगा ।

हम जैन बन्धुओं से अपेक्षा करेंगे कि वे अपनी प्रतिष्ठा सुरक्षित करें और दिवंगत हिन्दी सेवी जैनों के परिचय लेखक या प्रकाशक के पास अधिकाधिक संख्या में भेजें ताकि वे ग्रन्थ में उनका समावेश कर सकें ।

वीर सेवा मन्दिर के वर्तमान पदाधिकारी

तथा

कार्यकारिणी समिति के सदस्य

१. माहू श्री बशोककुमार जैन	अध्यक्ष	६, सरदार पटेल मार्ग नई दिल्ली
२. न्यायमूर्ति श्री मागीलाल जैन	उपाध्यक्ष	३०, तुंगलक प्रीमिष्ट, नई दिल्ली
३. श्री गोकुलप्रसाद जैन	उपाध्यक्ष	३, रामनगर पहाडगंज "
४. श्री सुभाष जैन	महामन्त्रि	१६, दरियागंज "
५. श्री रत्नत्रयधारी जैन	सचिव	४, अल्का जनपथ लेन "
६. श्री नन्हेमल जैन	कोषाध्यक्ष	१३/३५, दरियागंज "
७. श्री प्रेमचन्द जैन	सदस्य	७/२५, अमारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली
८. श्री दिग्दर्शन चरण जैन	"	६६२/२१, दरियागंज, "
९. श्री देवकुमार जैन	"	एम-३६, गेट नं० १, "
१०. श्री मल्लिनाथ जैन	"	१, दरियागंज, नई दिल्ली
११. श्री हरीचन्द जैन	"	२/२८, दारियागंज, नई दिल्ली
१२. श्री इन्दर सैन जैन	सदस्य	४, अमारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली
१३. श्री ओमप्रकाश जैन एडवोकेट	"	४७४१/२३, दरियागंज, नई दिल्ली
१४. श्री अजितप्रसाद जैन ठेकेदार	सदस्य	४-१५/२८, दरियागंज "
१५. श्री भारतभूषण जैन एडवोकेट	"	१, दरियागंज, नई दिल्ली
१६. श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन	"	बी-४५/४७, कनॉट प्लेस, नई दिल्ली ।
१७. श्री बाबूलाल जैन	"	२/१०, दरियागंज, नई दिल्ली
१८. श्री विमलप्रसाद जैन (डैसू)	"	२५, " "
१९. श्री चक्रेशकुमार जैन	"	३, " "
२०. श्री अनिलकुमार जैन	"	२७७०, कृन्तु रोड, दिल्ली
२१. श्री अजितप्रसाद जैन	"	२१-ए, दरियागंज, नई दिल्ली

“यदि हम अपने सिद्धान्त पर आरुढ़ हो जायें—उसी के अनुसार अपनी सब प्रवृत्ति करने लगे तो अन्य लोग हमारे सिद्धान्त को अच्छी तरह हृदयंगम कर लगे। परन्तु हम लोग अपने सिद्धान्तों को अपने आचरण या प्रवृत्ति से तो दिखाते नहीं, केवल शब्दों द्वारा बनाने का प्रयत्न करते हैं—उसका प्रभाव लोगों पर नहीं पड़ता।”

—वर्णी जी, (मेरी जीवन गाथा)

बीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुस्तार श्रीजगन्नाथशिर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिन्द ।	...	४-५०
जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का संग्रहाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अर्णकृत, सजिन्द ।	...	६-००
जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह । रत्नपत्र ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित । सं. प. परमानन्द शास्त्री । सजिन्द ।	...	१५-००
समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अष्ट्यात्मकृति, पं० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित	...	५-५०
अवधनबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन	...	३-००
न्याय-दीपिका : भा० अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा ग० अनु० ।	...	१०-००
जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिन्द ।	...	७-००
कसामपाहुडसुत : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री मुग्धराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूणिभूषण लिखे । सम्पादक पं० हारालालजी सिद्धान्त-शास्त्री । उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में । पृष्ठ कागज और कपड़े की पक्की जिल्द ।	...	२५-००
जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा श्री रत्नलाल कटारिया	...	७-००
ध्यानसतक (ध्यानस्तव सहित) : संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री	...	१२-००
आवक धर्म संहिता : श्री दरबारीलाल सोधिया	...	५-००
जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : सं० पं० बालचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री	प्रत्येक भाग	४०-००
जिन शासन के कुछ विचारणीय प्रसंग : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, बहुचर्चित सात विषयों पर शास्त्रीय प्रमाणयुक्त तर्कपूर्ण विवेचन । प्राक्कथन : सिद्धान्ताचार्य श्री कैलाशचन्द्र शास्त्री द्वारा लिखित	...	२-००
Jain Monuments : टी० एन० रामचन्द्रन	...	१५-००
Reality : भा० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद । बड़े आकार के ३०० पृ., पक्की जिल्द	...	८००

आजीवन सदस्यता शुल्क : १०१.०० रु०

वार्षिक मूल्य : ६) रु०, इस अंक का मूल्य : १ रुपया ५० पैसे

विद्वान् लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र होते हैं । यह आवश्यक नहीं कि सम्पादक-मण्डल लेखक के विचारों से सहमत हो ।

सम्पादक परामर्श मण्डल—डा० ज्योतिप्रसाद जैन, श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, सम्पादक—श्री पद्मचन्द्र शास्त्री
वकाशक—रत्नजयधारी जैन बीर सेवा मन्दिर के लिए, कुमार बादर्स प्रिंटिंग प्रेस के-१२, नवीन शाहदरा
दिल्ली-१२ से मुद्रित ।

वीर सेवा मन्दिर का अर्मासिक

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगलकिशोर मुस्तार 'युगवीर')

वर्ष ३६ : कि० ३

जुलाई-सितम्बर १९८३



मन्दिर एवं मानस्तंभ, देवगढ़

प्रकाशक

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

इस अंक में—

क्रम	विषय	पृ०	क्रम	विषय	पृ०
१.	सीख	१	७.	निमित्ताधीन दृष्टि—श्री बाबूलाल जैन वक्ता	२३
२.	सम्यक्त्व-कौमुदी सम्बन्धी शोध-खोज —डा० ज्योतिप्रसाद जैन	२	८.	भट्टारक पट्टावली—डा० पी० सी० जैन	२४
३.	नव वर्ष दिवस—रमाकान्त जैन	६	९.	“भाव संग्रह” की लिपि प्रशस्ति —कुन्दनलाल जैन प्रिन्सिपल	२६
४.	पर्युषण-कल्प—डा० ज्योति प्रसाद जैन	८	१०.	आचार्य कुन्दकुन्द की जैन दर्शन को देन — डा० लालचन्द जैन, बैशाली	२८
५.	डिम्मी (राज०) के दि० जैन मन्दिर में उपलब्ध हिन्दी का प्रथम पद्य पुराण—डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल	१०	११.	विचारणीय-प्रसंग—श्री पद्मचन्द्र शास्त्री	३४
६.	बिहार में जैन धर्म : अतीत एवं वर्तमान—प्रो० डा० राजाराम जैन, आरा	१३	१२.	जरा-सोचिए—सम्पादक	३६
			१३.	साहित्य-समीक्षा	आ० पृ० ३

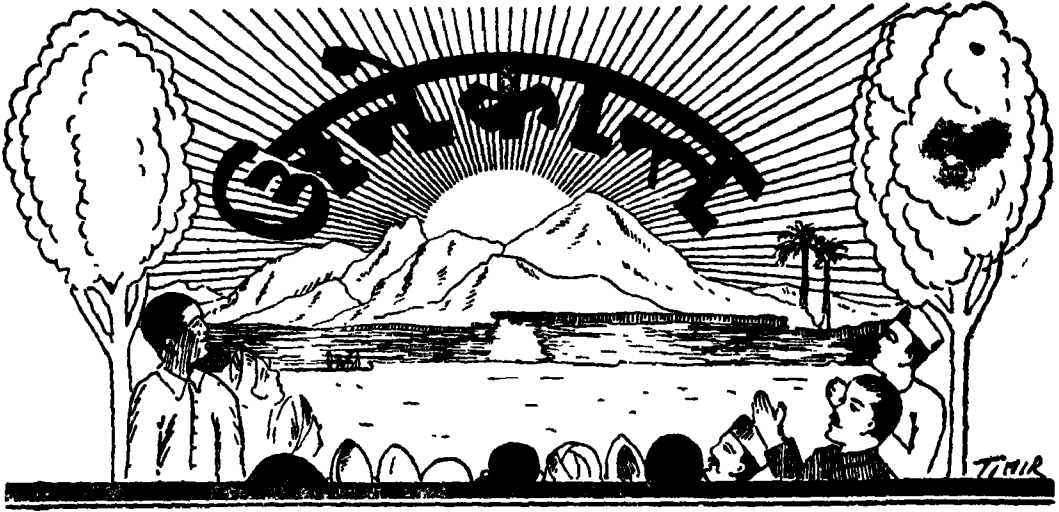
स्वर्गस्थ सरसेठ भागचन्द जी सोनी के प्रति श्रद्धाञ्जलि

जैन शासन के अनन्य सेवक, देव-गुरु-शास्त्र के निष्ठावान आराधक, जैन-रत्न, सर सेठ कैप्टन भागचन्द-जी सोनी का निधन समूचे जैन समाज की ऐसी क्षति है, जिसकी पूर्ति निकट भविष्य में सम्भव नहीं लगती ।

जिन वाणी के प्रसार में, जैन तीर्थों के संरक्षण में और समाज संगठन के क्षेत्र में दीर्घ अवधि तक अपनी बहुमूल्य सेवामें समर्पित करके श्री भागचन्दजी सोनी ने जैन इतिहास में अपने अमिट हस्ताक्षर अंकित किये हैं । साधु-सेवा और शास्त्र स्वाध्याय के द्वारा उन्होंने अपने जीवन को साधनामय बनाकर एक आदर्श श्रावक का उदाहरण प्रस्तुत किया । उनके व्यक्तित्व में सात्विकता, सहृदयता, विद्वत्ता और सरलता आदि अनेक विशेषताएँ थी । उनके निधन से समाज की अपूरणीय क्षति हुई है । वे एक मानवता प्रेमी व्यक्ति थे और समाज कल्याण के कार्यों में उनकी गहरी अभिरुचि थी ।

वीर सेवा मन्दिर सोसाइटी की कार्यकारणी की दिनांक ८-८-८३ की बैठक में स्वर्गीय आत्मा की सद्गति एवं सुखशान्ति के लिए खडे होकर दो मिनट का मौन रखा गया और उनके परिवार-जनो के प्रति सवेदना प्रकट की गई ।

ओम् अहम्



परमागमस्य बीज निषिद्धजातयन्धासन्धुरविधानम् ।

सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष ३६
किरण ३

वीर-सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२
वीर-निर्वाण सन् २५०६, वि० स० २०४०

{ जुलाई-सितम्बर
१९८३

सीख

जिया तोहि समुझायो सौ-सौ बार ।
देख-सुगुरु की पर-हित में रति हित-उपदेश सुनायो सौ-सौ बार ॥
विषय भुजंग सेय दुख पायो, पुनि तिनि सों लपटायो ।
स्व-पद बिमार रच्यो पर-पद में, मद-गत ज्यों बौरायो ॥
ता धन स्वजन नहीं हैं तेरे, नाहक नेह लगायो ।
क्यों न तजै भ्रम, चाख समामृत, जो नित संत सुहायो ॥
अबहूं समुझि कठिन यह नर-भव, जिन-वृष बिना गमायो ।
ते बिलख मनि डार उदधि में, 'दौलत' को पछुतायो ॥
× × × × ×
अन्तर उज्जल करना रे भाई ।
कपट कृपान तजै नहि सबलों, करनी काज न सरना रे ॥
जप-तप तीरथ जज्ञ व्रतादिक, आगम अर्थ उचरना रे ।
विषय कषाय कीच नहि बोयो, यों ही पचिपचि मरना रे ॥
बाहिर भेष क्रिया उर शुचि सों, कीयें पार उतरना रे ।
नाहीं है सब लोक-रजना, ऐसे वेदन बरना रे ॥
कामादिक मल सों मन मैला, भजन किये क्या तिरना रे ।
'मूषर' नील बसन पर कैसें, केसर रंग उछलना रे ॥

सम्यक्त्व-कौमुदी सम्बन्धी शोधखोज

□ विद्यावारिधि डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन

जैन परम्परा, विशेषकर दिगम्बर जैन परम्परा में बहु प्रचलित एवं लोकप्रिय कथाग्रन्थ सम्यक्त्व-कौमुदी का सर्वप्रथम ज्ञात एवं उपलब्ध मुद्रित प्रकाशित संस्करण प० उदयलाल कासलीवाल द्वारा संपादित, प० तुलसीराम काव्य तीर्थ द्वारा अनुदित और १९१५ ई० में हिन्दी जैन साहित्य प्रसारक कार्यालय बम्बई द्वारा प्रकाशित है। तदनन्तर प० नाथूराम प्रेमी ने अपने जैनग्रन्थ कार्यालय बंबई से १९२८ ई० में और सेठ मूलचन्द्र किसनदास कापड़िया ने अपने दिगम्बर जैन पुस्तकालय सूरत से १९३९ ई० में उसी का प्रकाशन किया। भारतीय ज्ञानपीठ काशी से १९४८ ई० में प्रकाशित नागदेव-कृत संस्कृत मदनपराजय के स्वसंपादित संस्करण की प्रस्तावना (द्वि० संस्करण, १९६४ ई०, पृ० ५७-५८) में डॉ० राजकुमार जैन साहित्याचार्य ने मदनपराजय के कर्ता नागदेव को ही अज्ञातकृतक सम्यक्त्व-कौमुदी का कर्ता अनुमानित किया, और सम्यक्त्व-कौमुदी की ही उन्हें ज्ञात प्राचीनतम प्रति (ए० बेबर द्वारा उल्लेखित १४३३ ई० की) के आधार से नागदेव का समय वि० स० की १४वीं शती का पूर्वार्ध प्रतिपादित किया। तदनन्तर उन्होंने १९४९ ई० में सागर से प्रकाशित वर्णा-अभिनदन-ग्रन्थ में प्रकाशित अपने लेख में 'सम्यक्त्व-कौमुदी के कर्ता' (पृ० ३७५-३७६) में शैलीसाम्य, भाषासाम्य, उद्धृत पद्यसाम्य, अतर्कक्षसाम्य और प्रकरणसाम्य के आधार पर मदनपराजय तथा सम्यक्त्व-कौमुदी के तुलनात्मक परीक्षण द्वारा दोनों रचनाओं को अभिन्न-कर्तृक सिद्ध करने का सफल प्रयास किया। डा० राजकुमार जी के सम्मुख सम्यक्त्व-कौमुदी का १९२८ ई० का जैनग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय बम्बई से प्रकाशित संस्करण था। मदनपराजय के प्रथम संस्करण (१९४८ ई०) के ग्रंथमाला-संपादकीय-निवेदन में प० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य ने अवश्य ही उन दोनों रचनाओं के अभिन्न कर्तृत्व पर प्रश्न

चिन्ह लगाया था और डा० राजकुमार जी के अनुमान को स्वीकार करने में हिचकिचाहट व्यक्त की थी, किन्तु विरोध में कोई पुष्ट प्रमाण अथवा तर्क भी नहीं दिया था।

तदनन्तर १९७५ ई० में शान्तिवीरनगर श्री महावीर जी से आचार्य शिवसागर-ग्रन्थमाला के अन्तर्गत मुनि श्री अजित सागर जी द्वारा संपादित तथा प० पन्नालाल जी साहित्याचार्य द्वारा अनुदित सम्यक्त्व-कौमुदी प्रकाशित हुई, जिसमें रचयिता अज्ञात सूचित किया गया। तथापि अपनी प्रस्तावना में प० पन्नालाल जी ने डा० राजकुमार जी के वर्णी अभिनन्दन-ग्रन्थ वाले लेख का बहुभाग उद्धृत करते हुए उनके मत को ही मान्य कर लिया प्रतीत होता है।

हमने अपने लेख 'सम्यक्त्व-कौमुदी-कथा और उसके कर्ता' (जैन सिद्धान्त भास्कर, भा० ३४ अ० २ दिस० ८१, पृ० १-८) में ग्रन्थ के १९१५ ई० में प्रकाशित संस्करण, जो हमें उपलब्ध था, के आधार से ग्रंथ का परिचय दिया, जिनदेव अपरनाम नागदेव को उसका कर्ता तथा उसकी १४०३ ई० की प्राचीनतम ज्ञात प्रति के आधार से लगभग १३५० ई० उसका रचनाकाल अनुमानित किया। हम भी सम्यक्त्व-कौमुदी और मदनपराजय को अभिन्नकर्तृक मान्य करते हैं। अपने एक अन्य लेख 'सम्यक्त्व-कौमुदी नामक रचनाएँ' (अनेकान्त व० ३४ कि० २-३, अप्रैल-सितम्बर ८१, पृ० २-६) में हमने दिगम्बर एवं श्वेताम्बर उभय परम्पराओं तथा संस्कृत, अपभ्रंश, कन्नड, हिन्दी, गुजराती आदि विभिन्न भाषाओं में रचित १६ रचनाओं का, जिनमें १२ दिगम्बर विद्वानों द्वारा तथा ४ श्वेताम्बर विद्वानों द्वारा रचित हैं, विवरण दिया था। हमारे उक्त दोनों लेखों को देखकर स्व० अण्ण-चन्द्र नाहुटा ने अपने लेख 'सम्यक्त्व-कौमुदी सम्बन्धी अन्य रचनाएँ' (अनेकान्त व० ३४, कि० ४, अक्तूबर-दिस० ८१, पृ० ११-१२) में मल्लिभूषण, यशःकीर्ति, यशःसेन

कवि, वादिभूषण और श्रुतसागर द्वारा रचित सम्यक्त्व-कौमुदी नामक ५ रचनाओं का, जो सब दिगम्बर प्रणीत तथा संभवतया यशकीर्ति की कृति को छोड़कर संस्कृत में रचित प्रतीत होती है, उल्लेख किया है। एक श्वेताम्बर संस्कृत रचना तथा उसी परम्परा की १७वीं से १८वीं शती में रचित ६ राजस्थानी रचनाओं का सूचन किया है। अपने एक अन्य लेख 'सम्यक्त्व-कौमुदी सम्बन्धी अन्य रचनाएं एवं विशेष ज्ञातव्य' (अनेकान्त वर्ष ३५, कि० २, अप्रैल-जून ८२, पृ० ८) में स्व० नाहटा जी ने पार्श्वनाथ विद्याश्रम वाराणसी से प्रकाशित 'जैन साहित्य का बृहद् इतिहास', भाग ७ के आधार से दयासागर (दयाभूषण), महीचन्द्र, देवेन्द्रकीर्ति और क० भ० नितर्वे द्वारा मराठी भाषा में लिखित चार रचनाओं का उल्लेख किया है, जो सब दिगम्बरकृत हैं। नाहटा जी ने श्वेताम्बर जिनहर्ष गणि द्वारा १४३० ई० में संस्कृत में रचित सम्यक्त्व-कौमुदी का तथा १६१७ ई० में प्रकाशित उसके गुजराती अनुवाद का भी उल्लेख किया है। शोधांक ४८ (६ मई ८२, पृ० ३०२-३०३) में प्रकाशित अपने लेख 'सम्यक्त्व-कौमुदी के मन्व मे' हमने विद्वद्वय नाहटा जी का उनकी अतिरिक्त सूचनाओं के लिए आधार मानते हुए उनकी कतिपय सदिग्ध सूचनाओं की समीक्षा भी की है और अपने मूल प्रश्न पर बल दिया है कि क्या जिनदेव अपर-नाम नागदेव कृत संस्कृत सम्यक्त्व कौमुदी ही तन्नाम मूल अथवा सर्वप्रथम रचना नहीं है ?

उपरोक्त लेखों को लिखते समय हमारे सामने तथा संभवतया श्री नाहटा जी के सामने भी, पं० पन्नालाल जी साहित्याचार्य द्वारा संपादित-अनूदित तथा १९७५ ई० में शान्तिवीरनगर श्री महावीर जी से प्रकाशित संस्करण नहीं था। इस संस्करण की पंडित जी द्वारा लिखित प्रस्तावना से तथा सम्यक्त्व-कौमुदी के इस पाठ के साथ १९१५ वाले संस्करण के पाठ का तुलनात्मक दृष्टि से अवलोकन करने पर कई अन्य रोचक एवं महत्वपूर्ण तथ्य उजागर हुए :—

१. अधुना ज्ञात एवं उपलब्ध स्रोतों से विदित है कि पूर्ववर्ती विविध साहित्य से उद्धृत प्रसंगोपयुक्त सूक्तियों से भरपूर सरल संस्कृत गद्य में निबद्ध जो सम्यक्त्व-कौमुदी

नामक धर्मकथा-ग्रन्थ पाठकों एवं श्रोताओं में सम्यक्त्व गुण को अकुरित एवं पुष्ट करने के उद्देश से १३५० ई० के लगभग रचा गया था और जो १९१५, १९२८, १९३९ तथा १९७५ ई० के पूर्वोक्त मुद्रित-प्रकाशित संस्करणों में प्राप्त है, वही इस नाम की सर्वप्रथम रचना है।

२. उसकी जितनी हस्तलिखित प्रतियों का उल्लेख हमने अपने पूर्वोक्त लेखों में किया है, ऐसा प्रतीत होता है कि देश के विभिन्न छोटे-बड़े शस्त्रभण्डारों में उनसे कहीं अधिक सख्या में प्रतियां विद्यमान हैं।

३. ऐसा लगता है कि ग्रन्थ के दो रूप भी पर्याप्त समय से प्रचलित रहते आये हैं—एक बृहद् रूप और एक संक्षिप्त रूप। सन् १९७५ वाले संस्करण में बृहद् रूप प्राप्त होता है। जिसमें उद्धृत सूक्तियों-श्लोकों आदि की सख्या ५४० के लगभग है, गद्यांश भी कहीं-कहीं अधिक या विस्तृत है, जबकि १९१५ आदि के, उसके पूर्ववर्ती संस्करणों में संक्षिप्त रूप प्राप्त होता है जिसमें उद्धरणों की सख्या लगभग २१० है। जैसा कि पं० पन्नालाल जी ने अपनी प्रस्तावना (पृ० ६) में लिखा है, "इसके बृहद् और संक्षिप्त दो रूप कैसे हो गये यह भी विचारणीय है। ऐसा लगता है कि इसके बृहद् रूप को ही परिमार्जित कर संक्षिप्त रूप निमित्त कर दिया गया है। सुभाषितों की अधिक भरमार हो जाने से कथा की रोचकता मंद हो जाती है। जिस प्रकार बहुत अधिक आभूषणों से सुसज्जित स्त्री की स्वाभाविक सुन्दरता समाप्त हो जाती है, उसी प्रकार बहुत भारी सुभाषितों अथवा श्लोककारों से कथा की स्वाभाविक रोचकता समाप्त हो जाती है। इसी अभि-प्राय से किसी विद्वान ने इसका संक्षिप्त रूप निमित्त किया है। कथा वही रही है, भाषा भी प्रायः वही है, परन्तु सुभाषितों का मकलन कम किया गया है। कही पात्रों के नामादिक में भी कुछ परिवर्तन किया गया है। इन दोनों के कर्ता हमारे लिए अज्ञात है।" बृहद् रूप के उपोद्घात में सम्यक्त्व के स्वरूप एवं माहान्त्य का सुन्दर व्याख्यान है जो संक्षिप्त रूप में नहीं है। अन्य भाग तथा अन्यत्र भी संक्षेप-विस्तार के अंतर हैं।

४. इसी ग्रन्थ का एक तीमरा रूप श्री पं० रतन-लाल जी कटारिया केकरी के संग्रह में प्राप्त है, जिसमें

उनके अनुसार मुद्रित प्रति से बहुत विशेषता है—कई श्लोक अधिक हैं और कितने ही गद्य-खण्ड विभिन्न प्रकार के हैं। उसकी पत्र संख्या ७५, आकार १' × ६", प्रत्येक पृष्ठ पर १३ पंक्तियाँ और प्रत्येक पंक्ति में ३५ के लगभग अक्षर हैं। इस प्रति तथा मुद्रित प्रति के मगलाचरण संबन्धी श्लोको में भी पाठ भेद है, आगे भी पर्याप्त पाठ-भेद होने की संभावना है। इस प्रति के पाठ में एक विशेषता यह है कि इसमें छोटी कथा तक का भाग पूर्ण था पद्य रूप में ही दिया गया है, गद्य में बिल्कुल नहीं, मानवी व आठवी कथा गद्य में दी गई है। अन्य गुणिका है—'इति श्री सम्यक्त्वविषये अर्हदामकथाया मध्यम्य-कौमुदीग्रन्थ' समाप्त। ग्रन्थाग्र २३६८ श्लोक।' यह प्रति मूलसंघ-मरस्वनीगच्छवलात्कारगण श्रीकृन्दकृन्दाचार्यन्वय के भट्टारक सकलकीर्ति की परम्परा के भ० पद्मनदि के शिष्य ब्रह्मकल्याण के प्रशिष्य ब्रह्मश्री भीमजी ने फान्गुन वदि १४ भौमवार स० १७७४ (मन् १ १७ ई०) में उदयपुर में लिखवाई था (देखिए १९७५ के संस्करण की पं० पन्नालाल जी की प्रस्तावना, पृ० ८-११)। इस प्रकार ग्रन्थ के तीन रूप तो अभी प्राप्त हैं। उनकी समस्त ज्ञान एवं उपलब्ध प्रतियों के निरीक्षण से कनिष्ठ अन्य रूप भी प्रकट हो सकते हैं। यह कहना कठिन है कि क्या मूल लेखक ने ही रचना को कई रूपों में लिखा था, अथवा उसके द्वारा रचित रूप में उनमें से कोई एक था और था तो कौन था। संभावना है कि कथा की उपादेशना एवं लोकप्रियता से प्रभावित होकर किन्हीं परवर्ती विद्वानों या प्रतिलेखकों को उक्त विभिन्न रूपों का श्रेय है। किन्तु मूल लेखक के विषय में तो कुछ साधार अनुमान भी है कि वह संस्कृत मदनपराजय के कर्त्ता जिनदेव आग्रनाम नागदेव से अभिन्न है, जबकि इन परवर्ती रचयिताओं के सबन्ध में कुछ ज्ञान नहीं है।

५. पं० कटारिया जी की प्रति को छोड़कर जो दो रूप एवं पाठ उपलब्ध हैं, उनमें भी कम से कम एक पाठ-भेद अति दिल्चस्प है—१९१५ आदि के संस्करणों में चौथी कथा में (पृ० ६५ पर) औषधिदान के दृष्टान्तरूप से कथन है कि 'रेवतीश्राविकाया श्री वीरस्योषधिदानं दत्तम्। तेनौषधिदानं फलेन तीर्थंकर नाम कर्मोपाजितमत

एवौषधिदानमपि दातव्यं।' जबकि १९७५ के संस्करण में 'द्वारवत्या वासुदेवेन औषधिदानं भट्टारकस्य दत्तं तेनौषधिदानं फलेन तीर्थंकर नामकर्मोपाजितमत एवौषधिदानमपि दातव्यम्' पाठ है। मूलग्रन्थ में इन दोनों में से कौन सा पाठ रहा, यह समस्या है। मूल ग्रन्थ और उसके कर्त्ता दिगम्बर आम्नाय के हैं, यह सुनिश्चित है। हरिवंशपुराण आदि में द्वारिका नगरी में वासुदेव कृष्ण द्वारा एक मुनि को औषधिदान करने का प्रसंग है, उसका बड़ा महात्म्य भी बताया गया है, और नारायण कृष्ण द्वारा तीर्थंकर-नामकर्म का वध करने की बात भी है। किन्तु रेवती नामक श्राविका द्वारा भगवान महावीर को औषधिदान दिए जाने का दिगम्बर साहित्य में कहीं कोई संकेत नहीं है। दिगम्बर आम्नाय की सैद्धान्तिक मान्यता के अनुसार तो तीर्थंकर को रोगादि शरीरिक व्याधि ही नहीं होती, अतएव उनके लिए औषधिदान दिए जाने का प्रश्न ही नहीं होता। केवलीभगवान तो कवलाहारी भी नहीं होते। दूसरी ओर, श्वेताम्बरागम भगवतीसूत्र (१५/५५७) आदि में भगवान महावीर की केवलीचर्या के १५वें वर्ष में मखलिगोशाल द्वारा तेजोलेश्या छोड़े जाने से भगवान के शरीर में रक्तातिमार एवं दाहजन्य अत्यन्त पीड़ा होने, उस रोग के शमनार्थ स्वयं अपने एक शिष्य को भेजकर मैद्विया ग्राम निवासिनी गाथा पत्नी रेवती के घर से बिजौरा-पाक मगवाने, उसके सेवन से रोग का उपशमन होने, और उक्त औषधिदान के फलस्वरूप उस रेवती श्राविका द्वारा तीर्थंकर नामकर्म का उपाजर्जन किए जाने के वर्णन है (देखें—आ० हस्तीमल कृत 'जैनधर्म का मौलिक इतिहास' प्रथम भाग, जयपुर १९७१ पृ० ४२५-४२७)। श्वे० साहित्य में कृष्ण द्वारा मुनि को औषधिदान देने का दिग० अनुश्रुति जैसा कोई उल्लेख तो नहीं है किन्तु भ० नेमिनाथ द्वारा वासुदेव कृष्ण को भावी चौबीसी में बारहवां तीर्थंकर होने की भविष्यवाणी की गई बताई है (देखें वही पृ० २२४ तथा अतगड़दश सूत्र)। इस प्रसंग में यह ध्यातव्य है कि सम्यक्त्व-कौमुदी के उक्त दोनों संस्करणों में उपरोक्त रेवती-वासुदेव विषयक कथन से आगे और पीछे के पाठ सर्वथा समान हैं। अतएव स्पष्ट है कि यह पाठभेद किसी श्वे० विद्वान या प्रतिलेखक की साम्प्रदायिक

मनोवृत्ति का परिणाम है, जिसने वासुदेव विषयक कथन के स्थान में रेवती विषयक प्रसंग यहां डाल दिया। ग्रंथ की समस्त उपलब्ध प्रतियों एवं संस्करणों का सूक्ष्म निरीक्षण करने पर संभव है कि इस प्रकार के कुछ अन्य पाठभेद, परिवर्तन, हस्तक्षेप आदि भी प्रकाश में आ जायें।

६. सन् १३५० ई० के लगभग जिनदेव (नागदेव) द्वारा संस्कृत में विरचित उपरोक्त सम्यक्त्व-कौमुदी के अतिरिक्त उसी या उससे मिलते-जुलते नाम की तथा उसी के आधार से कालान्तर में रचित तीस-पैंतीस रचनाओं का पता चलता है। इससे १४०० ई० में पूर्व की कोई रचना नहीं है, दो तीन ही १५वीं शती की है, शेष १६वीं से १९वीं शती पर्यन्त की है। ये रचनायें संस्कृत, अपभ्रंश, कन्नड, हिन्दी, राजस्थानी, गुजराती, मराठी आदि कई भाषाओं में विभिन्न लेखकों द्वारा कभी-कभी विभिन्न शैलियों में भी लिखी गई है। सम्यक्त्व-कौमुदी-चौपाई, समकित राम आदि विभिन्न नामरूप उल्लेख्य ग्रंथों के ही पोषक हैं। पं० पन्नालाल जी (वही प्रस्तावना पृ० ८) की सूचनानुसार सम्यक्त्व-कौमुदी की कथाओं का एक रूपान्तर हिन्दी पद्य में विरचित सम्यक्त्वलीलाविलाम के नाम से प्राप्त है, जिसकी हस्तलिखित प्रतिया यत्र-तत्र कई शस्त्र-भंडारों में मिलती हैं—एक प्रति गोराबाई जैन मन्दिर कटरा सागर के सरस्वती भवन में भी विद्यमान है। उसके कर्ता का नामादि कुछ सूचित नहीं किया गया। रचना अभी अप्रकाशित है। शास्त्र-भंडारों की खोज करने से सम्यक्त्व-कौमुदी विषयक और भी कई रचनाएँ प्रकाश में आ सकती हैं। प्रत्येक रचना की सभी प्राप्त पाठ-लिपियों का निरीक्षण करने से उनमें परस्पर तथा अन्य कर्तृक रचनाओं के साथ रहे पाठभेदों, अन्तर्गों, विशेषताओं आदि का भी पता चल सकता है।

इस प्रकार विभिन्न समयों, विभिन्न क्षेत्रों, विभिन्न भाषाओं एवं शैलियों में उभय सम्प्रदायों के विभिन्न लेखकों द्वारा विरचित सम्यक्त्वकौमुदी विषयक साहित्य की प्रचुरता एवं विविधता को देखते हुए इस कथाग्रन्थ की लोकप्रियता एवं प्रचार-प्रसार में कोई सन्देह नहीं रहता। गत लगभग ६०० वर्ष से यह कथा अखिल जैनजगत में

आबालवृद्ध स्त्री-पुरुषों के लिए एक शिक्षाप्रद रोचक एवं पठनीय शास्त्र रहता आया है। मूल कथा में विवेकपूर्ण धार्मिकता एवं नीतिमत्तता तथा उदारमयता पर विशेष बल है और साम्प्रदायिक अभिनिवेश अत्यल्प हैं, इसी से वह सर्वग्राह्य हुई।

अब प्रश्न यह है कि सम्यक्त्व-कौमुदी परम्परा का मूलाधार या स्रोत क्या है? क्या १३५० ई० के लगभग जिनदेव अपरनाम नागदेव द्वारा रचित संस्कृत गद्यपद्यमयी सम्यक्त्वकौमुदी ही वह मूलाधार या स्रोत है, अथवा उसकी पूर्ववर्ती कोई अन्य रचना या ग्रंथ है? यदि जिनदेव कृत सम्यक्त्वकौमुदी ही इस परम्परा का मूलग्रन्थ है तो उसका प्रकृत रूप और आकार-प्रकार क्या था? स्वयं उसकी सभी विभिन्न प्रतियों के तुलनात्मक सूक्ष्म परीक्षण से उसके जो रूपान्तर कालान्तर में हुए उनका स्वरूप निर्धारण तथा वे कब-कब और किस-किस की कृपा से हुए, इस विषय पर भी प्रकाश पड़ सकता है। विभिन्न लेखकों द्वारा रचित इस परम्परा की विभिन्न रचनाओं के तुलनात्मक अध्ययन में उसके विकास-क्रम पर तथा अंतरों परिवर्तनों, संशोधनों, परिवर्धनों आदि पर प्रकाश डाला जा सकता है। सम्यक्त्व-कौमुदी की कथाओं के बीजों को पूर्ववर्ती दिगम्बर एवं श्वेताम्बर तथा जैनैतर लोककथा साहित्य में भी खोजने की आवश्यकता है। ग्रन्थ में उद्धृत सूक्तियों, सुभाषितों आदि के मूल स्रोतों को खोज निकालना भी उपयोगी होगा। जैन कथा-साहित्य में, भारतीय कथा-साहित्य में तथा विश्वकथा-साहित्य में इस कथाग्रन्थ का मूल्यांकन करके स्थान निर्धारण करना एक रोचक अध्ययन होगा। और इस कथाग्रन्थ अथवा सम्यक्त्व-कौमुदी परम्परा की समस्त रचनाओं का तुलनात्मक सांस्कृतिक अध्ययन भी आनन्दवर्द्धक होगा।

वस्तुतः, सम्यक्त्व-कौमुदी साहित्य एक उत्तम गवेषणीय अन्वेषणीय विषय है जिस पर एक अनुसंधितसु शोधार्थी, श्रमपूर्वक सम्यक् शोध-खोज करके किसी भी विश्वविद्यालय की पी-एच. डी० उपाधि के लिए उत्तम शोधप्रबन्ध प्रस्तुत कर सकता है और जैनविद्या के अध्ययन की प्रगति में सराहनीय योग दे सकता है।

ज्योति निकुंज, चार बाग, लखनऊ

नव वर्ष दिवस

□ रमाकान्त जैन, बी० ए०, सा० रत्न, तमिल कोविद

हमारे देश भारत में नव वर्ष-दिवस वर्ष में अनेक बार, अनेक प्रकार से मनाया जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय कलेंडर (ग्रेगोरियल कलेंडर) के अनुसार अब यदि अधिकतर लोगों द्वारा नव-वर्ष दिवस पहली जनवरी को मनाया जाता है तो दक्षिण भारत में तमिलनाडु में नव वर्ष मकर-संक्रान्ति (१४ जनवरी) को मनाया जाता है। भारत के वर्तमान राष्ट्रीय पंचाग (कलेंडर) के अनुसार नववर्ष का आरम्भ चैत्र मास की प्रथम तिथि (२२) मार्च को होता है। सरकार अपना वित्तीय वर्ष पहली अप्रैल (मूर्ख दिवस) से आरम्भ करती है, तो भारत का कुछ व्यापारी वर्ग राम-नवमी से नया वर्ष मान अपने बहीखाते बदलता है और अधिकांश व्यापारी दशहरे से अथवा दीपावलि को लक्ष्मी-पूजन के उपरान्त कार्तिक शुक्ल प्रतिपदा से अपना नया व्यापारिक वर्ष आरम्भ करते हैं। शिक्षण-संस्थाओं में नया वर्ष या नया सत्र प्रायः जुलाई में आरम्भ होता है। वर्ष-वर्ष दिवसों की सूची यही पर समाप्त नहीं हो जाती। इनका सम्यक् लेखा देना सरल नहीं है। इन विभिन्न नव-वर्षों के मध्य इस वर्ष (१९८३ ई० की) १४ अप्रैल को आरम्भ होने वाला नव-वर्ष क्या है और उसका क्या ऐतिहासिक महत्त्व है, उसकी समीक्षा करने का यहां प्रयास किया जा रहा है।

यह नव-वर्ष चैत्र शुक्ल प्रतिपदा से आरम्भ होता है। यहां यह उल्लेखनीय है कि राष्ट्रीय पंचाग का नव-वर्ष भी चैत्र मास की प्रतिपदा से आरम्भ होता है, जो २२ मार्च को पड़ चुकी है। होली का त्यौहार चैत्र कृष्ण प्रतिपदा, २६ मार्च को हो चुका है और बगला पंचांग के अनुसार चैत्र मास का आरम्भ इस वर्ष १५ मार्च को ही हो चुका था। अतः चैत्र मास की इन विभिन्न तिथियों की गणनाओं का समाधान भी आवश्यक है।

प्राचीन काल से ही काल गणना की विभिन्न परि-

पाटियां रही हैं। इनमें मुख्य दो हैं—एक सूर्य को आधार बनाकर और दूसरी चन्द्रमा को आधार बनाकर। मोटे तौर से सूर्य को आधार बनाकर की गई काल-गणना “सौर-वर्षीय” और चन्द्रमा को आधार बनाकर की गई काल-गणना ‘चन्द्रवर्षीय’ कहलाती है। सौर वर्ष की भी गणना दो प्रकार से की जाती है—एक सायन विधि से और दूसरी निरयण विधि से। इन दोनों गणनाओं में थोड़ा अन्तर होता है। भारत सरकार द्वारा अपनाये गए राष्ट्रीय पंचांग में सायन सौर वर्ष को ही आधार बनाया गया है जिसमें वर्ष में ३६५-१/४ दिन माने गए हैं। ग्रेगोरियल कलेंडर भी इसी सायन सौर वर्ष पर आधारित है। काल-गणितज्ञों के अनुसार वर्तमान में सायन सौर-वर्ष और निरूपण सौर-वर्ष में साढ़े-तेइस दिन का अन्तर है। अतः जबकि राष्ट्रीय पंचाग में चैत्र प्रतिपदा २२ मार्च को मानी गई, निरयण सौर वर्ष के अनुसार चैत्र शुक्ल प्रतिपदा १४ अप्रैल को, अर्थात् २३ दिन बाद, पड़ रही है। भारत में अनेक पंचाग ऐसे हैं, जो चान्द्र वर्षीय काल-गणना पर आधारित हैं। मुसलमानों की कालगणना और उनके हिजरी सन् का आधार भी चन्द्र मास है।

भारत के वर्तमान राष्ट्रीय पंचाग के लिए जो संवत् अपनाया गया है वह है ईस्वी सन् ७८ में आरम्भ हुआ शक-संवत्। जैसा कि इस संवत् के नाम से स्पष्ट है इसके प्रवर्तक विदेशी शक थे। ईस्वी सन् का आरम्भ यदि ईसा-मसीह के जन्म से किया गया तो हिजरी सन् का पैगम्बर हजरत मुहम्मद के मक्का से मदीने जाने की घटना की याद में। भारत में तो संवत् और सन् आरम्भ करने अर्थात् कालगणना करने हेतु मील के पत्थर गाड़ने की परम्परा बहुत प्राचीन है। प्रायः सभी भारतीय धार्मिक परम्पराओं में अपनी-अपनी कालगणना है जो कही-कही इतिहास काल का भी अतिक्रमण कर गई है। यदि तीर्थंकर

वर्द्धमान महावीर के अनुयायियों ने उनके निर्वाण की घटना को अपनी कालगणना का आधार बनाया तो महात्मा बुद्ध के अनुयायियों ने भी उनके परिनिर्वाण से अपनी कालगणना आरम्भ की। कहीं कालगणना किसी व्यक्ति विशेष के जन्म से आरम्भ हुई तो कहीं किसी के अभ्युदय से अथवा निधन से। राजनैतिक इतिहास में अनेक ऐसे दृष्टान्त हैं जब पराक्रमी व महात्वाकांक्षी नरेशों द्वारा अपने जन्म, राज्यारोहण या विजय की स्मृति में नया संवत् या कालगणना प्रारम्भ की गई। किसी गण, जाति या वंश के सत्ता में आने पर उसकी स्मृति स्वरूप भी संवत् का प्रवर्तन हुआ। इतिहास काल की इस हजारों वर्षों की अवधि में भारत में कालगणना के इन आधारों ने कितनी बार नये-नये संवत्‌ओं के रूप में जन्म लिया और उनमें से कितने कालकवलित हो गए कहना कठिन है। फिर भी जो भारतीय धर्मनिरपेक्ष संवत् आज तक देश के बहुभाग में सर्वाधिक प्रचलित चले आ रहे हैं वे दो हैं—विक्रम संवत् और शक-संवत्। यद्यपि शक संवत् को हम राष्ट्रीय पंचांग में अपना चुके हैं। विक्रम-संवत् भारतीय जन-मानस को उससे अधिक प्रिय है।

पंचांग के अनुसार इस चैत्र शुक्ल प्रतिपदा (१४ अप्रैल १९८३) को विक्रम संवत् को आरम्भ हुए २०४० वर्ष हो जायेंगे अर्थात् यह संवत् (२०४०—१९८३) ईस्वी सन् से ५७ वर्ष पूर्व आरम्भ हुआ माना जाता है। इस कालगणना का आरम्भ पश्चिम भारत में उज्जयिनी में मालव जाति अपने पराक्रमी नेता विक्रम के नेतृत्व में वहां पर कब्जा कर रहे विदेशी शकों को परास्त कर उन्हें वहां से निकाल देने की घटना की स्मृति में हुआ बताया जाता है। यह उनकी विदेशी आक्रान्ताओं पर विजय का स्मृति चिह्न है। जैन परम्परा के अनुसार यह घटना महावीर निर्वाण संवत् ४७० में घटित हुई थी।

उपलब्ध प्राचीन उत्कीर्ण लेखों, शिलालेखों, अभिलेखों आदि का अध्ययन करने से विदित होता है कि इस नई कालगणना के वर्ष २८२ से ४८१ तक के जो अभिलेख अभी तक मिले हैं, उनमें इसका नाम 'कृत संवत्' दिया है। वर्ष ४६१ के लेखों और वर्ष ४८१ के एक लेख में इस संवत् के लिए 'मालवगण' और 'कृत' शब्दों का

एक साथ प्रयोग किया गया है। वर्ष ४८१ से वर्ष ६३६ के बीच के लेखों में निम्न लिखित कुछ अपवादों को छोड़कर इसे 'मालव' या 'मालवगण' संवत् नाम दिया गया है। वर्ष ७७० के दो लेखों में इसे न तो 'कृत' नाम दिया गया और न 'मालव' अपितु मात्र 'संवत्सर' कहा गया है जो वर्ष, संवत् या सन् का पर्यायवाची है। वर्ष ७९४ का एक शिलालेख पहला उपलब्ध अभिलेख है जिसमें इसे 'विक्रम संवत्सर' नाम से अभिहित किया गया है। वर्ष ८९८ के एक लेख में इसे 'विक्रमाख्य काल' काल कहा गया। वर्ष १०२८ और उसके बाद आज तक इस संवत् में जो विभिन्न अभिलेख आदि हैं उनमें इसका उल्लेख 'विक्रम संवत्' में रूप में मिलता है।

साहित्य में यद्यपि इस संवत् का प्रयोग कुछ देर से आरम्भ हुआ इसे 'विक्रम संवत्' का ही नाम दिया गया। सातवीं-आठवीं शती ईस्वी के जैन ग्रन्थों—दिगम्बर नन्दि सघ और श्वेताम्बर तपागच्छ की पट्टावलिओं में और आचार्य हरिभद्र की 'आवश्यकवृत्ति' में तीर्थंकर महावीर की तिथि निर्धारण हेतु अपनी परम्पराओं का विवेचन करते हुए विक्रम संवत् की चर्चा की गई थी। कदाचित् आठवीं शती ईस्वी के उत्तरार्द्ध में हुए आचार्य वीरसेन सर्वप्रथम विद्वान् लेखक थे जिन्होंने विक्रम संवत् में तिथि अंकित की थी। दसवीं-ग्यारहवीं शती ईस्वी में हुए अनेक जैन विद्वानों द्वारा अपने ग्रन्थों में विक्रम संवत् में तिथि अंकन को अपनाया गया और तदनन्तर इस संवत् का साहित्य में व्यवहार करने की परिपाटी चल पड़ी।

उत्कीर्ण लेखों, शिलालेखों और अभिलेखों आदि में इस संवत् के कृत, मालव और विक्रम जो तीन नाम क्रमशः मिलते हैं वे इस संवत् के नामकरण की क्रमिक कहानी बताते हैं। जब यह कालगणना आरम्भ की गई उस समय उससे पूर्व के जो संवत् अधिक प्रचलन प्राप्त थे; जैसे—महावीर निर्वाण संवत् और शकों द्वारा उज्जयिनी पर अपनी विजय की स्मृति में लागू किया गया शक संवत्, जो उपयुक्त मालवगण की विजय की घटना से मात्र ९ वर्ष पूर्व महावीर निर्वाण संवत् ४६१ में आरम्भ हुआ था, के

(शेष पृष्ठ ९ पर)

पर्यूषण-कल्प

□ विद्यावारिध ३० ज्योतिप्रसाद जैन

उत्तम क्षमादि दशविध आत्मधर्मों की आराधना का पावन पर्व 'दशलाक्षणिक' वर्ष में तीन बार, भाद्रपद, माघ तथा चैत्र मासों के शुक्ल पक्ष की पंचमी से चतुर्दशी पर्यन्त चलता है। इनमें भी भाद्रपद की दशलाक्षणी अनेक कारणों से सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं लोकप्रिय है। उमें दिगम्बर समाज में भी सामान्यतया 'पर्यूषण पर्व' कहा जाने लगा है, यद्यपि प्राचीन साहित्य अथवा शिलालेखों में भाद्रपद की इस दशलाक्षणी के लिए 'पर्यूषण पर्व' शब्द प्रयुक्त हुआ प्राप्त नहीं होता। हाँ, श्वेताम्बर परम्परा में भाद्रपद शुक्ल चतुर्थी या पंचमी को पूरे होने वाले आठ दिवसीय पर्व के लिए पर्यूषण शब्द प्रायः रूढ हो गया है। परन्तु मूलतः पर्यूषण का अभिप्राय कुछ विशेष रहा प्रतीत होता है।

शिवायंक्त भगवती आराधना की विजयोदया एवं मूलाराधना नाम्नी टीकाओं के अनुसार वर्षाकाल के चार मासों में अन्यत्र गमनागमन न करके एक ही स्थान में निवास करना जैन मुनियों का 'पर्यूषण' नामक दसवा 'स्थितिकल्प' है—'पञ्जोममणकणो अथवा 'पञ्जोसवणा-कण्पो' नाम 'दशमः स्थितिकल्पः'। इस ऋतु में पानी, कीचड़, घास-पात कटकादि तथा त्रस जीव-जन्तुओं की यत्र तत्र बहुलता हो जाने से हिंसा एवं आशातना की आशंका और सभावना निरन्तर बनी रहती है। इसी कारण मुनि, आर्यिका, ऐलक, क्षुल्लक आदि गृहत्यागी सत्त गमनागमन का परित्याग करके एक ही स्थान में वर्षायोग या चतुर्मासिक योग धारण करके निवास करते हैं। यह वर्षावास आषाढ़ शुक्ल १५ से कार्तिक शुक्ल १५ पर्यन्त १२० दिन का होता है। यही पर्यूषणकल्प है और इसी के कारण वह पूरा चातुर्मासिक वर्षाकाल 'पर्यूषण' कहलाता है। श्वेताम्बर पराम्परा में मान्य दशाश्रुतस्कंध नामक छेदसूत्र के अध्ययन का नाम भी 'पाञ्जोसणाकल्प' (पर्यूषणकल्प) है।

इस सूत्र की निर्युक्ति के अनुसार पर्यूषण, परिवसना पर्यूप-शमना, वर्षावास, प्रथम समवसरण, ज्येष्ठग्रह सब शब्द पर्यायवाची हैं। अतएव वहाँ भी पर्यूषण से मूलतः वर्षा-वास का ही आशय है।

यतः भगवान् महावीर का प्रथम समवसरण तथा केवलज्ञान सम्प्राप्ति के उपरान्त प्रथम वर्षावास राजगृही में व्यतीत हुआ, इस कारण पर्यूषण का अर्थ 'प्रथम समवसरण भी किया जाने लगा। संभव है कि उक्त प्रथम समवसरण की पावन स्मृति के संरक्षणार्थ ही पर्यूषण पर्व मनाने की प्रथा ने जन्म लिया हो। इसके अतिरिक्त, जैन परम्परा में साधु-साध्वियों के लिए नित्य, पाक्षिक, मासिक तथा वार्षिक प्रतिक्रमण करने आवश्यक होते हैं। दिगम्बर मुनि आदि इस चातुर्मास के मध्य ही अपना वार्षिक या सावत्सरिक प्रतिक्रमण करते हैं। श्वेताम्बर साधुओं के लिए इस प्रतिक्रमण की तिथि प्रारम्भ में भाद्रपद शुक्ल पंचमी निश्चिन की गई थी जिसे कालान्तर में एक आचार्य ने चतुर्थी कर दिया। प्रारम्भ में यह सावत्सरिक प्रतिक्रमण (सवत्सरी) साधुजन ही करते थे, शनैः शनैः उसमें श्रावक समाज भी सम्मिलित होने लगा। इस अवसर पर सवत्सरी के आठ दिन पूर्व से नित्य पर्यूषण कल्प अपरनाम कल्पसूत्र में निबद्ध महावीरचरित का पाठ करने की प्रथा भी देवद्विगणी क्षमाश्रमण (५वीं शती ई०) के समय से चल पड़ी।

एक बात और है, अनादि कालगणना में वर्ष का आरम्भ श्रावण कृष्ण प्रतिपदा से होता है। तीसरे काल (सुखमा-दुखमा) के अन्त होने में जब पत्य का आठवा भाग शेष रह गया था तो ज्योतिराग जाति के कल्पवृक्षों की आभा क्षीण हो गई, और आकाश में सूर्यास्त एवं चन्द्रोदय एक साथ दृष्टिगोचर हुए। कुलकर प्रतिश्रुति ने तत्कालीन भोगभूमियाँ जनो का समाधान किया तथा अगले

दिन श्रावण कृष्ण प्रतिपदा से दिन, पक्ष, मास, वर्ष, युग आदि व्यवहारकाल की गणना प्रारम्भ (स्थापित) की। इसी गणना के अनुसार अवसर्पिणी के छठे (दुखमा-सुखमा) काल के अंत में ४६ दिन पर्यन्त (ज्येष्ठ कृ० ११ से आषाढ़ शु० १५ तक) भयकर प्रलय होती है। सर्वतक नामक प्रलय पवन चलती है, सात-सात दिन सात प्रकार भीषण कुवृष्टियाँ होती हैं। परिणाम स्वरूप भयकर विध्वंस होता है, अधिकांश मनुष्य व जीवजन्तु नष्ट हो जाते हैं। उस कुसमय में देवादिक की कृपा से कुछ एक प्राणी विजयाद्वंद्व पर्वत की गुफाओं में आश्रय पाते हैं। श्रावण कृ० १ से सात सप्ताह तक सात प्रकार की सुवृष्टियाँ होती हैं, जिससे प्रलयकाल की प्रचण्डता कुछ शान्त होती है और पृथ्वी फिर से रहने के योग्य होती है। ये ४६ दिन

भाद्र कृ० ४ को पूरे होते हैं। अतएव पहली बार भाद्र शु० ५ के दिन वे लोग विजयाद्वंद्व की गुफाओं में से बाहर निकलते हैं और परस्पर मिलते हैं। उस समय उनकी कषाय अति मन्द होती हैं। इसी उपलक्ष्य में उस दिन से चतुर्दशी पर्यन्त उत्तम क्षमादि दशलक्षण धर्मों का विशेष-रूप से चिन्तन, मनन व आराधना करने के लिए उस पुनीत पर्व की प्रवृत्ति चली आ रही है। पर्यूषण शब्द के पर्यूषण, पर्युवास, पर्युपामना, पर्युपशमन आदि जो विभिन्न रूपा प्राप्त होते हैं, उन सबके वाच्यार्थों से भी यही स्पष्ट होता है कि भाद्रपद का यह दशलक्षण अपर नाम पर्यूषण पर्व आत्ममाधना, आत्मालोचन, आत्मनिरीक्षण, आत्मानुशासन, आत्मजागृति एवं आत्मोपलब्धि का महान पर्व है।



(पृष्ठ ७ का शेष)

कार्तिक मास के शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से आरम्भ होते थे। अतः यह नई कालगणना भी कार्तिक शुक्ल एकम् से आरम्भ की गई और इस नये सवत् को 'कृत' अर्थात् कार्तिकादि संवत् नाम दिया गया। बाद में लगभग ५वीं शताब्दि ईस्वी के प्रारम्भ में जब चैत्र मास से प्रारम्भ होने वाले कुछ परवर्ती सवत्, यथा—शक सवत् जो इस सवत् के १३५ वर्ष पश्चात् महावीर निर्वाण सवत् ६०५ अर्थात् ईस्वी सन् ७८ में आरम्भ हुआ था, कल्चुरि या चेदि सवत्, गुप्त या वल्लभी सवत् अधिक प्रचलन प्राप्त हुए तो उसकी देखादेखी उत्तर भारत में विक्रम सवत् के मानने वालों ने उसे भी चैत्र शुक्ल प्रतिपदा से आरम्भ मानना शुरू कर दिया यद्यपि दक्षिण भारत में उसे अब भी कार्तिकादि सवत् मानते हैं। इस परिवर्तन के फल-स्वरूप इस सवत् का नाम 'कृत सवत्' निरर्थक हो गया। उस समय मालव जाति का स्वतन्त्र अस्तित्व बना हुआ था। अतः मालवगण की प्राचीन कीर्ति को उजागर करने के उद्देश्य से इसे 'मालव' या 'मालवगण' सवत् नाम दिया गया। आठवीं शती ईस्वी आरम्भ होने तक मालव जाति

का स्वतन्त्र अस्तित्व लोप हो चुका था और गणों का स्थान राजा ले चुके थे। इस परिवर्तन स्थिति में इस सवत् का प्रवर्तन करने वाले नायक, जो तत्कालीन विचार-धारा के अनुसार कोई महान नरेश ही हो सकता था, की खोज अनुश्रुतियों में की गई। सयोगसे अनुश्रुतियों में मालवगण के उम नायक का नाम विक्रम मिला अतः ८वीं से १०वीं शती ईस्वी के मध्य के लेखों में 'मालवगण' नाम क्रमशः 'मालववशकीर्ति', 'मालवे', 'विक्रम' और 'राजा विक्रमादित्य' नामों में परिवर्तित होता चला गया। उत्तर और दक्षिण भारत के अनेक पराक्रमी महान राजाओं ने अपने नाम के आगे 'विक्रमादित्य' विरुद्ध लगाकर विक्रमादित्य नाम को पहले ही काफी विख्यात कर दिया था। अतः अनुश्रुतियों में इस सवत् के प्रवर्तक का नाम विक्रम पाते ही इस सवत् को 'विक्रम सवत्' के नाम से प्रख्यात कर दिया गया और आज तक इसी नाम से जाना जाता है। विक्रम-संवत् के विषय में विस्तृत विवेचन इतिहास मनीषी डा० ज्योति प्रसाद जैन की पुस्तक 'दी जैना सोर्सेज आफ दि हिस्ट्री आफ एन्शाएण्ट इण्डिया' में द्रष्टव्य है।



डिग्गी (राजस्थान) के दि० जैन मन्दिर में उपलब्ध हिन्दी का प्रथम पद्मपुराण

□ डा० कस्तूर चन्द कासलीवाल

डिग्गी (राजस्थान) के दिगम्बर जैन मन्दिर के शास्त्र भण्डार को मुझे अभी १६, १७, १८ जून, ८३ को देखने एवं उनकी सूची बनाने का सुअवसर प्राप्त हुआ। यह देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि वहाँ मन्दिर में प्राचीन हस्त-लिखित ग्रन्थों का अच्छा संग्रह है। शास्त्र भण्डार को देखते समय अपभ्रंश एवं हिन्दी की कितनी ही अज्ञात एवं अर्चित कृतियाँ प्राप्त हुईं जिनमें प० महाराज का बुद्धि रसायन, धनपाल के हिन्दी पद एवं गीत, भट्टारक महेंद्रकीर्ति के हिन्दी पद, ऋषि दीपायन का महावीर गीत, प० खुशालचन्द काला की स्वयं के द्वारा लिपिबद्ध पाण्डुलिपि, नाटक समयसार की सवत् १६६८ की पाण्डुलिपि, मुनि समाचन्द का पद्मपुराण जैसी बीसों कृतियों के नाम उल्लेखनीय हैं जिन पर विभिन्न लेखों द्वारा प्रकाश डाला जायेगा। डिग्गी के शास्त्र भण्डार में कभी ३००-४०० ग्रन्थों का अच्छा संग्रह था। लेकिन हमारी ग्रन्थों की सुरक्षा के प्रति उदामीनता के कारण १००-१५० ग्रन्थ अपूर्ण एवं खराब हो गये। फिर भी शास्त्र भण्डार में डिग्गी जैसे कस्बे को देखते हुये शास्त्रों का अच्छा संग्रह है। जिनमें कितनी ही प्राचीन एवं महत्त्वपूर्ण पाण्डुलिपियाँ भी हैं।

राम और सीता के जीवन पर जैनाचार्यों एवं जैन विद्वानों ने अनेक कृतियाँ लिखी हैं। पुराण, चरित कथा एवं काव्य की अन्य विधाओं के नाम से लिखे गये राम-कथा पर आधारित अनेक ग्रन्थ जैन शास्त्र भण्डारों में मिलते हैं। ऐसे ग्रन्थों का विस्तृत विवरण राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारों की ग्रन्थ सूचियों के पांच भागों में देखा जा सकता है। वैसे राम-कथा के प्रमुख ग्रन्थों में प्राकृत भाषा में निबद्ध बिमलसूरि का पउमचरिय, अपभ्रंश के महाकवि स्वयंभू का पउमचरित, संस्कृत भाषा में निबद्ध

आचार्य रविषेण का पद्मपुराण एवं राजस्थानी भाषा के महाकवि ब्रह्म जिनदास का रामरास के नाम उल्लेखनीय हैं जिनमें रामचरित के (एक भाग को छोड़कर) अतिरिक्त सभी ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं।

डिग्गी के शास्त्र भण्डार से प्राप्त मुनि सभाचन्द का पद्मपुराण एक अज्ञात एवं अर्चित कृति है। महाकवि तुलसीदास की मृत्यु के केवल ३१ वर्ष पश्चात् निबद्ध यह कृति सचमुच रामकथा सम्बन्धी जैन कृतियों में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। डिग्गी से लौटने के तत्काल पश्चात् मैंने डा० कामताप्रसाद जैन, डा० नेमीचन्द शास्त्री, डा० प्रेमसागर जैन एवं प० परमानन्द जी शास्त्री द्वारा लिखित हिन्दी जैन साहित्य के इतिहास पर आधारित पुस्तकें देखीं लेकिन किसी भी विद्वान द्वारा मुनि समाचन्द के हिन्दी (पद्य) में निबद्ध 'पद्मपुराण' का उल्लेख नहीं किया। ऐसे विशालकाय ग्रन्थ की अन्य पाण्डुलिपि नहीं मिलना भी अश्चर्यजनक है।

जैन समाज में पद्मपुराण के स्वाध्याय की ओर अत्यधिक रुचि देखी जाती है। गत २०० वर्षों से पण्डित दौलतराम कासलीवाल के पद्मपुराण भाषा का सबसे अधिक स्वाध्याय हुआ है। प० दौलतराम जी के पूर्व प० खुशालचन्द काला ने भी सवत् १७८४ में हिन्दी पद्य में पद्मपुराण लिखा था, जिसकी कितनी ही पाण्डुलिपियाँ राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारों में मिलती हैं, लेकिन फिर भी वह समाज में लोकप्रिय नहीं बन सका। समाचन्द द्वारा रचित हिन्दी पद्मपुराण एक विशालकाय ग्रन्थ है। जिसकी रचना १७११ में फागुन शुक्ला पचमी गुरुवार को समाप्त हुई थी।^१

ग्रन्थकार का परिचय

पद्मपुराण के रचयिता सभाचन्द मुनि थे जिनका

दूसरा नाम सुभचन्द सेन भी दिया गया है। कवि ने अपने प्रथम नाम का उल्लेख मंगलाचरण की समाप्ति के बाद ही किया है,^१ तथा पुराण समाप्ति पर लिखी गई प्रशस्ति में उन्होंने सुभचन्द सेन के नाम का प्रयोग किया है, जो उनके सेनगणीय भट्टारक परम्परा का मुनि होने की ओर संकेत करता है। इसके पश्चात् ग्रंथ समाप्ति पर जो पुष्पिका दी गई है उसमें सभाचन्द नाम दिया गया है।

इति श्री पद्मपुराण सभाचन्द कृत 'सपूरन' कवि सभाचन्द मुनि थे तथा उनका सम्बन्ध काष्ठासघ के सेन गण से था। दिल्ली मण्डल उनका केन्द्र था। इसलिए मुनि सभाचन्द भी देहली में ही रहते थे, और उन्होंने पद्मपुराण की रचना भी देहली में रहते हुए की थी। जिसका उल्लेख कवि ने निम्न प्रकार किया है।
दिल्ली मण्डल का मुनि राई, जिकके पर भया बहु ठाई।
धरम उपदेश घणा कुभया, पूजा प्रतिष्ठा जामै नया।४१।
पंडित पदधारी मुनि भए, ग्यानवत करुणा उर थए।
मलयकीर्ति मुनिवर गुणवत, तिनके हिये ध्यान भगवत।४२।
गुणकीर्ति अर गुणभद्रसेन, गुणवाद प्रकासै जैन।
भान कीरति महिमा अति घणी, विद्यावत तपसी मुनी।४३।
कुमारसेन भट्टारक जती, किया श्रेष्ठ उज्ज्वल मती।
उनके पट सुभचन्द्र सेन, धरम बरवाण सुनावै जैन।४४।
उक्त उद्धरण से उनके भट्टारक के पद पर अभिषिक्त होने का भी संकेत मिलता है।

ग्रंथ परिचय :

मुनि सभाचन्द ने आचार्य रविषेण के संस्कृत पद्मपुराण की हिन्दी पद्य में काव्य के रूप में रचना की थी। कवि ने इसका उल्लेख पुराण के प्रारम्भ और अन्त दोनों में किया है।

आचार्य रविषेण महंत सैहसकृत में कीनी ग्रन्थ।
महामुनिवर ज्ञानी गुनी, मति श्रुति अवधि ग्यानी मुनी।
महा निग्रंथ तपस्वी जती, क्रोध मान माया नही रली।३१
पृष्ठ। कवि ने रविषेण के सम्बन्ध में लिखा है कि वीर निर्वाण में १२०० वर्ष और ६ महीने व्यतीत होने पर आचार्य रविषेण ने पद्मपुराण की रचना समाप्त की थी^२। यह समय स्वयं रविषेण द्वारा लिखे हुए समय से तीन वर्ष से कम है। क्योंकि रविषेण ने पद्मपुराण का

रचनाकाल वीर निर्वाण के १२०३ वर्ष एवं ६ माह बाद का लिखा है।^३

कवि के समय तुलसीदास जी की रामायण जन-जन में लोकप्रियता प्राप्त कर रही थी। सामान्य जनता में राम के जीवन को पढ़ने, पढ़ाने की अभिरुचि बढ़ रही थी। इसी दृष्टि को ध्यान में रखकर कवि ने हिन्दी पद्य में और वह भी केवल चौपाई एवं सोरठा छन्दों में पद्मपुराण की रचना कर जैन समाज में राम कथा के प्रति रुचि जाग्रत की। ग्रन्थ के प्रारम्भ में कवि ने भगवान राम के प्रति निम्न शब्दों में अपनी श्रद्धा प्रकट की है—

राम नाम गुन अगम अथाह, ते गुन किस पै बरने जाइ।
जो मुख राम नीमरै, तो सकट बहुरि न परै।२३।
जा घर राम नाम का वास ताके पापन आवे पासि।
जिन श्रवणे राम जम सुने देव लोक सुख पावे घने।२४।
सकट विपति पड़े जे आय, राम नाम तिहा होइ सहाय।
जल थल वन विहडे ले नाम, मन वाछित सहु सीझे काम।२५।

प्रस्तुत पद्मपुराण ११६ विधानकों में पूरा होता है जबकि आचार्य रविषेण के पद्मपुराण में १२३ पर्व हैं। कवि ने पर्व का नाम न देकर उसका नाम विधानक लिखा है। पद्मपुराण की पाण्डुलिपि में ११८ पत्र है जो १३×६ इंच आकार वाले हैं। एक पत्र में दोनों ओर करीब ५० चौपाई छन्द लिखे हुए हैं इस प्रकार यह पूरा पुराण ६ हजार चौपाई एवं सोरठा छन्दों में विभक्त किया हुआ है। प्रस्तुत पाण्डुलिपि मवन् १८५६ आषाढ शुद्ध १४ सोमवार की है। लिपि कराने वाली श्री गगाराम की पत्नी ने मांडलगढ़ में अष्टान्हिका व्रत के उपलक्ष में पंडितोत्तम पंडित मोतीराम जी के पास प्रतिलिपि करवाई थी। लिपि सुन्दर एवं स्पष्ट है। कागज सागानेरी है। ग्रंथ प्रशस्ति के पश्चात् मूल सघ सरस्वती गच्छ के मुनि रत्नकीर्ति एवं उसके शिष्य रामचन्द्र मुनि का भी वर्णन किया गया है जो निम्न प्रकार :—

श्री मूलसघ सरस्वती गच्छ, रत्नकीरत मुनि धरम का पच्छ,
तारण तरण ज्ञान गभीर, जाणे महु प्राणी की पीर।
तप संयम तै आनम ज्ञान, धरम जिनेश्वर कहे बखान,
छुटै मिथ्या उपजै ज्ञान, जै निगचै धरि मन में आन॥

काष्ठसंघ एवं लोहाचार्य का उल्लेख

कवि ने ग्रन्थ के अन्त में काष्ठसंघ के संस्थापक लोहा-चार्य का नामोल्लेख एवं उनका गुणानुवाद करने हुए अग्रोहा जाने का वर्णन किया है तथा अग्रवाल श्रावको को प्रतिबोधित करने की चर्चा की है उन्हें जैनधर्म के प्रति निष्ठावान, दृढ़ श्रद्धानी बनाने की बात भी लिखी है। यही नहीं अग्रवाल श्रावको द्वारा व्रत उपवास, पूजा दान आदि देने, मन्दिरों का निर्माण करवाने, बाग़ह व्रतों का पालन करने आदि का भी उल्लेख किया है। इसमें यह भी प्रतीत होता है कि मुनि सभाचन्द अग्रवाल जैन थे। वर्णन ऐतिहासिक है जो निम्न प्रकार है :—

काष्ठमघी माथुर गच्छ, पङ्कुर गण मे निर्मल पङ्क ।

महानिरगथ आचारिज लोह छांड्या सकल जानि का मोह ।
तेरह विध चारित्र का धणी, काम क्रोध नहीं माया मणी ।
महातपस्वी आत्म ध्यान, दयावत निर्मल ध्यान ।३१।
जिहा है उत्तम धर्मा आदि, छोड़े पाच इन्द्री का स्वाद ।

रूप निरंजन त्याया चित्त, अठाईम मूलगुन नित ।३२।
चौरासी क्रिया सजुक्ति, जे क्षाईक समकित सो रक्ति ।

कहै ज्ञान के मूकम भेद-वाणी मुणत मिथ्यात का वेद ।३४।
अगोहे निकट प्रभु ढाड़े जोग, करै वन्दना सब ही लोग ।

अग्रवाल श्रावक प्रतिबोध, त्रेपन क्रिया बताई सोध ।३५।
पच अणुव्रत सिख्याधारि, गुनव्रत तीन कहै उपधारि ।

बारहै व्रन बारहै तप कहे, भवि जीव मुणि चित मे गहे ।३६।
मिथ्या धरम कीयो तहां दूरि, जैन धरम प्रकास्या गुरि ।

विध तै दान देई सब कोई, मास्त्र भेद मुनि समकित होई ।
दस लख्य चताया धरम, तीन रत्न का जान्या मरम ।

व्रत विधान समझाई रीत, पूजा रचना करै नचित्त ।३८।
श्री जिनके कीए देहुरे, चउईम बिब रचना सुख रे ।

चउविध दान दे वित्त समान, चउधडीया अणथमी प्रमान ।

भाषा :—भाषा की दृष्टि से पद्मपुराण में ब्रजभाषा एवं राजस्थानी दोनों का पुट है। कवि सभाचन्द का दिल्ली प्रदेश से अधिक सम्बन्ध था। तथा वहां सभी तरह भाषाएँ बोलने वाले श्रावक गण आते रहते थे इसलिए पद्मपुराण की रचना सामान्य बोलचाल की भाषा में की गई। भाषा का एक उदाहरण देखिए—

धेवर बरफी लडुवा सेत, बहु पकवान परोस्या तेह ।

षटरस भोजन कीने घने, हरे व पेरे उत्तम बने ।४२।

जीमें भोजन सब परिवार, वीरा दीना पान संवार ।

सिंहासन पर बैठे आय, नगर कितोहल देखे राय ।४३।

उक्त पद्यों में धेवर, बरफी, परोस्या, जैसे शब्द राजस्थानी हैं तो पेरे (पेड़े) वीरा (वीड़ा) कितोहल जैसे शब्द ब्रजभाषा के हैं।

अन्य विशेषताएँ :—कवि ने सभी घटनाओं का अच्छा वर्णन किया है। फिर चाहे वह नगर का वर्णन हो अथवा किसीके स्वभाव अथवा तत्त्व एवं दर्शन का हो। पुण्य अर्जन करते रहने की कवि ने निम्न प्रकार प्रशंसा की है—

पुण्यमुं पावै सुग की रिधि, पुण्यैभव होवै विद्या सिध ॥

पुण्ये भोग भूमि सुख करै, पुण्य राज पृथ्वी कुं वरै ।

पुण्य दुख दालिद्र सब हरै, पुण्ये भवसागर जल तिरै ॥

पुण्ये पुत्र कलित्र परिवार, पुण्ये लक्ष्मी होय अपार ।

पुण्य विधा लहै विमान, पुण्ये पावै उत्तम थान ॥

पुण्ये दूरि जिन लागै पाय, पुण्य थी सदा सुखदाय ।

जल थल वन विहंड सहाय, तापै पुण्य करो मन लाय ॥

सुणो पुण्य कीजे सब कोय, मन वाछित फल पावै सोय ।

सुरगति नर नारकी तिरयंच, पुण्य बिना सुख लहै न रच ॥

कुछ बिधानकों (सर्गों) को छोड़कर शेष बिधानक छोटे-छोटे हैं। कवि ने पुराण का मुख्य वर्णन (रामचरित) प्रारम्भ करने से पूर्व ऋषभदेव से महावीर तक का संक्षिप्त वर्णन किया है।

प्रकाशन की आवश्यकता

इस प्रकार पद्मपुराण एक महत्वपूर्ण कृति है। राम-कथा पर लिखी जाने वाली यह प्रथम हिन्दी जैन रचना है। जिसमें छ हजार से ऊपर चौपाई एवं सोरठा छन्दों का प्रयोग हुआ है। भाषा सीधी-सादी एवं लालित्य गुण युक्त है। सभी वर्णन सामान्यतः अच्छे हैं। यद्यपि प्रस्तुत कृति रविषेणाचार्य की पद्मपुराण की अनुकृति है फिर भी वह मौलिकता लिये हुई है। इस पुराण के प्रकाशन से जैन कवियों द्वारा हिन्दी विकास में उनके योगदान पर अच्छा प्रकाश डाला जा सकता है। प्रस्तुत पद्मपुराण की अभी तक एक मात्र पाण्डुलिपि की खोज की जा सकी है। इसलिए यह पाण्डुलिपि भी अलभ्य पाण्डुलिपि है इस ग्रंथ का विस्तृत अध्ययन मूलपाठ के साथ महावीर ग्रंथ अकादमी के आगामी प्रकाश में किया जावेगा। (शेष पृ० १३ पर)

बिहार मे जैन धर्म : अतीत एवं वर्तमान

□ प्री० डा० राजाराम जैन, धारा

**पृष्ठभूमि : प्राचीन जैन पुराणेतिहास में
“बिहार” शब्द का अर्थ—**

प्राचीन जैन इतिहास में ‘बिहार’ शब्द का अर्थ उस पवित्र भूमि से है, जहाँ जैन-साधु एवं साध्वियों का निरंतर विचरण होता रहा हो, उनके लगातार चातुर्मासों (वर्षा-बासों) से जो भूमि पवित्र हो तथा जो तीर्थंकरों एवं अन्य जैन-साधकों की जन्म, तप, समवशरण (उपदेश-भूमि) एवं निर्वाण की स्थली रही हो^१। इस दृष्टि से वर्तमान बिहार प्रान्त उसका साक्षात् प्रमाण है। क्योंकि ईसा पूर्व की षवी सदी के पूर्व के ऐतिहासिक अनेक उल्लेख मिलते हैं। उदाहरणार्थ अंग-जनपद (वर्तमान भागलपुर-प्रक्षेत्र) की चम्पा-पुरी (मे स्थित मन्दार गिरि), बारहवे तीर्थंकर वासुपूज्य की निर्वाणभूमि रही^२। तो मगध-जनपद की राजगृही^३ पावापुरी^४, नालन्दा^५, गुणावा^६ एवं कुण्डलपुर^७, कोटिगिला^८ पर्वत, प्रचार^९ एवं धावक^{१०} पर्वत गाथा बराबर की पहाड़ियाँ^{११}, अनेक तीर्थंकरों एवं साधकों की जन्म, तप, समवशरण, वर्षावास एवं निर्वाण की पुण्यभूमि रही। वज्जि-विदेह^{१२} (वर्तमान तिरहुत-प्रक्षेत्र) जनपद, तीर्थंकर नमिनाथ, मल्लिनाथ एवं वर्द्धमान की जन्म, तप, वर्षावास एवं समवशरण की पवित्र भूमि है, तो भगि-जनपद^१

(पृ० १२ का शेषांश)

सन्दर्भ-सूची

१. संवत् सत्रह से ग्यारह बरस, सुन्या भेद जिन वाणी परम, फाल्गुन मास पचमी श्वेत, गुरुवासर मन मे घरी हंत।
२. सभाचन्द्र मुनि भया आनन्द भाषा करी चौपाई छन्द, सुनि पुरान कीना मंडान, गुरुजन लोक सुनदे कान।
३. सहैथ एक अर दोइसे बरस, छह महीने बीते कुछ तरस, महावीर निर्वाण कल्याण इह अतर है रच्यो पुराण।
४. द्विशताभ्यधिके समासहस्रे समनीते अर्धचतुर्थ वर्ष युक्ते, जिनभास्कर वर्द्धमानसिद्धेश्वरिन पद्य मुनेरिद निबद्धम्।

(वर्तमान हजारीबाग प्रक्षेत्र) के सम्मेल-शिखर (पार्श्वनाथ पर्वत), भद्रिकापुरी (वर्तमान भदिया आदि २२ तीर्थंकरों एवं अन्य कोटि-कोटि जैन साधकों की घोर तपस्या एवं निर्वाण भूमि रही।

वर्तमान बिहार प्रान्त का उदय

कालान्तर में उक्त सभी जनपद कुछ हेर-फेर के बाद मिलकर वर्तमान ‘बिहार’ के नाम से प्रसिद्ध हुए तथा प्राचीनकाल में जो ‘बिहार-क्षेत्र’ आध्यात्मिक साधना की पुण्यभूमि के रूप में प्रसिद्ध था, वही आगे चलकर एक राजनैतिक तथा भौगोलिक सीमा-क्षेत्र के प्रतीक—‘बिहार-प्रान्त’ के रूप में विख्यात हुआ।

कुछ भौगोलिक एवं भाषा-वैज्ञानिक प्रमाण—

जिस प्रकार ‘बिहार’ शब्द जैन-संस्कृति-गर्भित एक सार्थक नाम है, उसी प्रकार वर्तमान बिहार-प्रान्त के अनेक नगरों, ग्रामों नदियों एवं पर्वतों के नाम भी जैन-संस्कृति-गर्भित सार्थक नाम हैं और यदि अधिक प्राचीन नहीं, तो भी वे नन्द एवं मौर्य कालीन जैन-केन्द्र रहे होंगे, इसमें सन्देह नहीं। ऐसे नामों में वर्तमान चौसा (भोजपुर) चाइवासा, संथाल, मगध, विदेह, वज्जि, नालन्दा, गया, कर्मनासा, धावक-पहाड़ आदि प्रमुख हैं। ये सभी शब्द-नाम मूलतः जैन-संस्कृति के सूचक हैं। इनका भाषा-वैज्ञानिक एवं जैन-दार्शनिक तथा आध्यात्मिक अर्थ निम्न प्रकार समझा जा सकता है :—

चौसा^१ चउसा चउम्मासासा चतुर्मासः=वह स्थल, जहाँ का वातावरण शान्त, धर्मातुल्य एवं आध्यात्मिक साधना के लिए उपयुक्त हो और जैन-साधु एवं साधवियों निर्विघ्न रूप से वर्षा ऋतु में चतुर्मास (वर्षावास) कर सकें। यहाँ की खुदाई में धातुओं की अनेक प्राचीन मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं।

चाइवासा" < त्यागी वासः (उदासीनाश्रम) = वह स्थल जहाँ गृहविरत त्यागी, ब्रती, संयमीगण रहकर संयम पालन एवं स्वाध्याय कर आत्म-कल्याण कर सकें।

संथाल < संथार < संस्तार = वह स्थल, जहाँ जैन साधु या सयमी व्यक्ति तथा साध्वियाँ सल्लेखना-पूर्वक देह त्याग कर सकें।

मगध < मा + गृद्धि = वह आध्यात्मिक क्षेत्र, जहाँ मूर्छा-रहित होकर सयमशील जीवन व्यतीत किया जा सके।

विदेह—वि+देह = देह के प्रति ममता भाव त्याग कर साधनापूर्ण जीवन व्यतीत करने योग्य क्षेत्र।

वज्जि < वज्जितो < वज्जित = वह क्षेत्र जहाँ भौतिक-लिप्सा के त्याग की भावना उदित हो और आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करते रहने की शिक्षा प्रदान की जाय।

गया" < गता = वह स्थल, जहाँ से निर्वाण की प्राप्ति हो।

कर्मनासा" < कर्मनाशा = वह प्रक्षेत्र जहाँ साधना करके ज्ञानावरणादि अष्ट दुःखद-कर्मों को नष्ट कर निर्वाण पद प्राप्त किया जा सके।

चूँकि प्राच्य कालीन बिहार की जन-भाषा अथवा राष्ट्र-भाषा प्राकृत थी अतः वहाँ के तत्कालीन नगरों आदि के नामों की प्रायः प्राकृत-भाषात्मक थे। इनके उदाहरण ऊपर दिए ही जा चुके हैं। प्राकृत-भाषा के जन भाषा एवं राष्ट्र भाषा होने के कारण ही उसमें लोकनायक सर्वोदयी नेताओं—महावीर एवं बुद्ध ने अपने उपदेश दिए थे एवं मगध के सम्राट प्रियदर्शी अशोक ने अपनी धर्माज्ञाएँ समस्त भारत तथा सीमावर्ती प्रदेशों में सर्वगम्य होने कारण प्राकृत-भाषा में ही जारी की थी। भाषा-वैज्ञानिकों के अनुसार वर्तमान भोजपुरी, मैथिली, मगही, सयाली तथा बगला, उड़िया, असमिया, ब्रज, अवधी, मराठी, राजस्थानी, गुजराती, पंजाबी एवं काश्मीरी आदि आधुनिक बोलियों अथवा भाषाओं का विकास विविध प्रादेशिक-प्राकृतों से ही हुआ है।

वंशानुक्रम-परम्परा, मूर्तिकला एवं

पुरातत्त्व की दृष्टि से—

यदि जैन पुराणों में वर्णित ई० पू० की सहस्राब्दियों

की घटनाओं को ऐतिहासिक न भी मानें तो भी २३वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ [ई० पू० ७७० वर्ष अर्थात् तीर्थंकर महावीर के परिनिर्वाण (ई० पू० ५२७) से २५० वर्ष पूर्व] के समय में बिहार-प्रान्त जैन धर्म का प्रधान केन्द्र था। आधुनिक बिहार में जो लोग आदिवासी, सयाली एवं सराक जाति के नाम से प्रसिद्ध हैं तथा जिन्हें दुर्भाग्य से पिछड़े वर्ग का माना जाता है, उनके विषय में स्वयं-सेवी संस्थाओं ने सर्वेक्षण कराया है। तदनुसार उनके कुल, गोत्र, नाम एवं उनके सामाजिक रीति-रिवाजों के आधार पर यह सिद्ध हुआ है कि उक्त जातियों के लोग विशेषतया सराक जाति के लोग तीर्थंकर पार्श्वनाथ के अनुयायी थे। यह 'सराक' शब्द श्रावक (आचारवान जैन गृहस्थ) का अपभ्रंश रूप है। संथाल परगना में अभी यद्यपि उत्खनन (Excavations) कार्य अत्यल्प ही हुआ है, फिर भी वहाँ अनेक प्राचीन जैन-मूर्तियाँ मिली हैं। उनसे भी उक्त तथ्य का समर्थन होता है^{१६}।

उपलब्ध जैन सन्दर्भों के अनुसार मगध सम्राट नन्द मौर्य वंशी अनेक नरेश जैन धर्मानुयायी थे^{१७}। उन्होंने जैन धर्म को न केवल राष्ट्रीय धर्म के रूप में प्रतिष्ठा दी अपितु उसके उद्धार एवं प्रचार-प्रसार के लिए भी महत्त्वपूर्ण कार्य किए। हाथी गुम्फा शिलालेख का वह प्रसंग स्मरणीय है, जिनके अनुसार कलिंगनरेश खारवेल (ई० पू० दूसरी सदी) मगध सम्राट वृहस्पति मित्र पर आक्रमण कर अपनी राष्ट्रीय-मूर्ति—कलिंग जिन (प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ की मूर्ति) को छीनकर वापिस कलिंग में ले आए थे^{१८}। इस प्रसंग में मेरा अनुमान यह है कि उक्त शिलालेख में जिसे "कलिंगजिन" कहा गया है, वह मूर्ति पूर्व में 'मगधजिन' के रूप में प्रतिष्ठित रही होगी। क्योंकि नन्द राजाओं के समय में जैन-मूर्तियों का निर्माण होने लगा था। वह 'मगधजिन' जब कलिंग पहुँची तो वहाँ वही मूर्ति 'कलिंगजिन' के नाम से प्रसिद्ध हो गई। इस प्रकार उस ऐतिहासिक मूर्ति का आवागमन होता रहा। कभी वह मगध से कलिंग ले जाई गई तो कभी कलिंग से वापिस मगध में ले आई गई और फिर कलिंग वापिस ले जाई गई। उसका नाम परिवर्तन भी (मगधजिन अथवा कलिंगजिन के रूप में) उसी क्रम से होता रहा। अन्ततः कलिंग में जाने के

वाद उस ऐतिहासिक मूर्ति का क्या हुआ ? इसकी जानकारी नहीं मिलती ।

लोहानीपुर पटना के उत्खनन में प्राप्त प्राचीन जैन मूर्ति एवं मन्दिर का ऐतिहासिक महत्त्व—

जैसा कि पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है, लोहानी-पुर (पटना) के उत्खनन में जो कार्यालय-मुद्रा की अद्वितीय जैन नग्न मूर्ति प्राप्त हुई है, उसे देखकर यह अनुमान होता है कि प्रथम बार में 'मगधजिन' के कलिंग में ले जाए जाने के तत्काल बाद ही उस रिक्तता को पूर्ण करने हेतु उसकी प्रतिकृति बनवाकर उसे पाटलिपुत्र के एक नव-निर्मित कलापूर्ण जैन-मन्दिर में प्रतिष्ठित किया गया होगा और लोहानीपुर के उत्खनन में वही मूर्ति एवं मन्दिर के भग्नावशेष अब उपलब्ध हुए हैं । वस्तुतः अद्यावधि उपेक्षित प्रस्तुत विषय पर पुनर्विचार एवं निष्पक्ष गम्भीर अन्वेषण की महती आवश्यकता है ।

जैनधर्म का प्रमुख केन्द्र पाटलिपुत्र : जैन-इतिहास की दृष्टि से—

प्राचीन जैन सस्कृत एवं प्राकृत साहित्य में ई० पू० की ५वीं सदी के पूर्वोक्त जनपदों के कुछ प्रमुख नगरों में घटित जैन धर्म विषयक अनेक ऐतिहासिक घटनाओं के उल्लेख मिलते हैं । मगध की राजधानी पाटलिपुत्र (पटना) के वर्णन-प्रसंग में बताया गया है कि यह वही पावन-स्थान है जहाँ अन्तिम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु (प्रथम) ने मौर्यवंशी प्रथम सम्राट् चन्द्रगुप्त (ई० पू० ३६३) को जैन-धर्म में दीक्षित कर उसे अपना शिष्य बनाया था और उसके साथ दक्षिण-भारत की यात्रा की थी ।^१ पाटलिपुत्र में ही ई० पू० ३७५ के आसपास अर्धमागधी प्राकृत के जैनागमों को लिपिबद्ध कर उन्हें सुरक्षित रखने हेतु प्रथम संगीति का आयोजन किया गया था ।^२ यही पर नन्द एवं मौर्यकालीन जैन मूर्तियाँ भी प्राप्त हुईं । ये मूर्तियाँ न केवल जैनकला के इतिहास में अपितु भारतीय मूर्तिकला के इतिहास में भी सर्वप्रथम मानी गई हैं । तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाय तो मोहन-जो-दारो एवं हड़प्पा में प्राप्त मूर्तियों की कला यदि आदिम अथवा प्रारम्भिक है, तो लोहानीपुर की जैन-मूर्ति भारतीय मूर्तिकला का चरम विकसित रूप है ।

जैन साहित्य-लेखन की दृष्टि से भी देखा जाय तो गीता, बाइबिल एवं कुरान के समान सम्मानित एवं ज्ञान विज्ञान सम्बन्धी सुप्रसिद्ध जैन ग्रन्थ "तत्त्वार्थाधिगम सूत्र भाष्य" की रचना ईसा की दूसरी सदी में पाटलिपुत्र में ही हुई ।^३ सुप्रसिद्ध जैनाचार्य समन्तभद्र (दूसरी सदी) ने शास्त्रार्थ^४ में तथा जैन महाकवि हरिचन्द्र (११वीं सदी) ने सस्कृत-गद्य के कठिन परीक्षण^५ में यहाँ गौरवपूर्ण विजय प्राप्त की थी ।

उक्त कुछ तथ्यों से बिहार के साथ जैनधर्म के अटूट सम्बन्धों की जानकारी आसानी से मिल जाती है और उनसे यह सिद्ध हो जाता है कि वह बिहार का एक प्रमुख महान धर्म था । अतः यह कहने में कोई सकोच नहीं किया जा सकता कि बिहार के निर्माण में तथा उसे सुव्यवस्था एवं गौरवपूर्ण स्थान दिलाने में उसका योगदान अविस्मरणीय है ।

प्रथम-शती के प्रारम्भ से बिहार में जैनधर्म का क्रमिक ह्रास—

मौर्य साम्राज्य की समाप्ति के बाद कुछ नए गणतन्त्र अस्तित्व में आए किन्तु आपसी कलह के कारण वे दीर्घकाल तक नहीं टिक सके । गुप्तवंशीय राजा समुद्रगुप्त (चौथी सदी) के समय तक उनकी समाप्ति हो गई । यद्यपि वैशाली का गणतन्त्र उस समय भी अपना कुछ प्रभाव बनाए हुए था ।^६ समुद्रगुप्त के पिता चन्द्रगुप्त (प्रथम) ने उसी की सहायता से गुप्त-साम्राज्य की स्थापना की थी । किन्तु राजनैतिक महत्वाकांक्षा बड़ी विचित्र होती है । उसने अपना प्रभुत्व स्थापित करने हेतु जहाँ यौधेय, आर्जुनायन एवं मालव जैसे गणराज्यों को नष्ट किया उसी प्रकार वज्जी-विदेह के गणराज्य को भी आत्मसात कर लिया ।^७ इतिहास की यह लीला भी विचित्र ही मानी जायगी कि एक ओर वैशाली दौहित्र—शिशुनाग वंशी राजा अजातशत्रु ने अपने ननिहाल के राज्य (वैशाली) को ध्वस्त किया तो दूसरे दौहित्र समुद्रगुप्त ने उसके रहे-सहे अस्तित्व को गणतन्त्रों के मानचित्र से सदा-सदा के लिए ही मिटा दिया । वैशाली के नष्ट-भ्रष्ट हो जाने के कारण वहाँ के जैन धर्मानुयायी लिच्छिविगण आदि हिमालयवर्ती तिब्बत, लद्दाख, भूटान, नेपाल, बर्मा आदि देशों में चले

गए।^{१८} वहाँ के वर्तमानकालीन कुछ राजवंश आज भी अपने को लिच्छिवियों से सम्बन्धित बतलाते हैं परिस्थिति-वश धर्म-परिवर्तन कर वे सभी बौद्धधर्मानुयायी हो गए। यही कारण है कि चीनी यात्री ह्वेनत्सांग को ७वीं सदी में वहाँ केवल जैन मन्दिरों एवं भवनो के खण्डहर ही दिखाई दिए थे। वहाँ उसे जैनियों की संख्या अत्यल्पमात्रा में ही दिखाई दी थी^{१९}।

१३वीं सदी के तिब्बती यात्री धर्मस्वामी को वैशाली में यह जानकारी मिली थी कि तुरुष्क सेना के आक्रमणों के भय से वहाँ के निवासी भाग गए थे^{२०}। इतना ही नहीं, उस समय अग-चम्पा एवं पाटलिपुत्र, जो कि उस समय महत्वपूर्ण व्यापारिक केन्द्र थे, वे भी आक्रान्ताओं के भय से उजाड़ हो गए थे। इस प्रकार वैशाली एवं उसके समीपवर्ती प्रदेशों में जैन धर्म की स्थिति नगण्य हो गई। जैन धर्मानुयायियों के नष्ट-भ्रष्ट अथवा पलायन के कारण वज्जी-विदेह एवं मगध से जैन धर्म का प्रभाव प्रायः समाप्त होता गया तथा वहाँ क्रमशः ब्राह्मणों का प्रभाव बढ़ने लगा।

इस प्रकार महावीर-निर्वाण (ई० पू० ५२७) के बाद लगभग पाँच सौ वर्षों तक जिसने भारतीय सीमाओं को पार कर एशिया^{२१} एवं यूनान^{२२} की विचारधारा को प्रभावित किया और जिसने भारत, विशेषतया बिहार के चतुर्दिक् जन-जीवन में आध्यात्मिकता तथा अहिंसा एवं अपरिग्रह की अमृत-स्रोतस्विनी प्रवाहित की वही जैन धर्म विविध विषम परिस्थितियों के कारण अपने मूल केन्द्र में ही प्रभावहीन हो गया। यद्यपि मध्यकालीन जैन-साहित्य में, बिहार में जैन धर्म की स्थिति के कुछ साहित्यिक-सन्दर्भ तथा जैन तीर्थ यात्रा सम्बन्धी साहित्य अवश्य मिलता है किन्तु उससे एक अन्तः सलिला नदी की तरह, जैन धर्म की स्थिति का केवल अनुमान ही लगाया जा सकता है। वस्तुतः वह एक समयसाध्य शोध का विषय है। वर्तमान में उससे जैन धर्म की सर्वाङ्गीण गतिविधियों को समझ पाने में विशेष सहायता नहीं मिल रही है। यथार्थतः हमारे इतिहास-कारों की उपेक्षा के कारण ही बिहार के तत्कालीन जैन धर्म का वह एक महान ऐतिहासिक अध्याय अभी तक अन्धकाराच्छन्न जैसा ही बना हुआ है।

बिहार में जैन धर्म का पुनर्जागरण-काल—

बिहार में जैन धर्म के पुनरुद्धार की दृष्टि से १९वीं एवं २०वीं सदी का काल एक नव जागरण काल के रूप में स्मृत किया जायगा। सन् १८७० के आसपास बिहार में राजनैतिक स्थिरता, ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन की समाप्ति, भारतीय-प्राच्य-विद्या के अनेक देशी-विदेशी विद्वानों द्वारा ऐतिहासिक खोजों के प्रति गहरी अभिरुचि अंग्रेजों के शासन की स्थापना तथा उसके द्वारा बिहार के आर्थिक-विकास के क्रम में खान एवं अन्य उद्योग-धन्धों का क्रमिक विकास होने लगा। उनसे आकर्षित होकर व्यापारिक दृष्टिकोण से अनेक जैन-परिवार बिहार में आने लगे और वे धीरे-धीरे यही बसने लगे। इनकी तथा अन्य स्थानीय मूल निवासी जैनियों की प्रेरणा से अनेक जैन साधुओं एवं साध्वियों के भी बिहार में पुनः बिहार (आवागमन) होने लगे और जैन-मंदिरों, स्वाध्यायशालाओं, पाठशालाओं एवं औषधालयों का पुनरुद्धार अथवा नव-निर्माण होने लगा। व्यापारी होने के कारण जैनियों ने व्यापार की सम्भावना का पता लगाकर अपनी-अपनी रुचि के अनुसार बिहार के विभिन्न नगरों को अपना कार्य क्षेत्र बनाया। से जैन-बहुल नगरों में आरा, ईसरीबाजार औरगाबाद कटिहार, कतरास, गया, गिरिडीह, गुणावा, छपरा, झरिया, झूमरी-तिलैया, डालटनगंज, डालमियानगर धनबाद, नवादा, बाढ़, वारसोइघाट, बेगूसराय, पावापुरी, पूर्णिया, भागलपुर, मुजफ्फरपुर, मुंगेर, रफीगंज, राजगृही, रांची, सम्मेल शिखर, एवं हजारीबाग आदि प्रमुख हैं।

प्राच्य एवं प्राच्य-विद्वानों की देन—

१९वीं-२०वीं सदी में जैन धर्म के प्राचीन गौरव के प्रकाशन की दिशा में हर्मन याकोबी, बुहलर, सर बिलियम जोन्स, जेम्स फर्ग्युसन, कनिंघम, स्पूनर ब्लाख, स्मिथ, डॉ० वाशम, डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल, डॉ० आर० डी० बनर्जी, डॉ० उपेन्द्र ठाकुर एवं डॉ० योगेन्द्र मिश्र का नाम बड़े ही गौरव के साथ स्मरण किया जाएगा जिन्होंने अपनी विविध खोजों में प्राप्त बहुमूल्य सामग्रियों के आधार पर निष्पक्ष दृष्टि से जैन धर्म की प्राचीनता को प्रकाशित कर न केवल नव जागरणकाल के बिहार के जैनियों को प्रोत्साहित किया; अपितु भारतीय इतिहासकारों को भी

जैन धर्म के विषय में लेखन-कार्य हेतु प्रेरित किया। सभ-वत उसी समय से बिहार के प्राचीन जैन तीर्थों के पुनरुद्धार, नव-निर्माण एवं उनकी लोकप्रियता को बढ़ाने हेतु नए-नए प्रयत्न किए गये।

प्राचीन जैन तीर्थ मूर्तियों का जीर्णोद्धार एवं नव-निर्माण—

सन् १८२५ ई० के आसपास पवित्र गिरिराज सम्मेद शिखर (पारसनाथ पहाड़ जिला हजारी बाग) को तत्कालीन पाल नरेश से खरीदकर तथा उसका जीर्णोद्धार कर जैन समाज ने उसकी अधिव्यक्ता में अनेक नवीन शिखर वन्द जैन मन्दिरों का निर्माण कराया और प्रशासन से सुरक्षा की गारण्टी प्राप्त कर उसकी तीर्थ यात्रा के लिए देश के कोने-कोने से जैनियों को आकर्षित किया गया। एतद्विषयक अनेक पूजा-पाठ एवं स्तुतियों का प्रणयन किया गया। हिन्दी के एक जैन कवि दयानाराय ने उस तीर्थ-राज की महिमा में लिखा है—

एक वर वन्दे जो कोई ताहि नरक पगु-गति नहि होई।

आगे चलकर उसकी उपत्यका में भी अनेक जैन मन्दिरों आर दर्जनो विशाल धर्मशालाओं तथा गगनचुम्बी उत्तुंग मानस्तम्भों का निर्माण कराया गया इनके अनिरिक्त सार्वजनिक औपघालय, वाचनालय, ग्रन्थालय एवं विद्यालयों की भी स्थापना की गई जिससे स्थानीय जनता भी लाभान्वित हो सके। इस तीर्थ का वर्णन तीमरी-चौथी सदी के जैन-साहित्य में भी प्राप्त होता है।

सन् १९०१ ई० के आसपास सुप्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता डा० एम० ए० स्टेन तथा सर विलियम हण्टर ने भद्रिकापुरी (वर्तमान भदिया, हजारी बाग) की खोजकर उसे तीर्थकर शीतलनाथ की जन्मभूमि सिद्ध करते हुए घोषित किया कि उसके आसपास के सतगवां, कुन्दकिला, बलरामपुर, बोरम, छर्रा, द्वारिका, उल्मा, कतरासगढ़, पवनपुर, पाक-वीर एवं तेलकुपी आदि नगर जैनियों के प्रधान केन्द्र थे। उक्त विद्वानों ने वहाँ की जैन-मूर्तियों के कला-वैभव एवं अन्य प्रमाणों से आधार पर यह भी सिद्ध किया कि वहाँ पर १३-१४वीं सदी में एक विशाल कलापूर्ण जैन मन्दिर था, जिसमें दूसरी-तीसरी सदी की जैन मूर्तियाँ सुरक्षित थीं।

एक प्राचीन किंबदन्ती के अनुसार चम्पापुरी (भागलपुर) में ११वीं सदी में एक जैन-मन्दिर का निर्माण कराया गया था किन्तु मुगलकाल में सम्राट शाहजहाँ ने उस पर अधिकार कर उसे तथा आसपास के कुछ गाव चाँदबाई नाम की एक ब्राह्मणी को राखी बापने के उपलक्ष्य में उसे भेंट कर दिया था^१ उसके बाद उसका क्या हुआ, इसकी जानकारी नहीं मिलती।

सन् १९११ में चम्पापुरी में स्थित मन्दारगिरि पर्वत किसी स्थानीय जमीन्दार के अधिकार में रहने के कारण वह बड़ा अव्यवस्थित था किन्तु राजापुर सञ्जीवन्द जैन कैमरे हिंद (तत्कालीन जनरल गुरिटरकेसेट आफ गुलम, बिहार, बंगाल एवं उड़ीसा) के अथक प्रयत्नों में वह जैनियों के अधिकार में आ गया^२। तत्पश्चात् उस क्षेत्र का बहुमुखी विकास हुआ। वहाँ सर्वोपयोगी अनेक जैन-धर्म-शालाओं का निर्माण कराया गया। सन् १९४३ में बारा-मती (महाराष्ट्र) के श्रीमन्त श्री तत्त्वचन्द कस्तूरचन्द ने ८५००० रुपये की लागत में एक विशाल भव्य जैन मन्दिर का निर्माण कराया तो उन्हीं के आसपास एक अन्य जैन धर्मानुरागी श्री घनश्यामदास मरावगी ने भी एक जैन मन्दिर का निर्माण कराया। कहा जाता है कि इस मन्दिर में नन्द एवं मौर्यकालीन जैन-मूर्तियाँ सुरक्षित हैं^३।

सन् १९०० के आसपास से कुछ तीर्थकरों की जन्म, तप एवं समवशरण की पुण्यभूमि राजगृही का क्षेत्र विकसित हुआ। तीमरी-चौथी सदी के जैन साहित्य में उसे पञ्चगलपुर^४ के रूप में स्मृत किया गया है। २०वीं सदी के प्रारम्भिक वर्षों में सभी पहाड़ियों के प्राचीन जैन-मन्दिरों का जीर्णोद्धार एवं नवीन मन्दिरों का निर्माण कराकर श्रेणी मार्ग बनवाये गए तथा यात्रियों की सुविधा के लिए अनेक धर्मशालाएँ और सार्वजनिक औपघालय, ग्रन्थालय, वाचनालय, विद्यालय एवं दानशाला का निर्माण कराया गया। १९३६ ई० में आग की ब्रह्मचारिणी चन्दा बाई जी ने रत्नागिरि पर्वत पर दशाश्रुतस्कन्ध का निर्माण कराकर एक ऐतिहासिक कार्य किया। सन् १९४४ में यहाँ भ० महावीर के प्रथम समवशरण के आगमन की पुण्य स्मृति में एक कलापूर्ण मानस्तम्भ का निर्माण कराया गया

तथा उसके उद्घाटन के समय प्रथम वीर-शासन जयन्ती का बृहद् आयोजन किया गया।

पिछले दशक में आगरा के सुप्रसिद्ध राष्ट्र सन्त अमर मुनि जी महाराज ने वहाँ "वीरायतन" नामक एक संस्था की स्थापना की है, जो भगवान महावीर की पुण्यस्मृति में स्थानीय सामान्य जनता के बहुमुखी विकास एवं नव-निर्माण में सर्वोन्मादने सलग्न है। इस संस्था की ओर से सार्वजनिक विशाल एवं आधुनिक साज-सज्जायुक्त चिकित्सालय, प्रारम्भिक विद्यालय संस्थापित हैं। अल्पमोली साहित्य-प्रकाशन एवं सर्वोदयी नैतिक शिक्षा-प्रसार हेतु भी अनेक विभाग कार्य-सलग्न हैं।

पावापुरी को जैनियों का महान निर्वाण क्षेत्र माना गया है। वहाँ से भ० महावीर के परिनिर्वाण की चर्चा दूसरी-तीसरी सदी के जैन-साहित्य में उपलब्ध है। कुछ प्रमाणों के आधार पर वहाँ के एक प्राचीन जैन मन्दिर का जीर्णोद्धार सन् १९४१ में कराया गया था और उसमें महन्तियण वश के श्रावकों ने तीर्थंकर महावीर के चरणों की स्थापना की थी। उस समय ये जैन श्रावक पावापुरी एवं उसके आसपास के प्रदेश में बहुसंख्यक थे किन्तु कालान्तर में कुछ विषम-परिस्थितियों में वे जैन धर्म से विमुख हो गए^{३८}।

सन् १९२५ ई० में गुणावा-क्षेत्र (नालन्दा) का जीर्णोद्धार हुआ। अर्द्धमागधी आगम-साहित्य के अनुसार इसका पुराना नाम गुर्णशिला-क्षेत्र है, जहाँ भगवान महावीर के कुछ चतुर्मास (वर्षावास) हुये थे। यहाँ पर इन्दौर के धन-कुबेर रावराजा सर सेठ हुकुमचन्द जैन ने लाखों रुपयों की लागत से एक विशाल जैन मन्दिर एवं धर्मशाला का निर्माण कराया था। मन्दिर में १५-१६वीं सदी की कुछ जैन मूर्तियाँ प्रतिष्ठित हैं। सन् १९४७ में गया निवासी केशरीमल लल्लूमल ने यहाँ एक कलापूर्ण उत्तुंग मानस्तंभ का भी निर्माण कराया था।

सन् १९४० में गुलजार बाग (पटना) स्थित कमलदह सिद्ध क्षेत्र का जीर्णोद्धार कर वहाँ पुरातन जैन मन्दिर का नवनिर्माण किया गया। एक विशाल जैन धर्मशाला भी बनवाई गई। उक्त मन्दिर में १६-१७वीं सदी की जैनमूर्तियाँ सुरक्षित हैं। यह वही स्थल है जहाँ ईसापूर्व ६वीं सदी के

आसपास सन्त-साधक सुदर्शन सेठ को तत्कालीन किसी विदेशी नरेश ने सूली की सजा दे दी थी। वह सजा सर्वथा अन्यायपूर्ण थी। सुदर्शन शुद्ध परिणामपूर्वक मरे और उन्हें वही से निर्वाण की प्राप्ति हुई थी^{३९}। तभी से वह जैन सिद्धक्षेत्र के रूप में जैन इतिहास में प्रसिद्ध है। ईसापूर्व चतुर्थ सदी के आसपास नन्द नरेश के महामन्त्री शकटाल के पुत्र स्थूलभद्र एवं गणिका कोशा की इतिहास-प्रसिद्ध मौलिक एवं आध्यात्मिक घटनायें भी इसी स्थल पर घटी थी^{४०}। तद्विषयक एक जीर्ण-शीर्ण स्मारक आज भी उस घटना को प्रकाशित कर रहा है।

बिहार के आधुनिक जैन इतिहास में यदि आरा नगर के जैनियों एवं उनके कार्यकलापों की चर्चा न की जाय तो वह अधूरा ही रहेगा। आरा नगर वैसे तो रामायणकालीन नगर है। उस समय उसका नाम क्या रहा होगा, यह एक शोध का विषय है किन्तु मसाढ़ (प्राचीन महाशाल वन—जि० भोजपुर) के प्राचीन जैन मन्दिर में सुरक्षित एक जैन मूर्ति के लेखानुसार उसका प्राचीन नाम आरा नगर (उप-वनो एवं बगीचों का नगर) था। यह लेख अनुमानतः ७वीं सदी का है। चीनी यात्री ह्वेनत्सांग पाटलिपुत्र जाते समय महाशालवन (मसाढ़ वर्तमान आरा से लगभग ४ मील दूर) एवं आरामनगर (आरा) आया था। उसके बाद लगभग १८वीं सदी तक के वहाँ के जैन कार्य-कलापों की जानकारी नहीं मिल सकी है^{४१}।

१९वीं सदी के मध्य में यहाँ एक बड़ा ही तेजस्वी साहित्यकार हुआ, जिसकी साहित्यिक रचनाओं ने जैन समाज में धूम मचा दी। उसका नाम है महाकवि वृन्दा-वनदास [वि० सवत १९४८-१९०६] आजीविका हेतु वे तत्कालीन बनारस की एक टकसाल में सेवाकार्य करते थे, अपने स्वाभिमान एवं अक्खड़ स्वभाव के कारण अंग्रेजों ने उन्हें कारागार में बन्द कर दिया था। उनकी भक्ति-चमत्कार के कारण कारागार का दरवाजा अपने आप खुल गया था। इस कारण अंग्रेजों ने उनसे क्षमा-याचना मागते हुए उन्हें मुक्त कर दिया था। इनकी सरस स्तुतियाँ समस्त जैन समाज में लोकप्रिय हैं। इनका पारिवारिक भवन आरा की महाजन टीली न० २ में अभी भी बना हुआ है किन्तु काल के थपेड़ों ने उसे जर्जर कर दिया है।

२०वीं सदी के प्रारम्भ में आरा नगर बिहार के एक जैन केन्द्र के रूप में उभरकर सम्मुख आया और पिछले लगभग ८० वर्षों में उसने ऐसे अनेक ऐतिहासिक कार्य कार्य किये हैं, जो समूचे भारतीय जैन समाज के लिये प्रेरणा के स्रोत बन गए। ऐसे कार्यों में प्रथमतः भारत विख्यात जैन सिद्धान्त भवन की स्थापना है, जिसमें लगभग १०,००० प्राचीन ताडपत्रीय एवं कर्गलीय (सचित्र सामान्य) तथा लगभग सहस्र दुर्लभ ग्रन्थ एवं जर्नल्स एक विशाल कलापूर्ण भवन में सुरक्षित हैं। इसके निर्माता सस्थापक एवं संचालक श्री देवकुमार जी जैन एवं उनके सुपुत्र श्री बाबू निर्मलकुमार जैन के नाम जैन-इतिहास में अविस्मरणीय रहेंगे। जैन सिद्धान्त भवन ने अनेक महत्त्वपूर्ण जैन ग्रन्थों का प्रकाशन तो किया ही, साथ ही उसने सन् १९०३ के आसपास जैन सिद्धान्त भास्कर एवं जैन ऐंटिक्वेरी (हिन्दी-अंग्रेजी दोनों में) नामक एक उच्चस्तरीय शोध-पत्रिका का भी नियमित प्रकाशन किया और उसके माध्यम से जैन-विद्या के शोध के क्षेत्र में एक स्वर्णिम अध्याय का सूत्रपात किया। वर्तमान में उक्त भवन देवकुमार जैन ओरिएण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट आरा के नाम से एक शोध-संस्थान के रूप में मगध विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत है और जैन विद्या के विविध अंगों पर वहां शोध-कार्य चल रहा है।

जैन धर्म के विकास के क्षेत्र में आरा की जैन समाज का दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य है Sacred Books of the Jaina series का प्रकाशन। आरा के एक उत्साही युवक कुमार देवेन्द्र ने न केवल जैन-साहित्य के अंग्रेजी अनुवाद एवं समीक्षा कर अहिन्दी-भाषियों के लिये उक्त सीरीज के प्रकाशन की कल्पना की, अपितु देश के अनेक गण्यमान्य विद्वानों को प्रेरित कर जैन-विद्या के लगभग २५ ग्रन्थों का अंग्रेजी अनुवाद, समीक्षा तथा तुलनात्मक अध्ययन अंग्रेजी में उक्त सीरीज के अन्तर्गत प्रकाशित कर जैन इतिहास के एक नवीन अध्याय का प्रारम्भ भी किया। इन ग्रन्थों के कारण विदेशों में भी जैन धर्म की लोक-प्रियता बढ़ी।

आरा जैन-समाज की तीसरी देन है श्री जैन बाला विश्राम, जिसकी स्थापना ब्रह्म० पं० चन्दाबाई जैन ने

सन् १९२१ में की थी। इस प्रथम एवं अनुपम जैन धर्म कन्या शिक्षण संस्था ने जैन महिला जगत में शिक्षा की धूम मचा दी। उसी का सुफल है कि आज देश के कोने-कोने में आरा की प्रशिक्षित जैन महिलाएँ जैन समाज तथा विविध सार्वजनिक सेवाकार्यों में सलग्न हैं। पं० चन्दाबाई जी का अभी हाल में दुखद निधन हो गया है किन्तु ब्रह्म० पं० ब्रजबाला जी के तत्त्वावधान में उक्त संस्था प्रगतिशील कार्यों में सलग्न है।

आरा की चौथी देन है श्री आदिनाथ ट्रस्ट जिम्मे जेठपुर एवं रोहताम जैसे पिछड़े हुये जिलों में सार्वजनिक शिक्षाप्रसार का संकल्प किया। इसके सस्थापक थे श्री हरिप्रसाद दास जैन। उनके स्वर्गवास के बाद ट्रस्ट के पदाधिकारियों ने उनके नाम पर आरा में हरप्रसाद दाम जैन कालेज और हर प्रसाद दास जैन हाई स्कूल की स्थापना की। ये दोनों शिक्षा संस्थाएँ बिहार के उच्च संस्थानों में प्रथम स्थान रखती हैं। इनके अनिरुक्त ट्रस्ट की ओर विशाल जैन धर्मशाला, औपधालय, ग्रन्थालय, वाचनालय, एवं दानशाला तथा अन्ध-मूक नरिय विद्यालय जैसी संस्थाएँ भी संचालित हैं।

आरा नगर की पांचवी देन है यहां के ४५ जैन मन्दिर। बिहार में इतने अधिक जैन-मन्दिर किसी भी अन्य नगर में नहीं हैं। इन में से कुछ जैन मन्दिर भव्य, विशाल एवं कलापूर्ण होने के कारण दर्शनीय हैं। यहां की चौबीसी, नन्दोश्वर एवं चन्द्रप्रभ मन्दिर श्रेष्ठ वर्णित हैं। सम्मेद-शिखर एवं पावापुरी के जल-मन्दिर की भी अनु-कृतियां यहाँ उपलब्ध हैं। उक्त जल-मन्दिर जीर्ण-शीर्ण हो चुका था किन्तु भ० महावीर के २५००वें निर्वाण-महोत्सव वर्ष की स्मृति में उसका जीर्णोद्धार कर उसे सन् १९७४-७५ में विकसित किया गया था तथा वर्तमान में भी उसे नगर के एक दर्शनीय स्थल के रूप में विकसित किया जा रहा है। इस कार्य में सर्वश्री भगवान् डल, पद्म-राज, परेशचन्द्र एवं अचिन्त्यकुमार जैसे युवकों की मुरुचि एवं सत्प्रयत्न सराहनीय हैं। अन्य कलात्मक वस्तुओं में मानस्तम्भ, कीर्तिस्तम्भ, सहस्रकूट-चैत्यालय एवं बाहुवलि की विशाल सौम्य-मूर्ति दर्शनीय है।

जैन-विद्या सम्बन्धी शोध कार्यों में भी आरा के जैन-विद्वानों ने भारत में एक नया कीर्तिमान स्थापित किया है। इतिहास एवं संस्कृति, ज्योतिषशास्त्र एवं गणित-विद्या, साहित्यिक समीक्षा, अप्रकाशित हस्तलिखित ग्रन्थों का सम्पादन एवं समीक्षा एवं प्राचीन जैन-साहित्य में वर्णित आर्थिक जीवन एवं वैदेशिक व्यापार पर यहां के विद्वानों ने अनुकरणीय ठोस कार्य किए हैं, जिनकी शिक्षा जगत ने मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की तथा समाजसेवी संस्थाओं एवं राज्य-मरकारों ने भी उन्हें पुरस्कृत किया है। ऐसे विद्वानों में श्री पं० के० भुजबली भास्त्री, डा० नेमिचन्द्र शास्त्री, डा० दिनेन्द्रचन्द्र जैन, डा० रामनाथ पाठक, डा० राजाराम जैन, डा० गदाधरभिह, डा० चन्द्र-देवराय एवं डा० विद्यावती जैन प्रमुख हैं।

मौलिक साहित्य-प्रणयन तथा संगीत एवं कला के क्षेत्र में भी आरा का नाम अग्रगण्य है। श्री जैनेन्द्रकिशोर जैन ने सन् १९३० के आमपात्र विविध नाटकों एवं ग्रन्थों के लेखन से न केवल जैन जगत अपितु जिले के हिन्दी-जगत को भी प्रेरणा दी। शास्त्रीय संगीत में श्री भैरव-कुमार प्रसाद जैन तथा चित्रकला के क्षेत्र में श्री प्रबोध-कुमार जैन एवं सुबोधकुमार जैन के नाम उल्लेखनीय हैं। इन चारों व्यक्तियों ने आरा को साहित्य, संगीत एवं कला का त्रिवेणी-मग्न बना दिया है।

वर्तमानकालीन गया, हजारीबाग, राँची एवं भागल-पुर भी जैन समाज के प्रमुख केंद्र माने जाते हैं। वहाँ की समाजों ने वहाँ मुहचिमम्पन्न भव्य जिनालयों के निर्माण तो कराए ही, मार्वाजनिक हितों की दृष्टि से भी वहाँ कन्या पाठशालाएँ, हाई स्कूल एवं कानेज बनवा कर शिक्षा के प्रचार-प्रसार में महत्वपूर्ण योगदान किया है। इनके अनिरिक्त भी मार्वाजनिक स्थानों पर पानी की टंकियाँ, ब्लड बैंक, नेत्रदान शिविर, ग्रन्थालय, वाचनालय आदि का निर्माण कर भ० महावीर के सर्वोदय का सच्चे अर्थ में प्रचार किया है। राँची के रायबहादुर श्री हरख-चन्द्र जैन इस समय जैन समाज के प्रमुख नेताओं में माने जाते हैं। उनकी सत्प्रेरणा एवं सहायता से श्री पी० सी० राय चौधरी ने Jainism in Bihar नाम ग्रन्थ लिखकर पुरातत्त्व की दृष्टि से बिहार के प्राचीन जैन-वैभव का

सुन्दर विवेचन किया है। गया के श्री रामचन्द्र जैन सरा-वगी डालटनगंज, चतरा, कतरास एवं गया में जैनधर्म के विकास हेतु अनेक कार्य किए। वे लेखक एवं विचारक विद्वान हैं। वर्तमान में वे कोल्हूआ-पर्वत की पुरातात्विक सामग्री का अध्ययन कर कुछ लिखने का विचार कर रहे हैं। इसी प्रकार डा० जयकुमार जैन M.L.C. भागलपुर, श्री चिरजीलाल जैन गया, श्री बिमलकुमार जैन (रेड मोटर) गया, श्री स्वरूपचन्द्र सोमानी हजारीबाग, श्री बिमलप्रसाद जैन झरिया, श्री शिखरचन्द्र जैन खरखरी, श्री दयालचन्द्र जैन आरा, बद्री-माद सरावगी पटना, सुबोधकुमार जैन एवं डा० देवेन्द्रकुमार जैन आरा अपने-अपने नगरों की स्वयंसेवी संस्थाओं के माध्यम से जैनविद्या के बहुमुखी विकास एवं जैनधर्म के युगानुकूल सर्वोपयोगी बनाने में कार्यरत हैं।

सन् १९४५ के आमपात्र कुछ साहित्यिक एवं पुरा-तात्विक प्रमाणों के आधार पर अन्तिमरूप में वैशाली स्थित कुण्डग्राम को भ० महावीर का जन्म स्थान घोषित किया गया और बिहार के डा० श्रीकृष्ण सिन्हा (तत्कालीन मुख्यमन्त्री), आचार्य बद्रीनाथ वर्मा (शिक्षा-मन्त्री), डा० अल्टेकर, डा० योगेन्द्र मिश्र, श्री जगदीशचन्द्र माथुर (तत्कालीन शिक्षा सचिव), श्री आर० आर० दिवाकर (राज्यपाल) आदि ने उस क्षेत्र की सार्थकता बढ़ाने हेतु वहाँ प्राकृत एवं जैन-विद्या के उच्च अध्ययन एवं शोध-कार्य हेतु एक बृहत योजना तैयार की तथा साहू शान्ति-प्रसाद जैन के लगभग साढ़े छह लाख रुपये के अनुदान से वैशाली में सन् १९५४ में प्राकृत जैन शोध-मस्थान की स्थापना की गई। उसमें के संस्थापक निदेशक के रूप में डा० हीरालाल जैन ने प्राकृत एवं जैन-विद्या सम्बन्धी एम० ए० का पाठ्यक्रम तैयार कर उसके अध्यापन तथा उच्चस्तरीय शोध की व्यवस्था की। शोध संस्थान की योजनाओं को माकार करने में डा० जगदीशचन्द्र जैन, डा० नथमल टाटिया, डा० गुलाबचन्द्र चौधरी, डा० राजाराम जैन, डा० नेमिचन्द्र शास्त्री, डा० विमलप्रकाश, डा० रामप्रकाश पोद्दार, डा० देवनारायण शर्मा, डा० स्वरूप चन्द्र जैन, एवं डा० रजनसूरि का प्रमुख हाथ रहा। डा० हीरालाल जैन की प्रेरणा से मगध विश्वविद्यालय ने भी

सन् १९५८ से प्राकृत-भाषा एवं जैन-विद्या को अपने पाठ्यक्रम में स्वीकृत किया। वर्तमान में बिहार इण्टर-मीडियट एजुकेशन कौंसिल ने भी उसे इण्टरमीडियट स्तर तक स्वीकृत किया है, जिसके फलस्वरूप बिहार के सभी विष्वविद्यालयों में इण्टर कक्षा तक छात्र-छात्रायेँ उसका अध्ययन कर सकते हैं।

इस प्रकार १९वीं २०वीं सदी में बिहार में जैन धर्म ने अपने अतीतकालीन गौरव को प्राप्त करने का यथा-सम्भव प्रयत्न किया है। उसके अनुयायियों ने एक ओर अपने सत्यनिष्ठ आचरण, शुद्ध सात्विक जीवन, शाकाहारी-सात्विक ज्ञान व मधुर व्यवहार एवं उदार आचरण से जहाँ म्यातीय जन-जीवन को प्रभावित किया तो वहीं राष्ट्रिय स्वतन्त्रता आन्दोलन को सफल बनाने तथा स्वातन्त्र्योत्तर-काल में राष्ट्रिय एवं प्रांतीय आधिदैविक एवं आधिभौतिक विषय समस्याओं के समाधान हेतु भी उन्होंने तन, मन एवं धन से सदा सदा सक्रिय योगदान दिया। अपने पुरुषार्थ एवं परिश्रम से जहाँ एक ओर विपुल धनार्जन किया, वहीं उन्होंने अनेक सवापयोगी धर्मशालाओं,

शिक्षा सस्थाओं, चिकित्सालयों, वाचनालयों, ग्रंथालयों एवं दानशालाओं के भी निर्माण कराए। विविध उद्योग-धन्धों के माध्यम से उन्होंने अपने नगरो एवं बिहार प्रान्त के आर्थिक समुन्नयन में महत्वपूर्ण योगदान किया है। जैन-तीर्थों के जीर्णोद्धार एवं लोकप्रियता बढ़ाने में उन्होंने करोड़ों-करोड़ रुपये व्यय कर जहाँ कलाओं लेखकों एवं श्रमिकों के नियोजन की व्यवस्था की, वहीं देश के लाखों लाख जैन-यात्रियों को आकर्षित कर राज्य के राजस्व में भी प्रतिवर्ष करोड़ों रूपयों की आय का एक स्थायी साधन बना दिया। जैन धर्मानुयायियों ने प्रारम्भ से ही बिहार को अपने तीर्थंकरों, महापुरुषों एवं पूर्वजों की मातृभूमि एवं तीर्थभूमि मानकर उसकी प्रतिष्ठा एवं गौरव की अभिवृद्धि में उन्होंने निरन्तर ही पुत्रवत् सेवाकार्य किया है। संक्षेप में हम यही कह सकते हैं कि कला, संस्कृति, साहित्य उसका आर्थिक समुन्नयन करके पवित्र तीर्थभूमियों के गौरवपूर्ण प्रदेश के रूप में महान यशस्वी इस बिहार के नव-निर्माण में जैनधर्म के रचनात्मक योगदान को कभी भी विस्मृत नहीं किया जा सकेगा।

महाजन टोली नं० २ आरा (बिहार)

सन्दर्भ-सूची

१. दे० जैनेन्द्र तिल्लान्तकोप ३।५८१-८३।
२. तिलोपपण्णात्ति—४।५६८।
३. वही—४।५८५।
४. हरिवंशपुराण—६६।१५-२७।
५. सुपगडमुत्त—२।७।
६. भगवती सूत्र १।३।
७. श्रमण-साहित्य में वर्णित बिहार—डा० राजाराम जैन।
८. विविध तीर्थकल्प [कोटि शिला कल्प गाथा-२]।
- ९-१०. श्रमण साहित्य में बिहार—पृ० ८३।
११. अशोक-स्तम्भ लेख म० ७, प० १६।
- १२-१३. दे० भारत के दि० जैनगीर्थ भा० २, पृ० १५-१८५।
१४. भोजपुर आरा जिने का एक छोटा ग्राम।
१५. सवाल परगना का एक प्रमुख नगर।
१६. दे० श्रमण-साहित्य में बिहार—पृ० ८२।
१७. बिहार एवं यू० पी० की सीमा-विभाजक एक नदी।
१८. दे० श्री बाबूलाल जमादार द्वारा लिखित—सराक हृदय, जैन संस्कृति के विस्तृत प्रतीक एवं प्राच्य जैन मराक शोधकार्य नामक ग्रन्थ [अहिंसा निकेतन बेल-चापा द्वारा प्रकाशित]।
१९. दे० डा० राजाराम जैन द्वारा सम्पादित—आ० भद्र-बाहु चाणक्य चन्द्रगुप्त कथानक की प्रस्तावना।
२०. दे० हाथीगुम्फा—शिलालेख प० स० १२।
२१. दे० रामचन्द्र मुमुक्षुकृत पुण्याश्रवकथा कोष (उपवास फल प्रकरण)।
२२. दे० जैनागम साहित्य में भारतीय समाज—डा० जगदीशचन्द्र जैन पृ० ८६२।
२३. दे० विविध तीर्थकल्प (मिथी सीरीज) पृ० ६६।
२४. श्रमण-साहित्य में वर्णित बिहार—पृ० ३४।
२५. दे० मागधम ६।८५। (शेष पृष्ठ २२ प०)

निमित्ताधीन दृष्टि

□ श्री बाबूलाल जैन, कलकत्ता वाले

कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि परवस्तु हमारा बिगाड़ करती है जैसे स्त्री राग कर देती है इसलिए राग से बचने को स्त्री को छोड़कर जंगल में चले जाते हैं परंतु वह मन की स्त्री तो सूक्ष्म रूप सजाकर मन में प्रविष्ट हो जाती है जिसको पहचानना भी मुश्किल हो जाता है, समझना यह है कि क्या स्त्री राग कराती है। एक स्त्री चुपचाप अपने रास्ते जा रही है उसको यह भी मालूम नहीं है कि उसे कोई देख रहा है। और किसी ने उसे देखा और राग किया फिर कहता है कि स्त्री ने राग करा दिया यह तो सरासर झूठ और बेईमानी है। अगर हम यही समझते रहे तो दोष तो दूसरे का है उसको ठीक करने की चेष्टा करेंगे परन्तु अपने को ठीक कैसे कर सकते हैं।

(पृष्ठ २१ का शेषांश)

२६. दे० भारत के दि० जैनतीर्थ ३।४१।
२७. वही।
२८. एंशिएंट ज्याग्राफी आफ इंडिया (कनिंघम) पृ० ५१७
२९. दे० स्वेनज्वांग (जगमोहन वर्मा) पृ० १२६।
३०. दे० भारत के दि० जैन तीर्थ ३।४१।
३१. दे० संक्षिप्त जैन इतिहास (डा० कामताप्रसाद जैन) पृ० १९१-२।
३२. वही।
३३. दे० भारत के दि० जैनतीर्थ २।१६७।
३४. दे० भारत के दि० जैन तीर्थ २।३७।
३५. दे० वही ३।७१।
३६. दे० वही ३।६६।
३७. तिलोपपण्णत्ति १।६५।
३८. दे० भारत के दि० जैन तीर्थ ३।११८।
३९. विविध तीर्थ कल्प पृ०।
४०. विशेष से लिए देखिये—शोध पत्रिका (आरा ना० प्र० स०) १।२५।

सही बात यह है कि हमने स्त्री को देखकर राग कर लिया गलती हमारी है। अगर अपनी गलती समझेंगे तो अपने को ठीक करने की चेष्टा करेंगे।

व्यवहार में भी यही कहा जाता है कि कोई चिढ़ता है तो लोग चिढ़ाने लगते हैं तो कहा जाता है कि चिढ़ाने वालों को चिढ़ाने दे तू चिढ़ना छोड़ दे।

बाहरी निमित्त कोई प्रेरणा नहीं देते परन्तु हम उसके साथ जिस रूप का सम्बन्ध स्थापित करते हैं वैसी ही परिणति हो जाती है वजन हमारे सम्बन्ध स्थापित करने पर है। हम सही तरह से भी देख सकते हैं। कोई आदमी हाथ का थप्पड़ दिखा रहा है हम उसे देख कर अनदेखा भी कर सकते हैं, हम उसे पागल भी समझ सकते हैं, हम यह भी सोच सकते हैं कि यह मेरे को थप्पड़ दिखाता है। यह सब बातें हमारे पर निर्भर है कि हम कैसे हैं? अगर शांत परिणामी हैं तो देखा अनदेखा कर देंगे अगर तीव्र परिणामी हैं तो क्रोध में पागल हो जायेंगे।

इसलिए ऐसा समझना चाहिए कि पर वस्तु ने राग नहीं कराया परन्तु उसका अवलम्बन लेकर मेरा भीतर का रूप बाहर में आ गया। अगर भीतर न होता तो बाहर कहां से आता। एक कुये में मैला पड़ा है हमने बाल्टी डाली बाल्टी ने मैला पैदा नहीं किया परन्तु अगर मैला था तो बाल्टी मैले से भरकर आ गई। बाल्टी का अवलम्बन लेकर जो भीतर था वह बाहर आ गया। दोष बाल्टी का नहीं। हमारे भीतर क्या पड़ा है हम कैसे हैं इसका है।

एक साधु जंगल में बैठा है, एक राजा आता है यह उसके गले में एक मरा हुआ सांप डाल देते हैं। रात को अपनी रानी से कहते हैं मैंने ऐसा किया है। रानी राजा को लेकर साधु के पास आती है, लाखों चीटियां साधु के शरीर को चिपक जाती हैं रानी बड़ी सावधानी से चीटियां अलग करती है साधु ध्यान से हटते हैं और दोनों को आशीर्वाद दे देते हैं। सवाल है कि दोनों को समान आशी-

वाद क्यों दिया इसका कारण है कि साधु के पास आशी-वाद के अलावा और कुछ नहीं था। जो था वही दे सकते थे वही दिया। सवाल यह नहीं है कि राजा ने क्या किया? सवाल यह है कि हमारे पास क्या है? अगर हमारे भीतर गाली है तो गाली ही देगे अगर ऊपर से आशीवाद भी दिया तो भीतर से तो वही देगे जो हमारे पास है।

इसलिए सवाल यह नहीं है कि दूसरे ने क्या किया वह कैसा है, सवाल है कि हम कैसे हैं?

इसलिए यह देखने से नुकसान होगा कि दूसरे ने क्या किया परन्तु यह देखिए मैंने क्या किया।

परन्तु जब तक रोग है अस्वस्थ है तब तक ठण्डी हवा से बचना चाहिये, वह इसलिए नहीं कि हवा हमारा बिगाड़ करने वाली है परन्तु इसलिए कि हम अस्वस्थ है। हम इसलिए बच रहे हैं कि हमारा स्वास्थ्य ठीक नहीं है। अपनी कमी की वजह से बच रहे हैं। इसलिए जो जोर आयेगा वह अपनी कमी दूर करने पर आएगा न कि हवा से द्वेष करने पर।

घी बहुत बढ़िया चीज है। लोगों को फायदा भी करता है परन्तु बुखारवाला खावे तो नुकसान करता है इसलिए ऐसा मानना उचित नहीं कि घी खराब है परन्तु बुखार की वजह से उससे बचना जरूरी है।

इसलिए बाहरी निमित्तों से बचना भी चाहिए तब-तक जब तक हमारे में कमजोरी है परन्तु दोष उनका न समझ कर अपनी कमजोरी को समझना चाहिए तब तो हम अपनी कमजोरी को दूर करने का पुरुषार्थ करेंगे जो हो

सकता है। अगर दूसरे का दोष समझेंगे तो उसको ठीक करने का पुरुषार्थ करेंगे जो हो सकता है। जो जैसा हम कर रहे हैं और जो हो नहीं सकता परन्तु हमारी कमजोरी तो इससे दूर होगी नहीं।

एक आदमी को कुछ आदमी छेड़ रहे हैं वह किस किस का मुह बन्द करने की चेष्टा करेगा। अगर कुछ लोगों को समझाता है तो और लोग छेड़ने लग जाते हैं। दुनिया बहुत बड़ी है परन्तु हम अपने को ठीक कर लें चिढ़ना बन्द कर दे तो बात ठीक हो जाती है।

‘आत्मार्थी अपना दोष देखता है अपने को ठीक करने की चेष्टा करता है। ससार मार्गी दूसरे का दोष देखता है और उसे ठीक करने की चेष्टा करता है।

दो आदमियों को बुखार है और दोनों किसमिस खाते हैं और दोनों को खारी लगती है परन्तु एक सच्चा है वह किसमिस को खारी समझता है और एक कहता है कि अगर किसमिस खारी लगती है तो अभी मेरे बुखार है। जो ऐसा समझता है वह अपने बुखार को दूर करने का उपाय करता है जो सही उपाय है परन्तु जो बिरमिस को खारी समझता है वह किसमिस को धोकर खारापन दूर करने की चेष्टा करता है जो असम्भव है।

हमें विचार करना है कि क्या उसी आदमी की सी हालत ही हमारी नहीं है? हम भी जीवन में दूसरे को ठीक करने की चेष्टा करते हैं अपने को नहीं देखते अपने को ठीक करने की चेष्टा नहीं करते।

□ □

एको मे सासदो अग्न्या ग्राणदंसणलक्षणा ।

सेसा मे बाहिराभावा सव्वे संजोगसव्वणा ॥

अथ मम परमात्मा शास्वतः कश्चिदेकः,

सहजपरमचिच्चित्तामणिनिर्दुःखः ।

निरवधिनिजदिग्यज्ञानदुःख्यांसमृद्धः,

किमिह बहुविकल्पे मे फलं बाह्याभावं ॥

निश्चय से मेरा आत्मा नित्य, एक, अविनाशी है। ज्ञान-दर्शन लक्षण का धारी है। मेरे आत्मीक भाव के सिवाय अन्य सर्वभाव मुझसे बाह्य हैं तथा सर्व ही भाव संयोग लक्षण हैं अर्थात् पर-द्रव्य के संयोग से उत्पन्न हुए हैं।

भट्टारक-पट्टावली

□ डॉ० पी० सी० जैन

सारांश नोट—

बीत काल में विविध-साहित्य प्रचुर मात्रा में लिखा और संकलित किया जाता रहा है, कुछ मूल आगमों की व्याख्या के रूप में, कुछ स्वतंत्र रूप में और कुछ संकलन के रूप में। ऐसे संकलनों में भट्टारक परम्परा की ऐसी पट्टावलियाँ भी मिलती हैं जिनमें श्रेणी-बद्धता, क्रम-एकरूपता और कहीं-कहीं पूर्णता का अभाव भी परिलक्षित होता है। यद्यपि भट्टारक शब्द पूर्व-काल में केवली, श्रुतकेवली, दिगम्बराचार्य-मुनियों के लिए प्रयुक्त होता रहा है तथापि बाद के काल में इस शब्द को वस्त्रधारी-श्रावकों के लिए भी खींच लिया गया। शायद महिमा पाने के लिए वस्त्रधारी भी भट्टारकों में सम्मिलित होने लगे हों। इससे उनकी लोकमहिमा में तो वृद्धि हुई पर चारित्र्य की दृष्टि से वे महाव्रतियों से दूर ही रहे। ऐसे में पद की अपेक्षा भेद करना कठिन होता चला गया और सभी एक श्रेणी में बैठने लगे। प्रस्तुत पट्टावली उसी का एक नमूना है—पूरा धोल मोल। इससे दिगम्बराचार्य-मुनियों और वस्त्रधारियों में कोई अन्तर शेष न रह गया। वर्तमान में तो भट्टारक शब्द आचार्यादि से हटकर मात्र वस्त्रधारियों के लिए ही शेष रह गया है, जबकि होना ऐसा चाहिए था कि ये दिगम्बर-वेष में ही प्रयुक्त किया जाना और यदि वस्त्रधारियों में इसका प्रचलन कर भी लिया गया हों तब भी विभिन्नगण-गच्छ के समस्त दि० आचार्यों को क्रमवार एक (ऊँची) श्रेणी में और वस्त्रधारी (भट्टारक नाम पा गए) श्रावकों को अन्य पृथक् श्रेणी में रखा जाता। यह विषय परिमार्जन की अपेक्षा रखता है। आशा है मनीषी विचारेगें।

—संपादक

नागौर स्थित भट्टारकीय दिगम्बर जैन ग्रन्थ भण्डार में ग्रंथ सङ्ख्या— ८४०८ की भट्टारक पट्टावली में मूल सद्य के गरस्वती गच्छ एवं बलात्कारगण के प्रमुख भट्टारकों की विस्तृत नामावलि दी है। इसके साथ ही उसमें भट्टारकीय गादी अजमेर तथा आम्बेर की भी सूची दी है जो निम्न प्रकार है—

ग्रन्थ पट्टावली सं०—४४०८	६. भट्टारक श्री उमास्वामी जी	१६. भट्टारक श्री वसुनन्दि
श्री महावीर जी	७. " " लोहाचार्य जी	२०. " श्री वीर नन्दि
श्री गौतम स्वामी जी	८. " " यश. कीर्ति जी	२१. " श्री रत्न नन्दि
श्री सुधर्माचार्य जी	९. " " यशोनन्द जी	२२. " श्री माणक नन्दि
श्री जम्बू स्वामी जी	१०. " " देव नन्दि जी	२३. " श्री मेघ चन्द्र जी
विष्णु नदि श्रुतकेवली	११. " " गुणनन्दि जी	२४. " श्री शान्ति कीर्ति जी
नन्दि मित्र	१२. " " वज्रनन्दि	२५. " श्री मेरुकीर्ति जी
अपराजित	१३. " " कुमार नन्दि	२६. " श्री महा कीर्ति
१. भट्टारक श्री भद्र बाहु जी	१४. " " लोकचन्द्र जी	२७. " श्री विश्व नन्दि
२. " " गुप्त गुप्त	१५. " " प्रभाचन्द्र जी	२८. " श्री शान्ति कीर्ति
३. " " माघनन्दि	१६. " " नेमचन्द्र जी	२९. " श्री सील चन्द्र जी
४. " " जिनचन्द्र जी	१७. " " भानुनन्दि जी	३०. " श्री नन्दि जी
५. " " पद्मनन्द जी	१८. " " सिंह नन्दि	३१. " श्री देशभूषण जी

३२. भट्टारक श्री अनन्त कीर्ति	५८. भट्टारक श्री सुर कीर्ति	८४. भट्टारक श्री पद्म नन्दि जी
३३. " श्री धर्म चन्द्र जी	५९. " श्री विद्या चन्द्र जी	८५. " श्री शुभ चन्द्र जी
३४. " श्री विद्यानन्दि जी	६०. " श्री सूरचन्द्र जी	८६. " श्री जिनचन्द्र जी
३५. " श्री रामचन्द्र जी	६१. " श्री माघ नन्दि जी	८७. " श्री छन कीर्ति
३६. " श्री रामकीर्ति जी	६२. " श्री ज्ञान नन्दि जी	८८. " श्री भुवन कीर्ति
३७. " श्री अभयचन्द्र जी	६३. " श्री गग कीर्ति	८९. " श्री धर्म कीर्ति
३८. " श्री नरचन्द्र जी	६४. " श्री सिंह कीर्ति	९०. " श्री विशाल कीर्ति
३९. " श्री गगचन्द्र जी	६५. " श्री हेम कीर्ति	९१. " श्री लक्ष्मी चन्द्र जी
४०. " श्री नयनन्दि जी	६६. " श्री पद्म नन्दि	९२. " श्री सहस्र कीर्ति
४१. " श्री हरि चन्द्र जी	६७. " श्री नेमि चन्द्र जी	९३. " श्री नेमि चन्द्र जी
४२. " श्री नैमि चन्द्र जी	६८. " श्री नाभि कीर्ति	९४. " श्री यश कीर्ति
४३. " श्री माघवचन्द्र जी	६९. " श्री नरेन्द्र कीर्ति	९५. " श्री भानु कीर्ति
४४. " श्री लक्ष्मीचन्द्र जी	७०. " श्री चन्द्र जी	९६. " श्री भूषण जी
४५. भट्टारक श्री गुण नन्दि जी	७१. " श्री पद्म कीर्ति	९७. " श्री धर्मचन्द्र जी
४६. " श्री गुणचन्द्र जी	७२. " श्री बद्धमान जी	९८. " श्री देवेन्द्र कीर्ति
४७. " श्री बासवचन्द्र	७३. " श्री अकलक चन्द्र जी	९९. " श्री अमरेन्द्र कीर्ति जी
४८. " श्री लोकचन्द्र जी	७४. " श्री ललित कीर्ति	१००. " श्री रत्न कीर्ति जी
४९. " श्री श्रुतकीर्ति	७५. " श्री केशव चन्द्र जी	१०१. " श्री ज्ञान भूषण जी
५०. " श्री भानुचन्द्र जी	७६. " श्री चारु कीर्ति जी	१०२. " श्री चन्द्र कीर्ति
५१. " श्री महीचन्द्र जी	७७. भट्टारक श्री अभय कीर्ति जी	१०३. " श्री पद्मनन्दि जी
५२. " श्री मेघ चन्द्र	७८. " श्री बसन कीर्ति	१०४. " श्री सकल भूषण जी
५३. " श्री वृषभ नन्दि	७९. " श्री प्रख्यात कीर्ति	१०५. " श्री सहस्र कीर्ति जी
५४. " श्री शिवनन्दि	८०. " श्री सुभ कीर्ति	१०६. " श्री अनन्त कीर्ति जी
५५. " श्री विश्व नन्दि	८१. " श्री धर्म चन्द्र जी	१०७. " श्री हर्षकीर्ति जी
५६. " श्री सिध नन्दि	८२. " श्री रत्न कीर्ति	१०८. " श्री विद्याभूषण जी
५७. " श्री भावन नन्दि	८३. " श्री प्रभा चन्द्र जी	

संवत् १५३२ मे भट्टारक जिनचन्द्र जी ने आम्बेर मे प्रभाचन्द्र जी को बिठाया ज्यां का पाटा की बिगति निम्न प्रकार है :—

८७. भट्टारक श्री प्रभाचन्द्र जी	८८. भट्टारक श्री धर्म चन्द्र जी
८९. " श्री ललित कीर्ति जी	९०. " श्री देवेन्द्र कीर्ति जी
९१. " श्री चन्द्र कीर्ति जी	९२. " श्री देवेन्द्र कीर्ति जी
९३. " श्री नरेन्द्र कीर्ति जी	९४. " श्री सुरेन्द्र कीर्ति जी
९५. " श्री जगत कीर्ति जी	९६. " श्री देवेन्द्र कीर्ति जी
९७. " श्री महेन्द्र कीर्ति जी	९८. " श्री क्षेमेन्द्र कीर्ति जी
९९. " श्री सुरेन्द्र कीर्ति जी	१००. " श्री सुखेन्द्र कीर्ति जी
१०१. " श्री नरेन्द्र कीर्ति जी	१०२. " श्री देवेन्द्र कीर्ति जी (शेष पृ. २७ पर)

नोट—ग्रन्थ सख्या ४४०४ की भट्टारक पट्टावली में छलकीर्ति के स्थान पर पद्मनन्दि लिखा है शेष इसी के अनुरूप है।

“भाव संग्रह” की लिपि प्रशस्ति

□ ले० कुन्दनलाल जैन प्रिन्सिपल

“भाव संग्रह” जैन साहित्य की प्राकृत भाषा का सर्वोत्तम सैद्धान्तिक एवं दार्शनिक ग्रंथ है यह ग्रन्थराज आचार्य विमलसेन के शिष्य देवसेन ने विक्रम संवत् ११० के लगभग रचा था। आचार्य देवसेन की दर्शनसार, आराधना सार, तत्त्वसार, लघु नयचक्र आलाप पद्धति आदि अन्य कई बहुमूल्य कृतियों का निर्माण किया था, वे अपने समय के बहुभूत विख्यात विद्वान् थे। चूंकि भाव संग्रह मुद्रित हो चुका है और इसके विषय में विद्वानों द्वारा सविस्तार ऊहापोह हो चुका है अतः प्रस्तुत लेख का लक्ष्य “भाव संग्रह” की चर्चा या विवेचना नहीं है अपितु “भाव संग्रह” की वि० सं० १६०६ में प्रतिलिपि कराई गई थी। इस प्रति में लिपिकर्ता की विस्तृत प्रशस्ति दी गई है जो ऐतिहासिक दृष्टि से अति महत्त्वपूर्ण है अतः उसी लिपि प्रशस्ति को प्रकाश में लाने के लिए ही यह लेख लिखा जा रहा है।

“भाव संग्रह” की यह प्रति मूलगाथा मात्र है और यह ५८ पत्रों की पूरी प्रति रही होगी। पर दुर्भाग्यवश हमारे संग्रह में इसका अन्तिम पत्र ५८वां ही सुरक्षित मिला है शेष ५७ पत्रों का क्या हुआ कुछ नहीं कहा जा सकता। बहरहाल इतिहास की दृष्टि से यह अकेला ही पत्र अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है अतः मैंने इसे बड़ी सुरक्षापूर्वक संभालकर रख छोड़ा है।

“भाव संग्रह” के इस अन्तिम पत्र की लम्बाई २८ से. मी. तथा चौड़ाई १२ से. मी. है। इसमें प्रत्येक पत्र पर ११-११ पंक्तियाँ हैं तथा प्रत्येक पंक्ति में ३४-३४ अक्षर विद्यमान हैं। इस प्रति का लिपिकाल संवत् १६०६ वर्ष ज्येष्ठ सुदि ८ भौमवार लिखा है। यह प्रति तक्षकगढ़ (टोडा रायसिंह) नामक महादुर्य के आदिनाथ चैत्यालय में लिखी गई थी।

“भाव संग्रह” के लिपिकाल में तक्षकगढ़ के शासक महाराजाधिराज श्री रामचन्द्र जी राव राज सिंहासन पर

विराजमान थे। इसी समय भ० पद्मनन्दी, भ० शुभचन्द्र, भ० जिनचन्द्र, भ० प्रभाचन्द्र के शिष्य मण्डलाचार्य श्री धर्मचन्द्र जी महाराज की परम्परा में सावड़ा गोत्रिय खण्डेलवाल वंशी साह बीसा और उनकी धर्मपत्नी श्रीमती विजयश्री के वंश में साह टेहू नामका बड़ा धर्मात्मा और साहित्यानुरागी एवं गुरुभक्त सुश्रावक पुत्र हुआ जिसने पंचकल्याणक व्रत के उच्चापनार्थ यह “भाव संग्रह” ग्रन्थ लिखा कर आचार्य श्री हेमकीर्ति के लिए ज्ञानवरणी कर्मक्षय हेतु प्रदान किया था। साह बीसा से साह टेहू तक के वंश वृक्ष में उनके सभी पुत्रों और उनकी पत्नियों का नामोल्लेख किया गया है।

उपर्युक्त भ० श्री पद्मनन्दी आदि दिल्ली-जयपुर शाखा का प्रतिनिधित्व करते थे, जिनका परिचय अन्य उपलब्ध होता है। साह टेहू ने “णायकुमार चरित्र” की भी प्रति लिखवाकर भ० ललित कीर्ति को सं० १६१२ ज्येष्ठ सुदी ५ शनिवार को प्रदान की थी। “णायकुमार चरित्र” महाकवि पुष्पदंत की श्रेष्ठ कृति है।

यह साह टेहू अपने समय का बड़ा प्रबुद्ध श्रावक था जिसे ग्रंथों के प्रचार प्रसार में अत्यधिक अभिरुचि थी और ज्ञानवृद्धि के लिए धर्मग्रंथ लिखाकर आचार्यों व भट्टारकों को उपलब्ध कराता था। धन्यास्ते सुकृतिनः।

गाथा की लिपि प्रशस्ति

संवत् १६०६ वर्ष ज्येष्ठ सुदि ८ भौमवासरे श्री आदिनाथ चैत्यालये तक्षकगढ़ महादुर्य महाराजाधिराज राउ श्री रामचन्द्र राज्ये प्रवर्तमाने श्री मूलसंवे नंदाभ्याये बलात्कारणने सरस्वतीगच्छे श्रीकुन्दकुन्दाचार्यान्वये भ० श्री पद्मनन्दीदेवा तत्पट्टे भ० श्री शुभचन्द्रदेवा तत्पट्टे भ० श्री जिनचन्द्रदेवा तत्पट्टे श्री प्रभाचन्द्रदेवा तत्पट्टे शिष्य मण्डलाचार्य श्री धर्मचन्द्रदेवाः तदाभ्याये खण्डेलवालान्वये सावड़ा गोत्रे साह बीसा तत्भार्या विजयश्री तत्पुत्राः

चत्वारः प्र० सा० सोढ़ा द्वि० सा० गाल्हा तृ० सा० रत्ना,
च० सा० माल्हा । सा० सोढ़ा भार्या भोली तत्पुत्र पंच
प्र० सा० चाहड़ द्वि० साधी बा तृ० सा० दूल्हा, च० सा०
देवा, पं० सा० पूना । सा० चाहड़ भार्या मदना, सा०
दूल्हा भार्या करमा तत्पुत्र त्रयः प्र० सा० पोया, द्वि०
साथेल्हा, तृ० सा० श्रीपाल, सा० पोया भार्या पौतिरि
तत्पुत्रौ द्वौ प्र० सा० सुरताण, द्वि० चि० पचाइण, सुर-
ताणभार्या सुहागदे सा० थेल्हा भार्ये द्वे प्र० सरसुति, द्वि-
लाडो तत्पुत्रौ द्वौ प्र० डूगरसी भार्या नाधी द्वि० सा०
भेल्हा, सा० श्रीपाल भार्ये द्वे प्रथमा सरूपदे, द्वितीया लहुडी,
तत्पुत्र सा० रूपा । सा० देवाभार्ये द्वे प्र० साभी० द्वि०
सरूपदे तत्पुत्राः त्रयः प्र० सा० सरवण, भार्या होली,
तत्पुत्र सा० हेमा, सा० टोहा भार्या चन्द्रा सा० ईसर भार्ये
द्वे प्रथम ईसर दे, द्वि० बाह, सा० रतना भार्या सिरमा
तत्पुत्राः त्रयः प्र० सा० डालू भार्ये द्वे प्र० डाली द्वि०

नीलादे तत्पुत्र बीवसी द्वि० सा० डूगा भार्या नानी तत्-
पुत्राः त्रयः प्र० सा० छीतर भार्या छायलदे तत्पुत्र चिकीषु ।
सा० चौहथ भार्या चतुरवदे, तृ० चि० राणा । सा० भेला
भार्या भावलदे । सा० माल्हा भार्ये द्वे प्र० नाल्हा, द्वि०
मेहां । तत्पुत्रौ द्वौ प्र० सा० टेहू, द्वि० सा० नोता, सा०
टेहू भार्या त्रयः प्र० तिहुणश्री, द्वि० सुहागदे, तृ० गूजरि
तत्पुत्रौ द्वौ प्र० सा० पदमसी भार्ये द्वे प्र० प्रतापदे द्वि०
पाटमदे, द्वि० चि० सा० गोपाल । सा० नोता भार्ये द्वे प्र०
नोणादे द्वि० कोउमदे तत्पुत्रौ द्वौ प्र० चि० आषा भार्या
अहंकारदे द्वि० चि० सांगा एतेषां मध्ये सा० टेहू.....
(स्याही फेर मिटा दिया है) इदं शास्त्रं लिखाप्य कल्याण
व्रत उद्योतनार्थं आचार्य श्री (धर्मचंद्राय काट दिया है) हेम-
कीर्तयेदमां ज्ञान वा ज्ञानदानेन इत्यादि पठनीयं । शुभं भवतु ।

श्रुतकुटीर, ६८ कुन्ती मार्ग, विश्वास नगर
शाहदरा, दिल्ली-११००३२

(पृ० २५ का शेषांश)

अजमेर गादी पर रहे भट्टारकों का क्रम निम्न प्रकार दिया हुआ है—

- | | |
|---------------------------------|------------------------------------|
| १. भट्टारक श्री विद्या नन्दि जी | २. भट्टारक श्री महेन्द्र कीर्ति जी |
| ३. „ श्री भुवन भूषण जी | ४. „ श्री अनन्त कीर्ति जी |
| ५. „ श्री विजय कीर्ति जी | ६. „ श्री तिलोक कीर्ति जी |
| ७. „ श्री भुवन कीर्ति जी | ८. „ श्री सकल भूषण जी |

उक्त पट्टावलि का “भट्टारक सम्प्रदाय” के भट्टारकों की लिस्ट से मिलान करने पर निम्न प्रकार से अंतर मिलता है जो दृष्टव्य है—

उक्त पट्टावलि की क्रम संख्या ५ और ६ के बीच में कुन्दाकुन्दाचार्य का नाम और उपलब्ध होता है । इसी प्रकार क्रम संख्या १८वें के स्थान में जटासिंह नन्दि, २८वें के स्थान में श्रीभूषण, ३३वें के स्थान पर धर्म नन्दि, ३६वें के स्थान पर नागचन्द्र, ४१वें के स्थान पर हरिश्चन्द्र, ४२वें के स्थान पर भ० महीचन्द्र, ४५वें के स्थान पर गुणकीर्ति, ५३वें के स्थान पर ब्रह्मानन्दि, ५६वें के स्थान पर हरिनन्दि, ६३वें के स्थान पर गंगकीर्ति, ६६वें के स्थान पर चारुनन्दि, ८७वें के स्थान पर रत्नकीर्ति एवं ९६वें के स्थान पर भ० सुरेन्द्रकीर्ति मिलता है ।

इसी पट्टावलि में उल्लिखित क्र० सं० १०१ से १०८ तक के सभी भट्टारकों के नाम के भी “भट्टारक सम्प्रदाय” की सूची में नहीं है इसके स्थान पर क्रमशः भट्टारक विद्यानन्दि, भ० महेन्द्रकीर्ति, भ० अनन्तकीर्ति, भ० भुवनभूषण तथा भ० विजयकीर्ति का नाम है ।

जैन अनुशीलन केन्द्र, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

आचार्य कुन्दकुन्द की जैन दर्शन को देन

□ डा० लालचन्द जैन, वैशाली

आचार्य भूतबली और पुष्पदन्त के पश्चात् आगमोत्तर साहित्य के सृजक, अध्यात्म और तत्त्वज्ञान के सर्वप्रथम प्राकृत भाषा में निरूपक, भगवान महावीर के और गण-धर के समान मंगल-रूप आचार्य कुन्दकुन्द ही एक ऐसे आचार्य हैं जिन्हें जैन धर्म की दोनों परम्परायें समान रूप से प्रामाणिक मानती हैं। आचार्य कुन्दकुन्द ने विपुल साहित्य-सृजन कर अपने उत्तरकालवर्ती आध्यात्मिक और जैन दार्शनिक आचार्यों के लिए आदर्श प्रस्तुत किया है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने अपनी बहुमूल्य कृतियों में तत्व-मीमांसा, ज्ञानमीमांसा और आचारमीमांसा का विवेचन किया है। वर्तमान में उपलब्ध इनके पाहुड़ो (ग्रन्थ) के अध्ययन करने के आधार पर यह कहा जा सकता है कि व्यवहार-निश्चयनयवाद, सप्तभङ्गी, आत्म-निरूपण शैली, उपयोग सिद्धान्त, त्रिविध चेतना, ज्ञान की स्व-पर प्रकाशता, स्वभाव-विभाव ज्ञान, पुद्गल और आत्मा का संयोग, परमाणुवाद, सर्वज्ञतावाद आदि जैन दर्शन को ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण भारतीय दर्शन को उनकी अनुपम देन है।

निश्चय और व्यवहारनय

नयवाद दर्शन-जगत का प्रमुख सिद्धान्त है। निश्चय और व्यवहार नय का सिद्धान्त भारतीय दर्शन को आचार्य कुन्दकुन्द की अद्वितीय देन है। समयसार के अध्ययन से ज्ञात होता है कि निश्चय नय और व्यवहार नय पदार्थ निरूपण की दो दृष्टियाँ हैं। व्यवहार नय के द्वारा वस्तु के अयथार्थ स्वरूप का और निश्चय नय के द्वारा उसके यथार्थ स्वरूप का विवेचन किया गया है। आचार्य कुन्दकुन्द ने व्यवहार नय को अभूतार्थ और निश्चयनय को भूतार्थ कहा है¹। वे कहते हैं कि जो नय आत्मा को कर्मा के बन्धन से रहित, पुद्गल पदार्थ के स्पर्श से रहित, अनन्य, नियत, अविशेष और अन्य पदार्थों के संयोग से रहित देखने वाला है वह निश्चय नय कहलाता है² और जो आत्मा

को पुद्गल द्रव्य का कर्ता, कर्म बन्धन से युक्त, कर्म रूप परिणमन और कर्म-ग्रहण करने वाला मानता है वह व्यवहार-नय कहलाता है³। समयसार में निश्चय नय के द्वारा शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा का और व्यवहार नय से पुद्गल कर्मबद्ध सासारिक आत्मा का विवेचन किया गया है। व्यवहार नय से वस्तु के स्वरूप का विवेचन वस्तु के यथार्थ स्वरूप के समझने के लिए किया है⁴। इसी कथन को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि जिस प्रकार म्लेच्छ लोग म्लेच्छ जनो की भाषा के बिना वस्तु के स्वरूप को नहीं समझ सकते हैं उसी प्रकार व्यवहार के बिना परमार्थ को नहीं समझा जा सकता है।

प्रमेय विवेचन

आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रंथों में प्रमेय निरूपण अत्यधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि उनको भलीभाँति जानने से मोक्ष की प्राप्ति होती है। आचार्य ने कहीं पर द्रव्य⁵ को और अन्यत्र लोक-अलोक⁶ एवं पदार्थ को ज्ञेय⁷ अर्थात् प्रमेय कहा है। दूसरे शब्दों में ज्ञेय या प्रमेय का अर्थ पदार्थ, द्रव्य और लोक-अलोक है। सम्यग्दर्शन मोक्ष की प्रथम श्रेणी है। इसलिए आचार्य ने दसण पाहुड़ में छह द्रव्य⁸—जीव, पुद्गलकाय, धर्म, अधर्म, काल, आकाश, नौ पदार्थ⁹—जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा, वध और मोक्ष, पाच अस्तिकाय¹⁰—जीव, पुद्गलकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय एवं सात तत्त्वों (पुण्य और पाप के अतिरिक्त) के स्वरूप का श्रद्धान करने वाले को सम्यग्दृष्टि कहा है¹¹। सूत्र पाहुड़¹² में जीव, अजीव आदि बहुत प्रकार के पदार्थों और हेय-उपादेय तत्त्व के जानने वाले को सम्यग्दृष्टि कहा है। इसी प्रकार प्रवचनसार में आचार्य ने द्रव्य, गुण और पर्याय को¹³ एवं अन्यत्र केवल द्रव्य¹⁴ को अर्थ बहकर बतलाया है कि अर्थ के जानने वालों का मोह नष्ट हो जाता है¹⁵ और मोह के क्षय से मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है।

सत् या सत्ता

जैन दर्शन में सत्, द्रव्य, सत्ता अर्थ और वस्तु एकार्थक माने गए हैं। सत् का अर्थ अस्तित्व होता है और यही अर्थ सत्ता का भी है। आचार्य कुन्दकुन्द ने सत् या सत्ता को द्रव्य का लक्षण बतलाया है^{१६}। यह सत् सभी द्रव्यों में विद्यमान रहता है^{१७}।

सत्ता की विशेषताएँ

सत्ता के लक्षण में निम्नांकित विशेषतायें परिलक्षित होती हैं^{१८}—

१. सत्ता समस्त पदार्थों में रहती है।
२. सत्ता सविश्वरूप अर्थात् नाना प्रकार के स्वरूपों में युक्त है।
३. सत्ता अनन्तपर्यायात्मक है।
४. सत्ता उत्पाद-व्यय ध्रौव्यात्मक है।
५. सत्ता प्रतिपक्ष है अर्थात् समस्त प्रतिपक्षी धर्मों से युक्त है।
६. सत्ता एक है।
७. सत्ता का विनाश नहीं होता है।

द्रव्य का स्वरूप

पञ्चास्तिकाय में आचार्य ने द्रव्य को सत्ता से अभिन्न कह कर सत्ता को ही द्रव्य का लक्षण कहा है^{१९}। जयति लक्षण की अपेक्षा सत्ता और द्रव्य में अन्तर है^{२०} लेकिन वास्तव में सत्ता और द्रव्य एक ही है। द्रव्य के लक्षण में निम्नांकित विशेषतायें हैं^{२१}—

१. द्रव्य की व्युत्पत्ति के अनुसार जो उन-उन (अपनी-अपनी) गुण-पर्यायों को प्राप्त होता है वह द्रव्य कहलाता है।
२. द्रव्य सत् स्वरूप है।
३. द्रव्य उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य स्वरूप है।
४. द्रव्य गुण-पर्याय स्वरूप है।
५. द्रव्य अपने स्वभाव से है अर्थात् द्रव्य अपरित्यक्त स्वभाव है।

द्रव्य-स्वरूप की व्याख्या

आचार्य कुन्दकुन्द ने द्रव्य-स्वरूप की व्याख्या करते हुए बतलाया है कि अपने गुणों और नाना प्रकार की पर्यायों, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्त द्रव्य का तीनों काल में

सद्भाव बना रहना स्वभाव है^{२२}। सत् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप है^{२३}, अतः सत् ही द्रव्य का स्वभाव और ऐसा लक्षण है जो सभी द्रव्यों में पाया जाता है^{२४}। इसलिए द्रव्य स्वभाव से सत्त्वान या सत्तावान है।

आचार्य ने यह स्पष्ट कर दिया है कि द्रव्य और सत् भिन्न-भिन्न नहीं हैं। इसके विपरीत सत् द्रव्य से अभिन्न है। ऐसा नहीं है कि सत् या सत्ता अलग है और द्रव्य अलग है तथा सत्ता सामान्य के संयोग से द्रव्य सत्तावान हो जाता है। इसलिए कहा है कि यदि द्रव्य स्वभाव से सत् रूप न होता तो वह असत् हो जाएगा अथवा सत् से भिन्न हो जाएगा। अतः द्रव्य स्वयं सत्ता स्वरूप है, ऐसा मानना चाहिए^{२५}। सत्ता रूप परमत्व का द्रव्य-गुण और पर्यायों में रहने के कारण सर्वत्र विस्तार है^{२६}। द्रव्य और सत्ता में प्रदेष्टे भेद न हो कर गुण-गुणी या अन्यत्व रूप भेद है^{२७}। द्रव्य गुणी है और सत्ता गुण है^{२८}। इसलिए द्रव्य सत्ता का स्वरूप है^{२९}।

द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वरूप है

आचार्य ने द्रव्य का लक्षण उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य कहा है। उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य द्रव्य का परिणाम है^{३०}। द्रव्य का 'स्वयं उत्पाद अथवा विनाश नहीं होता है। पर्याय की अपेक्षा ही द्रव्य उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य रूप होता है^{३१}। उत्पाद एवं विनाश द्रव्य में रहने वाली पर्यायों का होता है^{३२}। उत्तर पर्याय की उत्पत्ति और पूर्व पर्याय का विनाश होना क्रमशः उत्पाद-व्यय कहलाता है और इन दोनों अवस्थाओं में अस्तित्व रूप से रहना ध्रौव्य कहलाता है। उदाहरण द्वारा आचार्य ने बतलाया है कि "मनुष्य पर्याय से नष्ट हुआ जीव देव अथवा अन्य पर्याय रूप हो जाता है। लेकिन दोनों पर्यायों में जीवत्वभाव का सद्भाव मौजूद रहता है। जीव का न स्वयं उत्पाद होता है और न उसका विनाश होता है। वही जीव उत्पन्न होता और मरता है लेकिन सत्स्वरूप स्वभाव से वह न मरता है और न उत्पन्न होता है^{३३}।

उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य का परस्पर सम्बन्ध बतलाते हुए कहा है कि व्यय के बिना उत्पाद नहीं होता है और उत्पाद के बिना व्यय नहीं होता है। उत्पाद और व्यय दोनों ध्रौव्य के बिना नहीं होते हैं।^{३४} इस प्रकार उ १६ द

व्यय और ध्रौव्य में परस्परान्वय सम्बन्ध बतलाया है। यद्यपि उत्पादादि पर्यायों में होते हैं लेकिन वे द्रव्य से भिन्न नहीं हैं। क्योंकि पर्याय द्रव्य में रहती है।^{१५} अतः सिद्ध है कि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य एक ही समय द्रव्य में होते हैं। इस-लिए उत्पादादि द्रव्य रूपा हैं। द्रव्य से भिन्न नहीं हैं।^{१६} इस प्रकार आचार्य ने द्रव्य को उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य रूप कहा है।

द्रव्य गुण-पर्याय वाला है

कुन्दकुन्दाचार्य ने द्रव्य की एक यह विशेषता बतलाई है कि द्रव्य गुण-पर्याय स्वरूप है। ऐसा कहने का तात्पर्य है कि द्रव्य परिणमनशील है। जो उत्पन्न और विनष्ट होती है उसे पर्याय कहते हैं। पर्याय दो प्रकार की होती हैं।

स्वभाव पर्याय और विभाव पर्याय

आचार्य कुन्दकुन्द ने मनुष्य, नारक, तिर्यच और देव को विभाव पर्याय और कर्मरूप उपाधि से रहित पर्यायों को स्वभाव पर्याय कहा है।^{१७} जिनके द्वारा द्रव्यों में भेद किया जाता है उसे गुण कहते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द की विशेषता यह है कि उन्होंने द्रव्य और गुण-पर्याय अन्वय होते हुए भेद भी दिखलाया है। द्रव्य और गुणपर्याय अभिन्न हैं क्योंकि पर्याय के बिना द्रव्य नहीं है और द्रव्य के बिना परिणाम नहीं है।^{१८} पञ्चास्तिकाय में भी कहा है कि पर्याय से रहित द्रव्य और द्रव्य से रहित पर्याय नहीं होती है। इसलिए द्रव्य-पर्याय दोनों परस्पर में अभिन्न हैं।^{१९} द्रव्य के बिना गुण नहीं रह सकते और न गुण के बिना द्रव्य ही सम्भव है। इसलिए द्रव्य और गुण में अव्यतिरेक अर्थात् अभिन्न भाव है।^{२०} द्रव्य जब जिस रूप से परिणमन करता है तब वह उसी रूप हो जाता है।^{२१} द्रव्य स्वयं एक गुण से अन्य गुण रूप परिणमन करता है इसलिए द्रव्य गुण-पर्याय वाला है।^{२२}

द्रव्य और गुण-पर्याय के भिन्न और अभिन्न सम्बन्ध को समझने के लिए आचार्य के पृथक्त्व और अन्यत्व को समझना होगा।

वस्तुओं के प्रदेशों में अत्यन्त भेद को पृथक्त्व नामक भेद और अतद्भाव को (वह यह नहीं है) अन्यत्व भेद कहते हैं।^{२३}

द्रव्य-गुण-पर्याय से पृथक् सर्वथा भिन्न नहीं है क्योंकि उनमें प्रदेश-भेद नहीं है। किन्तु उनमें अन्यत्व भेद है।^{२४} क्योंकि जो गुण हैं वे द्रव्य नहीं हैं और जो द्रव्य है वह गुण नहीं है। द्रव्य और गुण-पर्याय में स्वरूप भेद तो है लेकिन वे सर्वथा भिन्न नहीं है। इसी प्रकार यदि द्रव्य गुण से सर्वथा भिन्न हो और गुण द्रव्य से भिन्न हो तो (एक) द्रव्य अनन्त हो जायेगा अथवा द्रव्य का अभाव हो जायेगा।^{२५} अतः द्रव्य और गुण सर्वथा भिन्न नहीं है। इसके विपरीत व्यपदेश, संस्थान, संख्या और विषय की अपेक्षा द्रव्य और गुण-पर्याय में भेद होते हुए भी अभेद है।^{२६} उदाहरण^{२७} द्वारा आचार्य ने बतलाया है कि सम्बन्धियों के अलग-अलग होने पर एक होने पर भी स्वामि-भाव हो सकता है। जैसे धन और पुरुष दोनों भिन्न-भिन्न हैं और धन से धनी सम्बन्ध बनता है। इसी प्रकार ज्ञान और पुरुष एक होने पर वह ज्ञानी कहलाता है। लेकिन जैसे धन धनी से सर्वथा भिन्न है उसी प्रकार ज्ञान ज्ञानी से भिन्न नहीं है।^{२८} यदि ज्ञान भी ज्ञानी से धन के समान सर्वथा भिन्न माना जाय तो आत्मा और ज्ञान दोनों अचेतन (जड़) हो जायेंगे।^{२९} आचार्य ने इस सिद्धांत का खण्डन किया है कि ज्ञान और आत्मा के भिन्न मानने पर भी समवाय सम्बन्ध से आत्मा ज्ञानी हो जाता है। समवाय सम्बन्ध से आत्मा को ज्ञानी मानना सिद्ध नहीं होता है क्योंकि अज्ञान के साथ आत्मा का एकत्व सिद्ध होता है।^{३०} अतः उन्होंने गुण-गुणी के तादात्म्य सम्बन्ध को समवाय कह कर उसे अपृथग्भूत और अयुतसिद्ध बतलाया है।^{३१} अतः द्रव्य और गुण अयुतसिद्ध और अपृथग्भूत हैं अर्थात् इनमें समवाय सम्बन्ध है। दृष्टान्त द्वारा उन्होंने बतलाया है कि दर्शन-ज्ञान गुण आत्मा से सर्वथा भिन्न नहीं है किन्तु व्यय-देश-संज्ञादि की अपेक्षा पृथक् कहे जाते हैं। इस प्रकार द्रव्य और गुण-पर्याय कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न हैं।^{३२} अर्धमागधी आगम में द्रव्य और गुण-पर्याय को इस प्रकार कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न नहीं सिद्ध किया गया है। अतः यह आचार्य की अपूर्व देन है।

(ख) द्रव्य का स्वभाव नहीं छूटता

आचार्य कुन्दकुन्द ने द्रव्य की एक इस विशेषता का

भी उल्लेख किया है कि जीवादि छोटे द्रव्य परस्पर एक-दूसरे में प्रवेश करते हैं, अवकाश देते हैं और एक दूसरे से मिलते हैं तो भी वे मिल कर एक नहीं होते हैं, क्योंकि वे कभी अपने स्वभाव का त्याग नहीं करते हैं।" सभी द्रव्यों का विशेष स्वभाव होता है जिससे उनमें भेद बना रहता है।

एक प्रश्न के उत्तर में आचार्य ने बतलाया है कि यद्यपि धर्म, अधर्म और आकाश एक क्षेत्रावगाही है अर्थात् एक ही स्थान में रहते हैं और अमूर्त हैं लेकिन आकाश को गति और स्थिति का कारण नहीं माना जा सकता है। अन्यथा ऊर्ध्व गति स्वभाव वाले सिद्ध जीव को लोकाग्र भाग में नहीं रुकना चाहिए।" लेकिन वे लोकाग्र भाग में स्थिर हो जाते हैं। इससे सिद्ध है कि आकाश गति और स्थिति स्वभाव वाला नहीं है। आकाश से भिन्न गति और स्थिति स्वभाव वाले धर्म और अधर्म द्रव्य स्वतन्त्र हैं।" गति और स्थिति का कारण आकाश को मानने से अलोक की हानि और लोक की वृद्धि हो जायेगी अर्थात् लोक-अलोक का विभाग नष्ट हो जायेगा।" अन्त में आचार्य ने धर्म-अधर्म और आकाश को अपृथग्भूत, समान-परिमाण वाले और विशेष स्वभाव वाले होने से कथञ्चित् भिन्न और कथञ्चित् अभिन्न कहा है।"

३. आत्म-निरूपण

कुन्दकुन्दाचार्य के ग्रन्थों में विशेषकर समयसार में आत्मा का जो विवेचन उपलब्ध है वह आगमों में उपलब्ध नहीं है। आचार्य ने आत्मा का स्वरूप विवेचन निश्चय और व्यवहार नय की पद्धति से किया है जो अद्वितीय है। उन्होंने शुद्ध निश्चय नय के द्वारा आत्मा के शुद्ध स्वरूप का वर्णन किया है और व्यवहार नय के द्वारा ससारी आत्मा का, जो शुद्ध आत्मा को समझने के लिए आवश्यक है।" क्योंकि कर्म उपाधि से उत्पन्न गुण और पर्यायों से रहित शुद्ध आत्मा ही उपादेय है।" एकत्व विभक्त शुद्ध आत्मा की प्राप्ति सुलभ नहीं है, क्योंकि सासारिक जीवों ने काम, भोग और बन्ध की कथा सुनी है, उससे परिचित हैं और अनुभव भी किया है। लेकिन शुद्ध आत्मा की कथा कभी न सुनी है, न उससे परिचित हैं और उसका न अनुभव किया है।" इसलिए वे कहते हैं कि मैं अपने

वैभव (ज्ञान वैभव) के द्वारा एकत्व शुद्ध आत्मा का निरूपण करूंगा।" इसी के जानने से मोक्ष मिल सकता है।"

आचार्य कुन्दकुन्द के आत्म निरूपण द्वारा हम देखेंगे कि जनका आत्मवाद बौद्ध दर्शन से किस प्रकार भिन्न है। बौद्ध दर्शन में विशेष कर पालि-त्रिपिटक 'मल्लिन्दपञ्चो' में यह तो प्रतिपादित किया गया है कि आत्मा क्या नहीं है, लेकिन वहाँ यह नहीं बतलाया गया कि आत्मा क्या है। यही कारण है कि उनको अनात्मवादी कहा जाता है।

भावात्मक शैली द्वारा आत्मस्वरूप निरूपण

इस शैली के द्वारा उन्होंने बतलाया है कि शुद्ध आत्मा क्या है, कैसा है। विभिन्न गाथाओं द्वारा बतलाया कि शुद्ध आत्मा ज्ञायक स्वरूप, उपयोग स्वरूप, शुद्ध, दर्शन-ज्ञानमय अरूपी (अमूर्तिक) पर द्रव्य से भिन्न, रूप-रस-गन्ध से रहित अव्यक्त, चैतन्य गुण से युक्त, शब्द रहित, इन्द्रियो द्वारा अग्राह्य, निराकार, जन्म-जरा और मरण से रहित आठ गुणों से युक्त है। मिट्टी की तरह शरीर रहित, अविनाशी, अतीन्द्रिय, निर्मल और विशुद्धात्मा असंस्थावर से भिन्न है। शुद्ध आत्मा निदण्ड निद्वन्द्व, निर्मम, निष्कल, निरालम्ब, निराग, निदोष, निर्मूढ, निर्भय, निर्ग्रन्थ, निशल्य, निष्काम, निष्क्रोध, निर्मान और निर्मद अतीन्द्रिय, महान, नित्य, अचल, श्रेष्ठ पर पदार्थों के आलम्बन से रहित शुद्ध है। मोक्ष पाहुड में भी कहा है कि आत्मासिद्ध, शुद्ध, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी और केवलज्ञानरूप है।

निषेधात्मक शैली द्वारा आत्म-स्वरूप निरूपण

निषेधात्मक शैली द्वारा आचार्य ने बताया है कि शुद्ध आत्मा क्या नहीं है। शुद्ध जीव न प्रमत्त है, न अप्रमत्त है। उसके न ज्ञान है, न दर्शन है और न चरित्र है, न कर्म है न नो-कर्म है, न-सच्चित्ताचित् पदार्थ है। शरीरादि बद्ध और घनधान्य आदि अबद्ध पुद्गल जीव के नहीं है और न वह अनेक भावों से युक्त है। यदि ये पुद्गल द्रव्य जीव के होते तो पुद्गल भी जीव हो जाता। व्यवहार नय से शरीर और जीव एक है लेकिन निश्चयनय की दृष्टि से शरीर और जीव भिन्न-भिन्न है। जीव समस्त परमावों से भिन्न है। अध्यवसान, कर्म, अध्यवसान भावों में तीव्र

अथवा मन्द अनुभाग गत नो कर्म, कर्म-उदय, कर्मों का तीव्र अथवा मन्द भाव से युक्त अनुभाग, जीव और कर्म का संयोग जीव नहीं है। क्योंकि ये सभी भाव पुद्गल द्रव्य के परिणाम हैं। आचार्य ने उदाहरण द्वारा समझाया है कि व्यवहार नय से अध्यवसानादि भाव जीव उसी प्रकार हैं जैसे कि सेना के निकलने पर सेना के समूह को राजा व्यवहार से कहा जाता है।^{१३} वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, रूप, शरीर, सस्थान, सहनन, राग, द्वेष, मोह, प्रत्यय, कर्म, वर्ग, वर्गणा, स्वर्धक, अध्यवसाय, अनुभाग, योग-स्थान, वन्धस्थान, उदयस्थान, मार्गणास्थान, स्थितिवन्ध-स्थान, मन्त्रेणस्थान, समलवन्धस्थान जीव समास और गुण स्थान जीव नहीं है।^{१४} क्षापिक भाव, ज्ञायोपशमिक, औदयिक और औपशमिक भाव जीव नहीं है। चतुर्गति रूप सगार परिभ्रमण, जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक, कुल, स्त्री, पुरुष, नपुमकादि पञ्चाय शुद्ध जीव के नहीं है।^{१५} क्योंकि वर्णादि उपर्युक्त भाव पुद्गल द्रव्य के परिणाम हैं। अतः व्यवहार नय की अपेक्षा उपर्युक्त भाव जीव के कहलाते हैं।^{१६} जिस प्रकार दूध और पानी दोनों पृथक्-पृथक्

होते हैं लेकिन आपस में मिल जाने पर एक से प्रतीत होने लगते हैं। उसी प्रकार जीव और उपर्युक्त पुद्गल के परिणाम पृथक्-पृथक् होते हैं और परस्पर में मिल जाने पर एक से प्रतीत होने लगते हैं।^{१७} उदाहरणार्थ किसी पुत्र को मार्ग में लुटते देखकर व्यवहार से कहा जाता है कि अमुक मार्ग लुटता है। उसी प्रकार जीव में कर्मादि देखकर व्यवहारी लोग उन्हें जीव के कहने लगते हैं। जैसे मार्ग नहीं लुटता है पुरुष लुटता है, उसी प्रकार से वास्तव में कर्म, वर्णादि जीव के नहीं होते हैं।^{१८} सगरी जीवों के ससारावस्था में ही उपर्युक्त कर्म, वर्णादि होते हैं। मुक्तावस्था में उसके नहीं होते हैं। यदि जीव के साथ वर्णादि भावों का अभिन्न संबन्ध होता तो जीव और अजीव में कोई भेद ही नहीं होता। दूसरा दांप यह आयेगा कि पुद्गल द्रव्य को जीव मानना पड़ेगा।^{१९} अतः एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय जीव, बादर, सूक्ष्म, पण्डित अर्थात् ये सब नाम कर्म की प्रकृतियाँ हैं। ये सब व्यवहार नय की अपेक्षा जीव नहीं हैं, वास्तव में (पारमार्थिक दृष्टि में) नहीं हैं।^{२०}

(क्रमशः)

सन्दर्भ-सूची

१. समयसार, गा० ११ २. वही, गाथा १५
३. वही, गाथा १०८ ४. वही, गाथा ८
५. '...जेय दव्व...' प्र० सा०, गा० ११३६
६. 'जेयं तोमालोय' वही, गा० ११२३
७. '...अट्ठा जेयणगा...' वही, गा० ११२८
८. द्रष्टव्य-प० का० गा० ६७, एव नि० सा०, गा० ६
९. प० का०, गा० १०८ १०. वही, गा० ४
११. छह दव्व णव तयथा पचत्थी सत्त तच्च णिट्ठो ।
सट्ठं ताणं रुवं सो सट्ठिं मुणेश्वरो ॥
दसण पाहुड, गा० १६
१२. सू० पाहुड, गा० ५
१३. दव्वणि गुणा तेसि पज्जाया अट्ठमणयाभणिया ।—
प्र० सा०, ११८७
१४. अत्थो खलु दव्वमओ... वही, २११
१५. वही, गा० ८६ एव ८८ ।
१६. (क) दव्व सहावसिद्धं सदिति... प्रवचनसार, २१६
(ख) सदवट्ठं सहावे दव्वति... वही, गा० २११७
१७. इह विविहलक्खणाणं लक्खणमेगं सदिति सव्वगय ।
भावचनसार, २१५
१८. पञ्चास्तिकाय, गा० ८

१९. 'दव्वियं त भण्णने अण्णमूदं तु सत्तादो ॥' वही, गा० ६
२०. प्र० सा० गा० २११८
२१. (क) दव्विदि गच्छदि ताइ ताइ सव्वमणज्जयाइ ज ।
प० काय ६
(ख) दव्व सत्त्वक्खणिणं उपादव्वमूदं वत्तं पजुत्तम् ।
गुणपज्जयासय वा ज त भण्णनि मयण्णहू ॥—
वही, गा० १०
(ग) अपरिचत्तसहावेणुपादव्वयधुयत्तमजुत्तम् ।
गुणव च सपज्जाय ज त दव्वति वुव्वति ॥—
प्र० सा० २१३
२२. सव्भावो हि सहावो... प्र० सा०, गा० २१४
२३. वही, गा० २१७
२४. इह विविहलक्खणाणं लक्खणमेगं सदिति सव्वगय ।—
वही, गा० ५
२५. वही, गा० २१६
२५. (क) ण हवदि जदि सट्ठं अमद्वुव हवदि त कधदव्वं ।
हवदि पुणो अण्ण वा तम्हा दव्वं सय सत्ता ॥—
वही, गा० २१३३
२६. वही, गा० २११५ २७. वही, गा० २११६
२८. जो खलु दव्वसहावो परिणामो सो गुणो सदविसिट्ठो ।
सदवट्ठं सहावे दव्वति ॥ प्र० सा० २११७

३६. दम्बत्तं पुणभावो तम्हा दम्बं सयंसत्ता ॥—

प्रा० सा०, गा० २।१८

३०-३१. उप्पादो य विणासो विज्जति सव्वस्स अत्यजादस्स ।

पज्जाएण दु केणवि अत्थो खलु होदि सम्भूदो ॥—

प्रा० सा०, १।१८

३२. पं० का०, गा० ११, एवं प्र० सा०, गा० २।११

३३. वही, गा० १७-१८

३४. ण भवो भंग विहीणो भगो वा णत्थि संभविहीणो ।

उप्पादो वि य भंगो णइ वेणा धोव्वेण अत्थेण ॥—

प्र० सा०, गा० २।८

३५. वही, गा० २।६

३६. समवेदं खलु दम्बं सभवठिदिणाससणिणदट्ठोहि ।

एकम्मि नेव समये तम्हा दम्बं खु तत्तिदयं ॥—

वही, २।१०

३७. द्रष्टव्य—नियमसार, गा० १५ ।

३८. प्र० सा०, गा० १।१०

३९. पज्जयविजुद दम्ब दम्बविजुत्ता पज्जया णत्थि ।

दोण्ह अण्णभूदं भावं समणा परूविति ॥

—पं० का०, गा० १२

४०. दम्बेण विणा ण गुणा गुणोहि दम्बं विणा ण संभवदि ।

अव्वदिरित्तो भावो दम्बगुणाण हवदि तम्हा ॥

—पं० का०, गा० १३

४१. प्र० सा०, गा० ६

४२. वही गा० १२

४३. वही गा० २।१५

४४. अविभक्तमण्णात्तं दम्बगुणाणं विभक्तमण्णात्तं ।

णिच्छति णिच्चयण्ह तव्विवरीदं हि वा तेसि ॥

४४. (क) प्र० सा०, २।१६

४५. पं० का०, रा० ४४

४६. वही, गा० ४६

४७. वही, गा० ४७

४८. ण वियप्पदि णाणादो णाणी.....। वही, गा० ४३

४९. पं० का०, गा० ४८

५०. ण हि सो समवायादो अत्यंतरिदो दु णाणदोणाणी ।

अण्णाणीति य वयणं एगत्तप्पसाधणं होदि ॥

—वही, गा० ४६

५१. समवत्ती समवाओ अपुघम्भूदो य अजुद सिद्धोय ।

तम्हा दम्बगुणाणं अजुदा सिद्धित्ति णिद्धिटा ॥

—वही, गा० ५०

५२. वही, गा० ५१-५२

५३. पं० का०, गा० ७

५४. वही, गा० ६२

५५. वही, गा० ६३-६४

५६. धम्माधम्मागासा अपुघम्भूदा समाणपरिमाण

पघ्णुवल्लिहिविसेसा करंति एगत्तमण्णत्तं ॥

—वही, गा० ६६

५७. समयसार, गा० ८

५८. जीवादिबहिस्तत्त्वं हेयमुवादेयमप्यणो अप्पा ।

कम्मोपाधिमपुग्गवगुणापज्जाएहि बविरित्तो ।

पुव्वत्तसयलभावा परदम्ब परसहावमिदि हेयं ।

सगदम्बपुवादेय अतरतत्त्वं हवे अप्पा ॥

—नियमसार, गा० ३८ एवं ५०

(ख) एयत्तणिच्छयगओ समओ सव्वत्थ सुंदरो लोए ।

—स० सा०, गा० ३

५९. (क) वही, गा० ४

(ख) दुक्खं णज्जइ अप्पा । मो० पा०, गा० ६५

६०. वही, गा० ५

६१-६२. वही, गा० १७-१८

६३. अहमिक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइयो सदारुवी ।

णवि अत्थि मज्झ किंवि अण्ण परमाणुमित्तं पि ॥

—स० सा०, गा० ३८

६४. अरसमरुवमगंधं अव्वक्त चेदणागुणमसहं ।

जाण अल्लिगगहण जीवमणिद्धिटासठाणं ॥

(क) वही, गा० ४६

(ख) नि० सा०, गा० ४६

(ग) प्र० सा०, गा० २।८०

६५. नि० सा०, गा० ४७

६६. वही, गा० ४८

६७. भणिदा पुढविप्पमुहा.....। प्र० सा०, गा० २।६०

६८. णिद्धो णिद्धो णिम्ममो णिक्कलो णिरालंबो ।

णीरागो णिहोसो णिम्मूदो णिम्भयो अप्पा ॥

णिग्गथो णीरागो णिस्सल्लो सयल्लोसणिम्मक्को ।

णिक्कामो णिक्कोहो णिम्माणो णिम्मदो अप्पा ॥

—नि० सा०, गा० ४३-४४

६९. एव णाणप्पाणं दंसणभूदं अदिदियमहत्थ ।

धुवमचलमणालंबं मण्णेह अप्पग शुद्ध ॥

—प्र० सा० गा० २।१००

७०. मो० पा०, गा० ३५

७१. स० सा०, गा० ६-७, १६-२२ ।

७२. वही, गा० २३-२७

७३. वही, गा० ३६-४८

७४. वही, गा० ५०-५५ । नि० सा०, गा० ४० एवं ४५

७५. नि० सा०, गा० ४१-४२ ।

७६. स० सा०, गा० ५६

७७. वही, गा० ५७

७८. वही, गा० ५८-६०

७९. द्रष्टव्य—वही, गा० ६१-६४

८०. (क) वही, गा० ५५-६८ (ख) प्र० मा० गा० २।६०

विचारणीय-प्रसंग

(संत)

□ श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, नई दिल्ली

‘शब्दानामनेकार्थाः’—एक ही शब्द के शास्त्रों में अनेक अर्थ मिलते हैं परन्तु प्रकरण जाने बिना शब्दमात्र से अर्थ का अभीष्ट दोहन नहीं किया जा सकता। एतावतः हमने भी समयसार की १५वीं गाथा के ‘अपदेस संत’ पद के हादें उद्घाटन में प्रसंग की उपेक्षा किये बिना ‘संत’ का अर्थ सत्-सत्त्व-आत्मा किया था और आचार्यों द्वारा प्ररूपित प्रमाण भी दिये थे कि ‘अपदेससंतमज्ज’ में संत-शब्द का अर्थ सत्-आत्मा है—शान्त-रस जैसा अर्थ नहीं (अनेकान्त वर्ष ३६ किरण २) इसके सिवाय ‘शान्त-रस’ क्यों नहीं इस सम्बन्ध में भी हमने सयुक्तिक लिखा था तथा पाठकों को इस विषय पर अन्य मनीषियों के विचार भी मिले होंगे।

इसमें दो रायें नहीं कि एक ही प्रसंग में विभिन्न प्रकार के अनेको विरोधी-विचार जब साधारण जिज्ञासुओं के समक्ष आते हैं तब प्रसंग और गहराई के ज्ञान के अभाव में वे भ्रम में पड़ जाते हैं कि किसे उचित और किसे अनुचित मानें? फलतः हमारे पास एक पत्र भी आया जिसमें लिखा था—‘कचहरी के अन्दर अपनी दलील की पुष्टि करने के लिए वकील लोग कानून की धाराओं का Interpretation अपनी-अपनी सुविधा तथा मौके के अनुसार जज के सामने रखते हैं। कानून एक ही है परन्तु उसकी भिन्न-भिन्न मान्यतायें बनाई जा रही हैं। बिल्कुल यही स्थिति हमारे धर्म की होती जा रही है। विद्वान क्या साधु क्या सब अपनी-अपनी मान्यतानुसार प्रतिपादन कर रहे हैं। साधु-साधु का, विद्वान-विद्वान का और साधु-विद्वान का, विद्वान-साधु का विरोध रोज ही सामने आ रहा है। वस्तुस्थिति तो जैसी है वैसी ही रहेगी परन्तु मुश्किल है हमारे जैसे अल्पज्ञ और सक्षेप बुद्धि वाले जीवों की। भिन्न-भिन्न मान्यतानुसार प्रति-

पादन होने से विषय जटिल और अनिर्णयात्मक होते जा रहे हैं आदि।’

इस सम्बन्ध में हम निवेदन कर दें कि प्रसंग में हमें ख्याति अथवा अर्थ-लाभादि की चाह नहीं और ना ही अपमान कराने या करने का भाव। हम तो ज्ञाताओं के समक्ष ‘विचारणीय-प्रसंग’ ही रखते हैं, निर्णायक नहीं। और चाहते हैं कि जिनवाणी अक्षुण्ण-निर्मल रहे। हम क्षमा भी मांगते रहते हैं। हमारा न किसी कोर्ट में मुकदमा पेश है और न हार-जीत का प्रश्न है। फिर, विद्वानों से हमें ज्ञान-दान मिला है और दि० गुरु के आशीर्वाद में हमें मनन का अवसर मिला है जिसका प्रवाह आज भी चालू है। ऐसे में हम सभी प्रकार नम्र हैं—हमारा कोई मुकदमा नहीं। हाँ, कषाय-वश यदि किसी अन्य ने ऐसा किया हो तो वह जाने, हम तो विद्वानों, त्यागियों, सभी के दास हैं। हमारा ऐसा भी भाव रहता है कि पाठक मनन करें यदि जेंजे तो ग्रहण करें, अन्यथा छोड़ दें।

यद्यपि आत्मा स्वभावतः सशेष व सयोग सम्बन्धों से रहित, अनन्य, स्व में नियत एवं स्व से अभिन्न—अपने में एक रूप है तथापि नयाश्रित-छद्मस्थो की दृष्टि में भिन्न दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य आदि जैसे अन्य अनेक क्रमिक-विकल्पो रूप प्रतिभासित होता है। पर जो ज्ञाता समय-वर्ती नयाश्रित एकागी और सविकल्प दृष्टि को छोड़कर प्रमाणरूप—अभेद दृष्टि को प्राप्त करता है—आत्मा को ‘अपदेस’—अखण्ड ‘संतमज्ज’—सत्-सत्त्व अर्थात् आत्मा के मध्य—स्व में स्थापित करता है वही जिनागम के अन्तरंग को पूर्ण रीति से जानता है। भेद-दृष्टि वाला नहीं जान सकता। इसी भाव को स्पष्ट करने के लिए आचार्य ने कहा है कि—‘निर्विकल्पसमाधिभ्रष्टानां खंड-खंडरूप’ प्रतिभाति, ज्ञानिनां पुनरखण्डकेवलज्ञानस्वरूप

एव इति हेतोरखण्डज्ञानरूपे शुद्धात्मनि ज्ञाते सति सर्वं जिनशासनं ज्ञातं भवति ।’ —जयसेनाचार्य

उक्त टीका में ‘अखण्डज्ञानरूपे शुद्धात्मनि ज्ञाते सति’ पद का मनन करने पर ‘अपदेससंतमज्ज्ञ’ का तदनुकूल— पूर्णसंगत अर्थ स्पष्ट होता है । तथाहि—‘अपदेस’ का अर्थ अखण्ड और ‘संतमज्ज्ञ’ का अर्थ ज्ञानरूपे शुद्ध-आत्मनि । यहाँ आचार्य ने ‘संत’ का अर्थ काल्पनिक और अप्रासंगिक शान्त-रस जैसा सविकल्प भाव न करके प्रसंग-सम्मत सत्-सत्त्व अर्थात् आत्मा किया और ज्ञानमय-शुद्ध को विकल्पातीत आत्मा का विशेषण बनाया है । प्रकृत में यदि आचार्य को शान्त-रस इष्ट होता तो वे टीका में ‘अखण्डज्ञानरूपे शुद्धात्मनि ज्ञाते सति सर्वं जिन-शासनं ज्ञातं भवति’ पक्ति के स्थान में ‘अखण्डशान्तरसरूपे शुद्धात्मनि इत्यादि’ पक्ति को स्थान देते । पर उन्होंने ऐसा नहीं किया । अपितु उक्त प्रसंग में भेद-दृष्टि के परिहार और अभेददृष्टि के पोषण के लिए आचार्य ने लवण का दृष्टान्त ही दिया । वे कहते हैं कि—“यथा लवणखिल्य एकरसोऽपि फलशार्कपत्रशाकादिपरद्रव्यं सयोगेन भिन्न-भिन्न-स्वादः प्रतिभात्यज्ञानिनां, ज्ञानिनां पुनरेकरस एव तथा-ऽऽत्माप्यखण्डज्ञानस्वभावोऽपि विषयभेदेनाज्ञानिना निर्विकल्पसमाधिप्रप्लवना खंड-खंड ज्ञानरूपः प्रतिभाति ज्ञानिनां पुनरखण्डकेवलज्ञानरूप एव ।”

जैसे लवण की डली एक-रस व्याप्त है और वह वस्तु-स्वरूप से अनभिज्ञो को फलशार्क-पत्रशाकादि के सयोगो के कारण भिन्न-भिन्न स्वाद वाली मालूम होनी है और ज्ञानियों को अखण्ड एकधाररसरूप अनुभव में आती है वैसे ही अखण्ड ज्ञानस्वभावी आत्मा भी निर्विकल्पसमाधि से रहित जीवो को विभिन्न-ज्ञेय रसादि अनेकरूपो में प्रतिभासित होती है और ज्ञानियों को अखण्ड—केवल-ज्ञानरूप प्रतिभासित होती है । प्रसंग में ‘अपदेस-संतमज्ज्ञ’ पद इसी भाव में है । यहाँ बटा गया है—जो (अपदेस) अखण्ड (संतमज्ज्ञ) सत्-सत्त्व अर्थात् आत्मा के मध्य अपने को स्थापित करता है अपने को निर्विकल्पदृष्टि से एक—अभेदरूप, ज्ञानरूप या चैतन्यरूप जानता है वह जिनशासन को जानता है । यहाँ शान्तरस का कोई प्रसंग ही नहीं है ।

प्रसंग के संबन्ध में हम मनीषियों से निवेदन करते हैं कि वे समयसार की १५वीं गाथा की पूर्ववर्ती १४वीं और उत्तरवर्ती १६वीं गाथाओं का ध्यान पूर्वक मनन करें तो वहाँ उन्हें अखण्डज्ञानरूप आत्मा का ही प्रसंग मिलेगा—‘शान्तरस’ नाम तक नहीं । यदि प्रकृत में आचार्य को ‘संत’ का अर्थ शान्त रस जैसा अभीष्ट होता तो वे कही उक्त गाथा में एक बार तो उसका नाम लेते या किसी टीका में उसका उल्लेख करते । चूँकि वे जानते थे कि ‘णानं सो अप्पा अप्पा सो णाणं ।’ फलतः उन्होंने अभेद निर्विकल्प-ज्ञान को आत्मा का रूप दिया । वे ये भी जानते थे कि जिनशासन को जानने का काम ज्ञान का है—शान्त रस का नहीं । अतः उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि—‘अखण्ड ज्ञानरूपे शुद्धात्मनि ज्ञाते सति सर्वं जिनशासनं ज्ञातं भवति ।’ अन्यथा वे कहते—‘अखण्डशान्तरसरूपे शुद्धात्मनि ज्ञाते सति सर्वजिनशासनं ज्ञानं भवति ।’

हम और सभी यह जानते हैं कि कोषों में ‘संत’ का अर्थ शान्त भी मिलता है—शान्त-रस नहीं । पर प्रसंग में (जैसी हमने प्रार्थना की) शान्त अर्थ का प्रयोजन न होने से और टीकाकार तथा अन्य आचार्यों द्वारा भी आत्मा अर्थ के ग्रहण किये जाने से हमने भी आचार्यों को मान दिया है और आगमार्थ की पुष्टि की है । यह तो हम पहिले ही सयुक्तिक लिख चुके हैं कि आत्मा के प्रसंग में जहाँ भी रस के साथ ‘शान्त’ शब्द प्रयुक्त हो वहाँ उससे किसी रस-विशेष का अविर्भाव ग्रहण न कर ‘विकार-निरास’ भाव ही लेना चाहिए—शान्ता-निर्गता-शमिता इत्यादि । इस प्रसंग में देखें—‘अनादिरक्तस्य तवायमासीद्’ के प्रसंग में हमारा ‘विचारणीय-प्रसंग ।’

एक निवेदन और । हम अपने को प्राज्ञ एवं सहृदय (सज्जन) समझदार मानकर इस प्रसंग के ज्ञाता मानने का दावा नहीं करते और ना ही दूसरो के स्वतंत्र—मनमाने विचारों को अविचारित-रम्य ही कहते हैं । हमारा आशय तो सभी को सम्मान देते हुए यह रहता है कि वे ‘विचारणीय-प्रसंग’ पर सद्भावना पूर्वक विचार दे सकते हो तो देकर उपकृत करते रहे । विज्ञेयु किमधिकम् ?

जरा-सोचिए

जैनी कैसे बना जाय ?

धर्म और अधर्म दोनों में मध्य-अतम्य, सत्य-असत्य और हां-नां जैसा अन्तर है। धर्म वस्तु का स्वभाव और अधर्म वस्तु का बनावटी रूप है। जब धर्म स्व-द्रव्य में पूर्ण और सम-रूप में व्यापक है तब अधर्म में 'न्यून'धिक्य और अव्यापकत्व है। वस्तु मात्र के सत्यरूप को विचारें तो छहों द्रव्यों में अपने गुण-धर्म पूर्ण निश्चित हैं, उनमें कभी फेर-बदल नहीं होता।

हमने कभी इसी स्तम्भ में जिन, जैन और जैनी की विवेचना की थी कि जैनी बाह्य-आचार और अन्तरंग-विचार में समानरूप में एक होता है। मात्र जैन या जैनी नाम लिखने-लिखाने से जैनी नहीं हुआ जाता। आज हमें इस परिप्रेक्ष्य में देखना चाहिए कि हममें कितने जैनी हैं और कितनों ने कारणों वश जैनी का बाना ओढ़ रखा है? कितनों ने समाज में छुले-मिले रहने के लिए और कितनों ने राजनैतिक दृष्टि से गणना बढ़ाने के लिए, अपने को जैन घोषित कर रखा है? आदि :

गत दिनों दिल्ली बूचड़खाने के विरोध में कई पत्र मिले, अखबारों में लेख और स्वतन्त्र पम्फलेट भी देखे। बड़ा सन्तोष हुआ कि अभी जैनो में चेतना है, वे महावीर के उपासक हैं। पर बाद में जब स्वकीयों के सम्बन्ध में देखा तो जैनत्व के प्रति खेद ही हुआ कि—एक ओर तो हम मूक-पशुओं तक के प्रति दयालु हो—दूसरों से उनकी रक्षा की अपेक्षा करें और दूसरी ओर अपनी में हो रहे अनर्थों को रोकने में उपेक्षा बरतें?

हमने 'जैन शुद्ध वनस्पति का निदेशक जेल में' हैडिंग देखा, दहेज के माध्यम से जली या मरी बहूओं की चर्चाएं सुनीं, और जैनों से अफीम बरामद होने जैसे समाचार भी देखे। ये तो कुछ प्रसंग हैं। न जाने अब हम जैन नाम-धारियों में ऐसी कितनी अनहोनी-होनी के रूप में परिणत होंगी? हमें इनका उपचार करना होगा।

हम देश-विदेश में, जन-साधारण में धर्म प्रचार करने कराने का नारा देते हैं, यूनिवर्सिटी और कालेजों में जैन चेयरों को चाहते हैं, गीना जैसा कोई जैन ग्रन्थ लिखाकर साधारण में वितरण करने-कराने का स्वप्न देखते हैं। पर हमारे अपने घरों में अधर्म की जो आग फैल रही है उसे बुझाने के उपाय नहीं करते। यह तो ऐसी ही विडम्बना है जैसे कोई पुरुष मद्य-पान को बुरा माने और मद्य-पायी की निन्दा भी करे। पर, अपने मद्य-पायी पुत्र या सम्बन्धी को प्रश्रय दे उसका पालन-पोषण करता रहे उससे नाता न तोड़ सके। और जो धर्म की अपेक्षा अपने पुत्रादि को अधिक महत्त्व दे, या जो सिगरेट और शराब पर जहर के लेबल लगवाने का पक्षधर होकर भी उन्हें बेचता और उनके ठेके देता-लेता रहे।

आचारवान् पण्डित गण को देखकर हमें खुशी होती है कि हमारे और समाज के भाग्य से वे इस पद के योग्य हैं—बड़ा ही अच्छा है। पर, इतने लम्बे अर्से के बाद भी मुझे अपने को पण्डित कहलाने या लिखने-लिखाने की जुर्रत नहीं होती। यदि कोई मुझे पण्डित संबोधन देता है तो अपने पर शर्म जैसी महशूस होती है। आखिर, पण्डित तो वही होता है जो ज्ञान के अनुरूप आचरण भी करे। मैं तो अभी मार्ग में ही लगने के प्रयत्न में हूँ। जैन और जैनी के विषय में भी मेरी यही धारणा है कि उसे—आचरणवान् होना लाजिमी है—बिना आचार-विचार के जैन कैसा?

यदि अपने को जैनी कहने-कहाने वाले उक्त परिप्रेक्ष्य में जैनी बन जाय तो अजैनों को भी जैनी बनते देर न लगे—जैन के प्रचार की चिन्ता भी न करनी पड़े—स्वयं ही प्रचार हो जाय। आखिर, तीर्थंकर भी किसी से जैन बनने को नहीं कहते। लोग उनके दर्शन कर (उनके आचरण रूप आदर्श से) स्वयं ही जैन हो जाते हैं। उक्त प्रसंग में हम कैसे सच्चे जैनी बन सकते हैं और कैसे आदर्श आचरण की ओर बढ़ सकते हैं? जरा सोचिए!

—सम्पादक

साहित्य-समीक्षा

१. जैन तत्त्व कलिका :

लेखक : आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज

सम्पादक : श्री अमर मुनि

प्रकाशक : आत्मज्ञानपीठ, मानसा मण्डी (पंजाब)

डिमाई साइज : पृष्ठ २६४+३१६=५८०

मूल्य : साधारण जिल्द ४० रु० रैज्जीन ७५ रुपए

स्थानकवासी श्वेताम्बर उपाध्याय श्री आत्माराम महाराज की 'जैन तत्त्व कलिका विकास' नामक ३०८ पेजी कृति सन् १९३८ में करनाल से प्रकाशित हुई थी। प्रस्तुत कृति उसी का परिवर्धित और परिवर्तित रूप है। यद्यपि ग्रंथ के मूल नाम से 'विकास' शब्द हटाकर इसका नाम 'जैन तत्त्व कलिका' कर दिया गया है तथापि विषय विस्तृत हुआ है।

ग्रन्थ में जैन-मान्य तत्त्व, द्रव्य, प्रमाण-नय, स्याद्वाद, रत्नत्रय, लोकवाद, कर्मवाद आदि जैसे तात्त्विक विषयों को स्पष्ट और सरल रूप में खोला गया है। इससे पाठक ज्ञानानुभूति और आत्मानुभूति कर सकेंगे। तत्स्करण को नवीन रूप देने में सम्पादक श्री अमर मुनि जी ने अथक श्रम किया है और विषय को सरलता से विशदरूप में स्पष्ट किया है, इसके लिए वे साधुवादार्ह हैं। साज-सज्जा की दृष्टि से प्रकाशक भी बधाई के पात्र हैं।

प्रथम-संस्करण से उद्धृत 'स्वकथ्य' में मूलग्रंथकर्ता द्वारा घोषित उस प्रशस्त भावना का हम आदर करते हैं, जिसका सूत्रपात और निर्वाह उन्होंने ५० वर्ष पूर्व किया। उनका संकल्प था—'ग्रन्थ इस प्रकार से लिखा जाय जो परस्पर साम्प्रदायिक विरोध से सर्वथा विमुक्त हो और उसमें केवल जैन-तत्त्वों का ही जनता को दिग्दर्शन कराया जाय।'।

प्रस्तुत परिवर्धित संस्करण में उक्त रेखा का उल्लंघन जैसा दिखे, अब इसमें जैन सम्प्रदाय की धाराओं के विरोध सम्बन्धी प्रसंग भी जुड़ गए हैं जैसे—मल्लि और महावीर के कथानक, स्त्रीलिंग, नृपति और गृहीलिंग से मुक्ति आदि। इससे ग्रन्थ मूल लेखक की भाव-नानुसार संप्रदायातीत न होकर श्वेताम्बर पक्ष की मान्यता जैसा बन गया है। पूरी जैन-धारा का नहीं। ऐसा तो हम मानते नहीं कि उपाध्याय श्री ऐसे मतभेदों से अपरिचित थे इसलिए उन्होंने ऐसे प्रसंगों को छोड़ा हो। प्रस्तुत ऐसे कथनों को स्पर्श न करने में उनकी पन्थवाद निर्मूलक प्रशस्त भावना ही थी जिसका घात हुआ है। —संपादक

२. तीर्थंकर (मासिक) : जैन ध्यान योग विशेषांक अप्रैल १९८३

सम्पादक—डा० नैमिचन्द्र जैन। प्रकाशक—हीरा भैया प्रकाशन, ६५ पत्रकार कालोनी, कनाडिया मार्ग, इन्दौर। पृष्ठ १२४; मूल्य—पन्द्रह रुपये।

ध्यान-योग पर भारत के ऋषिमुनियों ने गहन चिन्तन-मनन किया है एवं प्रभूत प्रयोग करके उसकी परम वैज्ञानिकता को परखा है। जैनाचार्यों का भी इस क्षेत्र में अपना विशेष एवं प्रचुर योगदान है। उन्होंने ध्यान-योग का प्रयोग आत्मा के स्वरूप को जानने में किया है। आज जैन ध्यान-योग के प्रति रुचि एवं जिज्ञासा बढ़ी है तथा वह वस्तु-स्वरूप, उसकी समग्रता और परिपूर्णता को युग-पत् समझने में सहायता प्रदान करता है। ध्यान की प्रक्रिया सूक्ष्मतर है और उमका सम्बन्ध अभीष्ट एकाग्रता से है। इसलिए हमारा ध्येय सदैव असंदिग्ध होना चाहिये वस्तुतः जैन परम्परित प्रयोगधर्माओं ने जैन योग एवं जैन ध्यान की सूक्ष्मतम मौलिकताओं को उद्भासित एवं उद्घाटित किया है।

विशेषज्ञों की अपनी समृद्ध परम्परा के अनुरूप विशेषांक का भी अपना विशिष्ट महत्त्व है। 'तीर्थंकर' ने हमेशा व्यक्तियों की अपेक्षा प्रवृत्तियों को अधिक महत्त्व दिया है और भारतीय संस्कृति के व्यापक परिप्रेक्ष्य में जैन संस्कृति की मौलिकताओं को प्रकाशित किया है। प्रस्तुत विशेषांक जैन ध्यान-जैन योग की शास्त्रीय एवं लौकिक दोनों ही दृष्टियों से सांगोपांग विविध एवं रोचक शैली में संयोजित अभिव्यक्ति है। इसमें जैन धर्म और दर्शन के मर्मभूत ध्यान और योग के बहुविध पक्षों पर सर्वाङ्गपूर्ण दृष्टि से प्रकाश डाला गया गया है जिसके कारण इसे अनेक विषय के विश्व कोष की कोटि में रखा जा सकता है। विषय को प्रस्तुत करने में सर्वत्र अधिकारी विद्वानों एवं सुविज्ञ मनीषियों द्वारा आधुनिक साधनों एवं शैलियों का आश्रय लिया गया है जिसके कारण विषय और भी रोचक बन पड़ा है।

विशेषांक विशेषतया संग्रहीत एवं सर्वथा उपादेय है तथा प्राच्य विद्याओं के प्रत्यास्थापन से हितबद्ध मनीषियों द्वारा मननीय एवं पठनीय है।

—गोकुल प्रसाद जैन, उपाध्यक्ष

बीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

तमोचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुस्तार श्रीजगन्निशोः	
जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द ।	४ ५०
जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द ।	६-००
जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह । रत्नमय ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित । सं. पं. परमानन्द शास्त्री । सजिल्द ।	१५ ००
समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : प्रध्यात्मकृति, पं० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित	५-५०
अवधबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन	३-००
न्याय-दीपिका : प्रा० अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा सं० अनु० ।	१०-००
जैन साहित्य और इतिहास पर विजय प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द ।	७-००
कसावपाहुडमुक्त : मूल ग्रन्थ की रचना प्राज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणवराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूणिसूत्र लिखे । सम्पादक पं० हीरानलजी सिद्धान्त-शास्त्री । उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में । पृष्ठ कागज और कपड़े की पक्की जिल्द ।	२५-००
जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा श्री रतनलाल कटारिया	७-००
ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री	१२-००
आवक धर्म संहिता : श्री वरदार्जसिंह सोधिया	५-८०
जैन लक्ष्मणावली (तीन भागों में) : सं० पं० बालचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री	प्रत्येक भाग ४०-००
जिन शासन के कुछ विचारणीय प्रसंग : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, बहुचर्चित सात विषयों पर शास्त्रीय प्रमाणयुक्त तर्कपूर्ण विवेचन । प्राक्कथन : सिद्धान्ताचार्य श्री कैलाशचन्द्र शास्त्री द्वारा लिखित	२-००
Jain Monuments : टी० एन० रामचन्द्रन	१५-८०
Reality : प्रा० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद । बड़े प्रकार के ३०० पृ., पक्की जिल्द	८ ००

आजीवन सदस्यता शुल्क : १०१.०० रु०

वार्षिक मूल्य : ६) रु०, इस अंक का मूल्य : १ रुपया ५० पैसे

विद्वान् लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र होते हैं । यह आवश्यक नहीं कि सम्पादक-मण्डल लेखक के विचारों से सहमत हो ।

सम्पादक परामर्श मण्डन — डा० ज्योतिप्रसाद जैन, श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, सम्पादक— श्री पद्मचन्द्र शास्त्री
प्रकाशक— रत्नत्रयधारी जैन, बीर सेवा मन्दिर के लिए, कुमार हादस प्रिंटिंग प्रेस के-१२, नवीन शाहदरा
दिल्ली-१२ से मुद्रित ।

वीर सेवा मन्दिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगलकिशोर मुस्तार 'युगवीर')

वर्ष ३६ : क्रि० ४

अक्टूबर-दिसम्बर १९८३

इस अंक में—

क्रम	विषय	पृ०
१.	जिनवाणी-महिमा	१
२.	श्रीलंका और जैनधर्म—डा० ज्योतिप्रसाद जैन	२
३.	जैनधर्म की प्राचीनता व ऐतिहासिकता —डा० देवेन्द्रकुमार शास्त्री, नीमच	५
४.	गुप्त सम्राट् रामगुप्त जैन धर्मानुरागी था —कुन्दनलाल जैन प्रिन्सिपल	६
५.	क्षणभंगवाद और अनेकान्त —अशोककुमार जैन एम० ए०	११
६.	आचार्य कुन्दकुन्द की जैन दर्शन को देन —डा० लालचन्द जैन, वैशाली	१५
७.	जैनधर्म-दर्शन में आराधक की अवधारणा —डा० गुलाबचन्द जैन	२४
८.	बीज मे वृक्ष की संभावना —वक्ता श्री बाबूलाल जैन	२६
९.	दिगम्बरत्व का क्या होगा ? —कुन्दनलाल जैन प्रिन्सिपल	२७
१०.	विचारणीय-प्रसंग—पद्मचन्द्र शास्त्री, दिल्ली	२९
११.	जरा-सोबिए—संपादक	३३
१२.	साहित्य-समीक्षा	३५

प्रकाशक

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

बाहुबली-कुम्भोज दि० क्षेत्र का संकट विगम्बरस्थ पर संकट है। यहाँ आत-
सायियों ने देव-धर्म और गुह सभी का अपमान किया है। सरकार इसकी न्यायिक
जांच कराकर अपराधियों के साथ भारतीय-संविधान के अनुरूप व्यवहार करे और
ऐसी व्यवस्था बनाये कि देश में सभी धर्म-जाति-सम्प्रदाय के लोग अपनी मर्यादाओं
में सुरक्षित रह सकें। दि० जनों को भी प्रस्तुत प्रसंग में मुनि जी विद्यानंद जी महा-
राज के निर्देश में आगे बढ़ना चाहिए।
—बीर सेवा मन्दिर

अपनी-बात

इस अंक के साथ 'अनेकान्त' का ३६वां वर्ष पूर्ण हो रहा है। हम उन सभी लेखकों, पाठकों और
सहायकों का अभिनन्दन करते हैं जिन्होंने इस पुण्य कार्य में हमें सहयोग दिया है। हम यह भी जानते हैं
कि हमसे गलतियाँ भी हुई होंगी, जिन्हें सभी ने क्षमा किया है—कोई किसी प्रकार का उलाहना नहीं
आया। सच तो यह है कि यह कार्य बड़ी जिम्मेदारी का है और सभी के सहयोग से पूरा होता है।
हमारा सम्पादक मण्डल पूरा ध्यान रखता है और समय-समय पर निर्देश देता रहता है। संस्था की
कार्यकारिणी का भी इधर ध्यान है।

हमें खुशी है कि विद्वान पाठकों ने 'अनेकान्त' को सराहा है—बहुन से पत्र भी भेजे हैं। सभी का
प्रकाशन आत्म-प्रशंसा न समझ लिया जाय इस भय से हम कुछ की कुछ पक्तियाँ ही उद्धृत कर रहे हैं।
तथाहि—

१. अनेकान्त में 'विचारणीय प्रसंग', पढ़कर हर्ष हुआ। वस्तुतः लेख आगमोक्त, युक्ति-आगम-तर्क
से पूर्णतः संपुष्ट, विचारोत्तेजक, अध्ययन खोज व शोधपूर्ण हैं। ऐसे लेखों द्वारा आप सचमुच में
आगम-मार्ग विलोपता की रक्षा कर रहे हैं।

—स्वामी श्री भ० चारुकीर्ति जी पंडिताचार्य, मूढविद्वी

२. 'शान्त रस' के संबंध में 'विचारणीय-प्रसंग' तथा 'जरा-सोचिए' के अन्तर्गत विचारोत्तेजक टिप्पणियाँ
युक्ति-युक्त एवं अच्छी लगीं।

—डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन, लखनऊ

३. 'आप अनेकान्त में चिंतन के रूप में जो विचार दे रहे हैं, वे काफी सुलझे हुए और नवीन चेतना
को जगाने वाले हैं।'

—डॉ० दरबारीलाल कोठिया, वाराणसी

४. 'अनेकान्त ने अपना रूप निखारा है। विद्वत्तापूर्ण लेख तथा 'जरा-सोचिए' की सामयिक टिप्पणियाँ
बड़े अच्छे होते हैं।'

—डॉ० नन्दलाल जैन, रीवा

हम पाठकों से निवेदन कर दें कि 'अनेकान्त' की नीति व्यक्तिगत किसी विवाद में पड़ने या खड़न
मंजूर की नहीं है। इसके उद्देश्य सभी भांति जैन-आगम, सस्कृति और उसके मार्ग-उद्घाटन, उसकी रक्षा
तथा प्रचार तक केन्द्रित हैं। अतः चिन्तन के रूप में जहाँ, जैसा जो मिलता है, लेखकों के माध्यम से
पाठकों के विचारार्थ पहुंचा दिया जाता है और उसके जिम्मेदार लेखक स्वयं होते हैं। फिर भी जाने-
अनजाने किसी लेख से किन्हीं पाठकों को कोई ठेस लग जाय तो वे उसे सहज-भाव में ग्रहण कर हमें
क्षमा ही करते रहें—हम उन्हीं के अपने हैं।
धन्यवाद !

—सम्पादक

ओम् अहम्



परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष ३६
किरण ४

वीर-सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२
वीर-निर्वाण सवत् २५१०, वि० सं० २०६०

{ अक्टूबर-दिसम्बर
१९८३ }

जिनवाणी-महिमा

नित पीजो धी-धारी ।

जिनवानि सुधासम जानके नित पीजो धी-धारी ॥
वीर-मुल्लारबिन्द तें प्रगटी, जन्म जरा गद-टारी ।
गौतमाविगुरु उर घट व्यापी, परम सुखि करतारी ॥
सलिल समान कलित, मलगंजन, बुध-मन-रंजनहारी ।
भंजन विभ्रमधूलि प्रभंजन, मिथ्या जलद निवारी ॥
कल्याणकतरु उपवन धरनी, तरनी भवजल-तारी ।
बन्धविदारन पेनी छेनी, मुक्ति नसेनी सारी ॥
स्वपरस्वरूप प्रकाशन को यह, भानु-कला अविकारी ।
मुनिमन-कुमुदिनि-मोदन-शशिभा, शम सुख सुमन सुवारी ॥
जाको सेवत, बेवत निजपद, नसत अविद्या सारी ।
तीन लोकपति पूजत जाको, जान त्रिजग हितकारी ॥
कोटि बीष सौ महिमा जाको, कहि न सके पविधारी ।
'दोल' अल्पमति केम कहै यह, अक्षम उधारन हारी ॥

श्रीलंका और जैनधर्म

□ 'इतिहासमनीषो' डा० ज्योतिप्रसाद जैन

श्रीलंका, लंका, सिंहलद्वीप या सीलोन भारतवर्ष के सुदूर दक्षिण में तथा भारतीय भूभाग के निकटतम स्थित एक विशाल द्वीप है। इसका आकार सीधी रखी नाशपाती जैसा है, जिसकी अधिकतम लम्बाई उत्तर-दक्षिण लगभग ५०० कि० मी०, अधिकतम चौड़ाई पूर्व-पश्चिम लगभग २५० कि० मी० तथा क्षेत्रफल लगभग ८०,००० वर्ग कि० मी० है। कुमारी अन्तरीप या कन्याकुमारी से लंका के पश्चिमी तट की दूरी लगभग २५० कि० मी० है। मनार की खाड़ी श्रीलंका को भारत के दक्षिणी-पूर्वी तट से पृथक् करती है। तमिल देशस्थ नाग पट्टिनम से थोड़ा दक्षिण में भारतीय भूभाग को श्रीलंका के उत्तरी सिरे पर स्थित जफना बन्दरगाह से लगभग ५० कि० मी० चौड़ा पाक जलडमरूमध्य अलग करता है। निकट ही सेतुबंध रामेश्वरम अथवा 'आदम का पुल' स्थित है। द्वीप के दक्षिणी-पश्चिमी तट पर स्थित श्रीलंका की वर्तमान राजधानी कोलम्बो है, द्वीप के प्रायः मध्य में प्राचीन नगरी कैन्डी स्थित है और उत्तर-पूर्वी तट पर त्रिकोमाली। कुछ विद्वानों का कहना है कि चीनी भाषा के 'सेल' शब्द से, जिसका अर्थ रत्न है, संस्कृत का सिंहल और अंग्रेजी का सीलोन बने, अतएव सिंहलद्वीप और रत्नद्वीप पर्यायवाची हैं। प्राचीन जैन, बौद्ध एवं ब्राह्मणीय साहित्य में लंका, सिंहल-द्वीप और रत्नद्वीप के अनगिनत उल्लेख प्राप्त होते हैं, जिनसे प्रतीत होता है कि भारतवर्ष के साथ इस द्वीप के धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक आर्थिक एवं राजनैतिक सम्बन्ध सुदूर अतीत से ही पथाप्त घनिष्ट रहते आये हैं, जिनके कारण यह द्वीप अखिल भारतवर्ष का ही एक अभिन्न अंग जानामाना जाता रहा है। वर्तमान में श्री लंका के अधिकांश निवासी बौद्ध धर्मानुयायी हैं। गत दो-तीन सौ वर्षों में धर्म परिवर्तनों के परिणामस्वरूप ईसाई और कुछ मुसलमान भी हैं तथा भारतीय मूल के तमिल

आदि प्रदेशों से गये प्रवासियों की संख्या भी पर्याप्त है।

प्राचीन जैन अनुश्रुतियों के अनुसार भोगयुग के अवसान पर प्रथम तीर्थंकर आदिदेव भगवान वृषभनाथ ने कर्मयुग एवं मानवी सभ्यता का ॐ नमः किया था तथा समाज एवं राज्य की व्यवस्था की थी। भगवान के एक उपनाम इक्ष्वाकु पर मानवों का इक्ष्वाकुवंश प्रसिद्ध हुआ जिसकी शाखा उपशाखाओं में आगे चलकर सूर्यवंश, चन्द्रवंश एवं हरिवंश प्रसिद्ध हुए। उस युग में प्रायः संपूर्ण उत्तरापथ में उक्त इक्ष्वाकुवंशी क्षत्रियों की ही प्रभुसत्ता थी। भगवान के ज्येष्ठ पुत्र भरत इस महादेश के प्रथम चक्रवर्ती सम्राट हुए और उन्हीं के नाम पर वह भारतवर्ष कहलाया। उसी युग में मनुष्यों की एक अन्य जाति थी जो विद्याधर कहलानी थी। उसके नेता नमि और विनमि नाम के दो भाई थे। उन्हें वेताह्वय अथवा विजयार्ध पर्वत की उत्तर एवं दक्षिण श्रेणियों में सुखपूर्वक निवास करने की व्यवस्था हुई। उक्त विद्याधरों के वंशजों में आगे चलकर ऋक्ष या राक्षस वंश और वानरवंश नाम की दो वंश परम्पराएं सर्वाधिक प्रसिद्ध हुईं। ये तब भी मनुष्य ही थे, और प्रायः जिनधर्म भक्त थे। लेकिन ज्ञान-विज्ञान एवं विद्याओं में अत्यन्त कुशल होने के कारण विद्याधर कहलाते थे। एकवंश का राज्य-चिह्न एवं ध्वज-चिह्न कपि या बानर होने से वह बानरवंश कहलाया, दूसरे ने ऋक्षद्वीप या राक्षसद्वीप को अपनी सत्ता का केन्द्र बनाया अतः वह राक्षस वंश कहलाया। उक्त राक्षसद्वीप के मध्य में त्रिकुटाचल पर्वत था जिस पर उसकी अत्यन्त भव्य राजधानी लंकापुरी का निर्माण हुआ। राजधानी के नाम पर पूरा द्वीप ही लंका कहलाने लगा। स्वर्ण रत्न आदि की प्रचुरता के कारण रत्नद्वीप भी कहलाया। यह कहना कठिन है कि लंका का ही अपरनाम रत्नद्वीप था अथवा वह उसके निकटस्थ कोई अन्य एवं अपेक्षाकृत छोटा द्वीप था।

आदिपुराण के अनुसार भरत चक्रवर्ती ने अपने दिग्विजय अभियान में उक्त राक्षसद्वीप को भी विजय किया था। एक अनुश्रुति के अनुसार भारत के पूर्वी तट से वररौज नामक एक असुर सरदार अक्ष, यक्ष, नाग आदि विद्याधर जातियों के व्यक्तियों को लेकर लंका गया था और उसी ने उस द्वीप को बसाया था। पद्मपुराण से विदित होता है कि बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रतनाथ के तीर्थ में मालि, सुमालि और मान्यवान नाम के तीन भाइयों ने इस द्वीप पर अधिकार कर लिया था। उसी काल में रथनपुर का विद्याधर नरेश इन्द्र था जो बड़ा शक्तिशाली, प्रतापी एवं महत्वाकांक्षी था और प्रत्येक बात में देवराज इन्द्र की नकल करता था। उसने समस्त विद्याधर राजाओं को पराजित करके अपने अधीन कर लिया। लंका वालों को भी उसने पराभूत कर दिया। युद्ध में मालि मारा गया और सुमालि एवं मान्यवान अपने परिवार सहित अज्ञात गुप्तस्थान में शरण लेने पर विवश हुए। इन्द्र ने लंका में अपने आज्ञाकारी सामन्त वैश्रवण को स्थापित कर दिया जो साक्षात् कुबेर जैसा था। उसके समय में लंका के वैभव में अभूतपूर्व वृद्धि हुई।

सुमालि का पुत्र रत्नश्रवा था जिसकी पत्नी का नाम केकसी था—इन दोनों का पुत्र सुप्रसिद्ध राक्षस-राज दशानन अपरनाम रावण हुआ। वह अत्यन्त पराक्रमी और तेजस्वी था। होश सम्भालने पर उसे अपने कुल के पराभव का कारण ज्ञात हुआ और उसने लंका पर चढ़ाई कर दी तथा वैश्रवण को पराजित करके लंका पर अधिकार कर लिया। वैश्रवण रावण का भौसेरा भाई था—उसने रावण से संधि कर ली, अपना पुष्पक विमान भी उसे दे दिया और अन्यत्र जाकर रहने लगा। अब रावण की प्रभुसत्ता, शक्ति और समृद्धि में द्रुतवेग से प्रगति होने लगी। उसने इन्द्र विद्याधर तथा उसके प्रायः सभी सामन्तों को पराजित करके अपने अधीन कर लिया। अन्ततः लंकाधीश राक्षसराज रावण विद्याधर वंशियों का एकच्छत्र सम्राट बन गया। उसकी सोने की लंका लोक-विख्यात हो गई। रावण और उसका परिवार परम जिनभक्त थे। राजधानी लंकापुरी का प्रधान देवालय सोलहवें तीर्थंकर भगवान शान्तिनाथ का अत्यन्त भव्य मन्दिर था जिसमें वे

लोग जिनेंद्र भगवान की पूजा-उपासना करते थे। रावण अपने युग का अर्ध-चक्री सम्राट एवं प्रतिनारायण था।

इक्ष्वाकु कुल में उत्पन्न रघु के वंशज अयोध्यापति महाराज दशरथ के पुत्र राम जब अपनी पत्नी जनकसुता वैदेही सीता तथा अनुज लक्ष्मण के साथ दंडकारण्य में बनवास कर रहे थे तो एकदा लक्ष्मण के हाथों अनजाने शबूककुमार का वध हो गया। वह रावण की बहिन चन्द्रनखा का पुत्र था। परिणामस्वरूप चन्द्रनखा के पति खर-दूषण के साथ राम लक्ष्मण का भीषण युद्ध हुआ। उस अवसर का लाभ उठाकर रावण ने सती सीता का अपहरण कर लिया और उसे लंका में ले गया। रावण की प्रतिज्ञा थी कि किसी परस्त्री का उसकी इच्छा एवं सहमति के बिना उपभोग नहीं करेगा, साथ ही वह अत्यन्त मानी था और स्वयं को सर्वशक्तिशाली समझता था। अतएव वह सीता को उसके पति राम के पास भेजने के लिए राजी नहीं हुआ। उधर राम व लक्ष्मण सीता की खोज में भटकते रहे और जब उन्हें रावण के कुकृत्य का ज्ञान हुआ तो हनुमान, मुग्रीव, नल, नील आदि वानरवंशी विद्याधरों को उन्होंने अपना सहायक बनाया और समुद्र पार करके लंका पर आक्रमण कर दिया। रावण की अनीति से क्षुब्ध होकर उसका भाई विभीषण भी राम से आ मिला। राम और रावण के मध्य भयंकर युद्ध हुआ जिसमें नारायण के हाथों प्रतिनारायण रावण मारा गया। उसके अनेक पञ्जित और सामन्त भी युद्ध में काम आये। इन्द्रजित आदि कई एक ने जिनदीक्षा ले ली। राम और सीता का मिलन हुआ। लंका का राज्य विभीषण को सौंपकर राम, लक्ष्मण, सीता आदि अयोध्या चले गये। लंका में विभीषण एवं तदनन्तर उसके वंशज चिरकाल तक राज्य करते रहे। ये प्रायः सब ही जिनधर्म भक्त थे।

महाभारतकाल में श्रीकृष्ण सिंहलद्वीप (लंका) जाकर वहाँ के राजा शलक्षणरोम की कन्या लक्ष्मणा को हर लाये थे और उन्होंने उसे अपनी पत्नी बनाया था। तेईसवें तीर्थंकर पाशर्वनाथ के तीर्थ में अंग-कलिंग-आन्ध्र के अर्ध-श्वर महाराज करकंडु ने, जो एक जैन नरेश था, सिंहल-द्वीप की यात्रा की थी। अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर के समय (छठी शती ई० पू०) में कलिंग देश के सिंहपुर

नगर का विजय नामक एक जैन राजकुमार लंका गया था और वहाँ उसने एक नए राज्यवंश की स्थापना की थी। बौद्धग्रंथ महावंश से विदित होता है कि चौथी शती ई० पूर्व में इसी वंश में उत्पन्न सिंहल नरेश पाण्डुकामय ने राजधानी अनुराधापुर में एक विशाल जैन बिहार तथा अति भव्य जिनमन्दिर बनवाया था। ३री शती ई० पू० के मध्य के लगभग मगध सम्राट अशोक के मौर्य के पुत्र महेन्द्र तथा पुत्री संघमित्रा के द्वारा लंका में बौद्ध धर्म का सर्वप्रथम प्रवेश हुआ, किन्तु उसकी विशेष प्रगति नहीं हुई लगती और उससे जैन धर्म प्रायः अप्रभावित रहा, क्योंकि २री शती ई० पू० में कलिंग चक्रवर्ती जैन सम्राट खारवेल ने लंका में अपने दूत एवं धर्मप्रचारक भेजे थे और लंका के प्राचीन ऐतिहासिक अभिलेखों से स्पष्ट है कि लंका-नरेश खलतग (१०६-१०३ ई० पू०) के समय में भी तत्कालीन राजधानी श्रीगिरि (सिगिरिया) के निकटस्थ अभयगिरि पर एक विशाल जैन बसति (विहार) विद्यमान थी जिसमें अनेक जैन मुनि साधनारत रहते थे। कुछ समय पश्चात् लंका नरेश वट्टगामिनी के शासनकाल में तमिल देशवासी किसी राजा ने लंका पर आक्रमण किया। कोलंब-हलक स्थान मंकविश्रय भी उनसे मिल गया और लंका के नरेश के साथ युद्ध हुआ। राजा वट्टगामिनी पराजित होकर युद्धभूमि से भाग गया। कहते हैं कि जब वट्टगामिनी अपने साथियों के साथ भागता हुआ अभयगिरि की जैन बसति के निकट पहुँचा तो उक्त विहार के जैनाचार्य मुनि गिरि ने इस कायरतापूर्ण पलायन के लिए उसका उपहास एवं भर्त्सना की थी। इससे वह राजा चिढ़ गया और उसने प्रतिज्ञा की कि यदि कभी वह अपना राज्य पुनः प्राप्त कर लेगा तो इस जैन विहार को नेस्तनाबूद कर देगा। संयोग से कुछ समय बाद वह सफल हो गया और अपने राज्य पर पुनः स्थापित हो गया; ८८-७७ ई० पू० में १२ वर्ष उसका यह शासन रहा उस अवधि में वट्टगामिनी ने उक्त एवं अन्य अनेक जैन मन्दिरों एवं विहारों को जो उसके पूर्ववर्ती राजाओं ने वाँचा या संरक्षित रखे थे, नष्ट करवा कर उसके स्थान में बौद्ध मन्दिर और बिहार बनवाये। इसी राजा के समय में सिंहल में बौद्ध त्रिपिटक के संकलन एवं लिपिबद्ध करने का सर्वप्रथम प्रयास किया गया। कुछ

विद्वान इस घटना की तिथि ई० पू० ३८ बताते हैं। इस प्रकार श्रीलंका के इतिहास के प्रारम्भ से लेकर ईस्वी सन् के प्रारम्भ से कुछ दशक पूर्व तक उस देश का प्रधान धर्म जैनधर्म ही बना रहा।

बौद्ध राजा वट्टगामिनी की बिध्वंसलीला एवं धार्मिक अत्याचारों के बावजूद भी श्रीलंका में जैनधर्म का अस्तित्व प्रायः मध्यकाल तक बना रहा। लंका के इतिहास से पता चलता है कि ५वीं शती में जब लंका नरेश कस्सप प्रथम द्वारा निर्वासित होकर राजा मोग्गलन को १८ वर्ष तक भारत में रहना पड़ा था तो उसने लंका निवासी जैनों तथा सेनापति मिगार के साथ गुप्त संपर्क बनाये रखे थे। किन्तु जब ४६५ ई० में मोग्गलन राज्य को पुनः प्राप्त करने में सफल हुआ तो उसने जैनों की उपेक्षा की और शिलाकाल द्वारा लाये गये बुद्ध के अवशेषों के स्वागत समारोह में ही व्यस्त रहा। कस्सप बौद्ध गया जाकर बौद्ध भिक्षु बन गया। ७वीं-८वीं शताब्दी ई० में भी जैनधर्म और उसके अनुयायियों का अस्तित्व श्रीलंका में था, इस बात के स्पष्ट निर्देश मिलते हैं। इतना ही नहीं, एक प्रायः तत्कालीन शिलालेख से प्रकट है कि ११वीं शती ई० के कर्णाटक के एक जैनाचार्य यशःकीर्ति उस समय के सिंहल नरेश द्वारा अपनी राजसभा में सम्मानित किए गए थे।

१ मई १६८३ के दैनिक टाइम्स आफ इंडिया में प्रकाशित अपने एक लेख में श्री पी० बी० राय चौधरी ने यह प्रश्न उठाया है कि क्या कारण जब बौद्ध धर्म तो श्रीलंका पर प्रायः पूरी तरह छा गया, जैनधर्म के अस्तित्व के वहाँ कोई चिह्न नहीं प्राप्त होते। विद्वान लेखक एक मास लंका में रहकर आए हैं और वहाँ के पुरातत्व विभाग से उन्होंने संपर्क किया, किन्तु उन्हें यही बताया गया कि किसी भी जैन मन्दिर, मूर्ति या कलाकृति के कोई अवशेष श्रीलंका में अभी तक दृष्टिगोचर नहीं हुए हैं। उक्त लेखक का अनुमान है कि जैनों का जीवनदर्शन, आचार के कठोर नियम तथा दिगम्बरत्व ही श्रीलंका में जैनधर्म के प्रसार में बाधक रहे हैं।

हमारे विचार से यह अनुमान किसी अंश तक सत्य हो सकता है, सर्वथा नहीं। स्वयं भारतवर्ष के प्रायः प्रत्येक (विशेष पृ० ८ पर)

जैनधर्म की प्राचीनता व ऐतिहासिकता

□ ३।० देवेन्द्रकुमार शास्त्री, नीमख

जैन धर्म सबसे प्राचीन जीवन्त परम्परा है। इसकी प्राचीनता का सबसे बड़ा प्रमाण इस धर्म का अनादि-अनिधन मंत्र है। अनादिनिधन मंगल मन्त्र इस प्रकार है—

णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं।

णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं।

णमो लोए सव्व साहूणं ॥

अर्थात्—लोक में सब अर्हन्तों को नमस्कार हो, सब सिद्धों को नमस्कार हो, सब आचार्यों को नमस्कार हो, सब उपाध्यायों को नमस्कार हो, सब साधुओं को नमस्कार हो।

इस मन्त्र में जैन धर्म, संस्कृति-साधना, इतिहास सब कुछ समाहित है। यद्यपि भाषा की दृष्टि से पैंतीस अक्षरों वाला यह मन्त्र प्राकृत भाषा में है, किन्तु इस में समस्त श्रुतज्ञान की अक्षर संख्या निहित है, यह जिनवाणी का सार है। तत्त्वज्ञान भी इस में समाया हुआ है। इस मन्त्र का उच्चारण करने से घनात्मक और ऋणात्मक दोनों प्रकार की विद्युत शक्तियाँ उत्पन्न होती हैं, जिन से कायिक शक्ति जाग्रत होती है। मन्त्र में पाँच परम इष्टों अर्थात् पूज्य, सर्वोत्कृष्ट का स्मरण यानी उनके गुणों का स्मरण किया जाता है। पूज्य परमात्मा की श्रेणी के माने गए हैं। जो मिथ्यात्व और रागादिक को जीत लेते हैं, वे सम्यग्दृष्टि-ज्ञानी पुरुष “एकदेशजिन” कहे गए हैं। अतः परमात्मा के गुणों का चिन्तन, मनन करने से मन विसुद्धता को प्राप्त होता है। जिस समय हम निर्विकल्प-दशा में तत्त्वज्ञान का शुद्ध ज्ञान रूप से अनुभव करते हैं, उस समय जिनशासन, यह मंगल मंत्र हमारी आत्मशुद्धि का साधन होता है। इस प्रकार इस मंगल मन्त्र में जिनशासन समाया हुआ है। अपने शुद्धात्मस्वरूप स्वभाव को साधने वाले साधु होते हैं, द्रव्य श्रुतज्ञान की विशिष्टता के साथ भाव श्रुतज्ञान की विशेषता को लिए उपाध्याय होते हैं और जो सध में नामक

तथा स्वरूपाचरण में ही अधिकतर मग्न रहते हैं, वे आचार्य कहलाते हैं। गृहस्थपना का त्याग कर, मुनि धर्म अंगीकार कर निजस्वभाव साधन के द्वारा जो चार घातिकर्मों का क्षय कर देते हैं, वे पूर्ण वीतराग अर्हन्त कहे जाते हैं। सभी प्रकार के कर्म-फलकों से रहित सिद्ध भगवान् होते हैं। इस तरह मन्त्र में कहे गए पाँच परमेष्ठियों के रूप में जैन साधना का क्रमिक वर्णन निहित है।

जैनधर्म के अनुसार लोक अकृतिम है, अनादि-अनिधन है। इस विश्व में पाई जाने वाली सभी वस्तुएं अनादि काल से हैं और अनन्त काल तक बनी रहेंगी। इसलिए ६८ वर्णों की रचना वाले प्राकृत भाषा का यह मन्त्र भले ही द्रव्यश्रुत के रूप में पाँच हजार वर्ष पुराना हो, किन्तु भावश्रुत के रूप में प्रत्येक तीर्थंकर के कल्पकाल में इसका अस्तित्व रहता है।

पौराणिक दृष्टि से काल की अखण्ड धारा में कभी विकास का समय वर्तता है और कभी पतन का समय आता है। यह काल-चक्र की भांति परिणमनशील रहता है। इसके दो विभाग या कल्प-काल माने गए हैं—उत्स-पिणी। और अवस-पिणी। जिस प्रकार गाड़ी का पहिया कभी नीचे से ऊपर और फिर ऊपर से नीचे नियत क्रम में घूमता रहता है, उसी प्रकार एक समय ऐसा आता है जब जगत उन्नतिशील होता है और एक समय ऐसा भी आता है जब सब तरह से अवनति की ओर झुकता जाता है। जैसे घड़ी की सुई छह संख्या तक नीचे की ओर, फिर छह तक ऊपर की ओर चलती है, वैसे ही दोनों काल-विभाग छह-छह के चक्रों में निरन्तर घूमते रहते हैं। उनमें क्रम है। इसी काल चक्र का नाम विकासवाद तथा ह्रासवाद है। उत्सपिणी के छह विभागों के नाम हैं—सुषमा-सुषमा, सुषमा, सुषमा-दुष्मा, दुषमा-सुषमा और दुष्मा-दुष्मा। इसी प्रकार जब काल-चक्र घूमकर सुख से दुःख की ओर आता

है, तब अवसर्पिणी काल होता है। इसके भी छह विभाग किए गए हैं। दोनों को मिलाकर एक कल्पकाल बनता है। इन दोनों कल्पों की अवधि लाखों वर्षों की होती है। इस समय दुषमा या दुःखम नामक पाँचवा अवसर्पिणी काल चल रहा है।

पुराणों में प्रारम्भ के दो कालों को भोग भूमिकाल कहा गया है। इन कालों में आधुनिक ग्राम-सभ्यता या नगर-सभ्यता नहीं थी। लोगों की आवश्यकताएं बिना श्रम किए कल्पवृक्षों से पूर्ण हो जाती थी। कल्पवृक्ष दस तरह के थे—मद्यांग, तूर्यांग, विभूषणांग, स्नानग, ज्योतिरंग, दीपांग, गृहांग, भोजनांग, पत्रांग और वस्त्रांग। उसयुग में मनुष्य परिवार बना कर नहीं रहता था। लोग खेती नहीं करते थे। कल्पवृक्षों से घर-मकान, भोजन-वस्त्रादि प्राप्त हो जाते थे। भाई-बहन का जन्म युगल रूप में होता था। अपना अंगूठा चूस-चूस कर वे ४९ दिनों में तरुण हो जाते थे। उन में परस्पर अनायास विवाह हो जाता था। भोग भूमि की यह व्यवस्था लाखों वर्षों तक चलती है। फिर, तीसरे काल की समाप्ति होते-होते कल्पवृक्षों का प्रभाव क्रमशः क्षीण हो जाता है।

एक दिन सहसा अस्त होते हुए सूर्य तथा चन्द्र को देख कर लोग भयभीत हो उठते हैं। प्रथम कुलकर उन्हें ग्रह-नक्षत्रों की जानकारी देते हैं। इसप्रकार चौदह कुलकर होते हैं जो आवश्यकतानुसार उन सब को शिक्षा देते हैं। इन कुलकरों में अन्तिम कुलकर नाभिराय हुए। नाभिराय का उल्लेख वैदिक तथा श्रमण दोनों परम्पराओं के ग्रन्थों में समान रूप से मिलता है। नाभिराय भगवान् ऋषभदेव के पिता तथा कर्मभूमि की व्यवस्था के सूत्राधार थे। सस्कृत के शब्दकोशों में यह उल्लेख है कि जिस प्रकार चक्र के मध्य में नाभि अर्थात् कीली मुख्य होती है, इसी प्रकार वे क्षत्रिय राजाओं में मुख्य थे। उनके नाम पर सुदीर्घ प्राचीन काल में इस देश का नाम अजनाभवर्ष था। नाभिराय अत्यन्त प्रतापी राजा थे। आगे चलकर उनके पुत्र ऋषभ या वृषभ आदि तीर्थंकर हुए। ऋषभ के पुत्र भरत चक्रवर्ती के नाम पर इस देश का नाम भारत वर्ष पड़ा। हिन्दू पुराणों से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है। “श्रीमद्भागवत” में [५।४। ८।६] में कहा गया है—

भगवान् वृषभदेव के एक सौ पुत्र उत्पन्न हुए। उनमें सबसे बड़े सहयोगी भरत थे। उनके नाम पर इस देश को भारतवर्ष कहते हैं। “अग्निपुराण” में भी यही उल्लेख है कि ऋषभ और मरुदेवी के पुत्र भरत के नाम से यह भारतवर्ष प्रसिद्ध हुआ। “ब्रह्माण्डपुराण” और विष्णुपुराण में ऋषभ को राजाओं में श्रेष्ठ, सभी क्षत्रियों का पूर्वज और भरत आदि सौ पुत्रों का जनक कहा गया है। “विष्णुपुराण” के अनुसार महात्मा नाभि और मरुदेवी से अतिशय कान्तिमान ऋषभ नामक पुत्र हुआ। ऋषभ से भरत का जन्म हुआ। वे एक सौ पुत्रों में सबसे बड़े थे। पिता ने वन जाते समय राज्य भरत को सौंप दिया था। प्रतापी राजा भरत के नाम से यह हिमवर्ष भारतवर्ष के नाम से विश्रुत हुआ। “मार्कण्डेयपुराण” [५०, ३६-४१] में कहा गया है—ससार से विरक्त होकर ऋषभ ने हिमवान् पर्वत की दक्षिण दिशा का भूमि-भाग भरत को सौंप दिया जो भारतवर्ष के नाम से प्रसिद्ध हो गया। “कूर्मपुराण” अग्निपुराण, वायुमहापुराण, गरुडपुराण, वाराहपुराण, लिङ्गपुराण तथा स्कन्दपुराण आदि में भी लगभग समान रूप से वर्णन मिलता है।

हिन्दू पुराणों में कहीं-कहीं जैनधर्म की विशिष्ट प्रशंसा की गई है। यहां तक कहा गया है कि जैनधर्म सनातन है, पूज्य है, केवल जिन की ही पूजा करनी चाहिए। “पद्मपुराण” [भूमिखण्ड ३७।१५] में उल्लेख है—

जिनरूप विजानीहि सत्यधर्म कलेवरम्।

अर्हन्तो देवता यत्र निर्ग्रन्थो दृश्यते गुरुः।

दया चैव परो धर्मस्तत्र मोक्ष प्रदृश्यते ॥

अर्थात्—जिनमुद्रा ही सत्यधर्म का कलेवर [शरीर] है। जिसके देवता अर्हन्त हों, निर्ग्रन्थ जिसके गुरु हो और जो स्वयं दया रूप ही है, वही उत्कृष्ट धर्म है और उससे मोक्ष की प्राप्ति होती है।

“नगरपुराण” में कहा गया है—कृतयुग में दश ब्राह्मणों को भोजन कराने का जो फल है, कलियुग में वही फल अर्हन्तभक्त मुनि का भोजन कराने का है।

पुराणों में ही नहीं, वेदों में भी जैनधर्म के चौबीस तीर्थंकरों का स्तवन किया गया है। “यजुर्वेद” (अ० २५, म० १६, अष्ट ६१, अ० ६, वर्ग १) में उल्लेख है—

“ओम् ऋषभपवित्रं पुरुहूतमध्वजं यज्ञेषु नम्रं परमं माहसंस्तुतं वरं शत्रुं जयंतं पशुरिन्द्रमाहतिरिति स्वाहा । ओम् त्रातारमिन्द्र हवे शत्रुमजितं तद्वद्धमानपुङ्गवमिन्द्र माहतिरिति स्वाहा । शान्त्यर्थमनुविधीयते सो स्माक अरिष्टनेमि स्वाहा ।”

इसमें ऋषभदेव, सुपाश्वनाथ, अरिष्टनेमि और वद्धमान इन चार तीर्थंकरों की पूजा की गई है । “ऋग्वेद” के कई मन्त्रों में ऋषभदेव का “वृषभ” रूप से और नेमिनाथ का “अरिष्टनेमि” शब्द से स्तुति-गान किया गया है । इससे अत्यन्त स्पष्ट है कि साहित्यिक, सांस्कृतिक, पौराणिक व ऐतिहासिक दृष्टि से जैनधर्म अत्यन्त प्राचीन किंवा अनादि-अनिघन परम्परा है ।

जैनधर्म का प्राचीन इतिहास “कृषि के देवता: ऋषभ” से प्रारम्भ होता है । सृष्टि के प्रारम्भ के दिनों में खेती क्यों और कैसे करनी चाहिए— इसका ज्ञान उन्होंने समाज को दिया था । उनके ही समय में अग्नि की उत्पत्ति हुई थी । समाज-व्यवस्था की सभी पद्धतियों का जन्म उनसे प्रारम्भ हुआ । समाज की सभी मर्यादाएँ और नियम उन्होंने बनाए । उन्होंने अपनी बड़ी पुत्री ब्राह्मी को अठारह प्रकार की लिपियाँ सिखाई, आगे चलकर ब्राह्मी के नाम पर “ब्राह्मीलिपि” प्रचलित हुई । श्री पी० सी० राय चौधरी के अनुसार “जैन शास्त्रों द्वारा यह प्रमाणित होता है कि ऋषभ देव ने जैनधर्म का प्रचार मगध (विहार) में पाषाण-युग के शेष काल में तथा कृषि-युग के आरम्भ में किया था । उस प्राचीन काल में मगधदेश शेष भारत से, गंगा सागर से विच्छिन्न था । नेपाल का प्राचीन इतिहास भी इस बात का साक्षी है ।” (जैनजन्म इन विहार, पृ० ७)

जैन पुराणों के अनुसार ऋषभदेव अरबों (८२ हजार वर्ष कम लगभग एक सागर) वर्ष पहले हुए थे । उनकी पूज्यता अत्यन्त प्राचीन है । बौद्ध दार्शनिक “न्यायविन्दु”, “आर्यमंजुश्रीमूलकल्प” आदि ग्रन्थों में उनका सादर उल्लेख किया गया है । आचार्य शुभचन्द्र स्वयं “योगी-कल्पतरु” के रूप में ऋषभदेव का स्मरण करते हैं—

भुवनाम्भोजमार्तण्डं धर्माभूतपयोधरम् ।

योगिकल्पतरुं नीमि देवदेवं वृषध्वज ॥

पुरातात्विक दृष्टि से सिन्धु घाटी के उत्खनन से प्राप्त मुद्राओं तथा मूर्तियों पर अंकित वृषभ से यह प्रमाणित होता है कि शैवधर्म की भांति जैनधर्म भी ताम्र युगीन सिन्धु सभ्यता के साथ फल रहा था । सिन्धु घाटी से प्राप्त मोहरों पर कायोत्सर्ग मुद्रा में अंकित मूर्तियाँ ठीक वैसी हैं, जैसी कि मथुरा म्यूजियम की दूसरी शती की कायोत्सर्ग मुद्रा में स्थित ऋषभदेव की मूर्ति है । सिन्धु घाटी की मूर्ति की शैली इससे बहुत कुछ समानता लिए हुए है । इतिहास के सुप्रसिद्ध विद्वान् डा० राधाकुमुद मुकर्जी अपनी प्रसिद्ध पुस्तक “हिन्दू सभ्यता” में लिखते हैं—“श्री चन्दा ने ६ अन्य मोहरों पर खड़ी हुई मूर्तियों की ओर ध्यान दिलाया है । फलक १२ और ११८, आकृति ७ (मार्शलकृत “मोहनजोदड़ो”) कायोत्सर्ग नामक योगासन में खड़े हुए देवताओं को सूचित करती है । यह मुद्रा जैन योगियों की तपश्चर्या में विशेष रूप से मिलती है, जैसे मथुरा संग्रहालय में स्थापित तीर्थंकर श्री ऋषभदेव की मूर्ति में । ऋषभ का अर्थ है बैल जो आदिनाथ का लक्षण है । मुहर संख्या एफ० जी० एच० फलक दो पर अंकित देवमूर्ति में एक बैल ही बना है । सम्भव है यह ऋषभ का ही पूर्व रूप हो । यदि ऐसा हो तो शैव धर्म की तरह जैनधर्म का मूल भी ताम्रयुगीन सिन्धु सभ्यता तक चला जाता है ।”

जन साधारण का यह भ्रम है जो यह कहते हैं कि जैनधर्म कभी इस देश के बाहर नहीं गया । इतिहास में इस बात के अनेक प्रमाण मिलते हैं कि मध्य एशिया से लेकर सुदूर पूर्व देशों तक जैनधर्म का प्रचार-प्रसार रहा है । मेजर जनरल जे फर्लांग, कर्नल जेम्स टाड आदि कई प्रारम्भिक प्राच्यविदों का अनुमान है कि जैनधर्म यूरोप के स्केन्डिनेविया जैसे दूरस्थ प्रदेशों में तुर्की तथा ऊपरी मध्य एशिया के क्षेत्रों तक पहुंच गया था । चौथी शती ई० पू० में यूनानी सम्राट् सिकन्दर महान् इस देश के तक्ष शिला से कल्याण नामक जैन सन्त को अपने साथ बाकुल तक ले गया था, जहाँ उन सन्त ने सल्लेखना ग्रहण कर समाधि पूर्वक देहत्याग किया था । ईस्वी सन् के प्रारम्भ में भड़ौच के श्रमण आचार्य का रोम जाना और वहीं समाधि करने का उल्लेख पाया जाता है । दक्षिण एव पूर्व में बृहत्तर भारत

के सिंहल, बर्मा, स्याम, कम्बोज, चम्पा, श्री विजय, नवद्वीप आदि प्रदेशों से इस देश का जो सांस्कृतिक सम्बन्ध बना रहा है, उसके मूल में जैन व्यापारियों एवं विद्वानों का योग अवश्य रहा है। सम्राट अशोक के पुत्र महेन्द्र और पुत्री संधिमित्रा जब लंका में धर्म प्रचार के लिए गए, तो उन्होंने वहां देखा कि निर्ग्रन्थ सघ पहले से ही उस देश में स्थापित है। पालि ग्रन्थों के अनुसार लंका में बौद्ध धर्म की स्थापना हो जाने के पश्चात् ४४ ई० पूर्व तक वहां निर्ग्रन्थों के आश्रम विद्यमान थे। “महावंश” के अनुसार तत्कालीन राजा ने निर्ग्रन्थों के लिए भी आश्रम बनवाए। डा० जैन के अनुसार मध्य एशिया की फरात नदी की घाटी के ऊपरी भाग में एक भारतीय उपनिवेश ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में विद्यमान था। लगभग पाच सौ वर्ष पश्चात् पोपग्रेगरी ने भयंकर आक्रमण करके उसे ध्वस्त कर दिया था। अनुश्रुति है कि खेतान के उक्त भारतीय उपनिवेश की स्थापना का श्रेय मौर्य सम्राट अशोक के पुत्र राजकुमार कुणाल को है। वह राजकुमार जैन धर्मावलम्बी था और उसका ही पुत्र प्रसिद्ध जैन सम्राट सम्प्रति था। मध्य एशिया में सम्भवतः यह सर्वप्रथम भारतीय उपनिवेश था। फिर तो चौथी शती ई० के प्रारम्भ तक काशगर से लेकर चीन की सीमा पर्यन्त समस्त पूर्वी तुर्किस्तान का प्रायः

पूर्णतया भारतीयकरण हो चुका था। उसके दक्षिणी भाग में शैलदेश (काशगर), चौक्कु (यारकन्द), खोतग (खोतान), और चलन्द (शान-शान) नाम के तथा उत्तरी भाग में भस्त्र, कुचि, अग्नि देश और काओ चंग नाम के भारतीय संस्कृति के महान प्रसार केन्द्र थे। इन उपनिवेशों की स्थापना के पश्चात् चौथी से सातवीं शताब्दी तक लगातार निर्ग्रन्थों तथा बौद्ध भिक्षुओं का आवागमन होता रहा है। कुछ जैन मूर्तियां एवं अन्य जैन अवशेष भी वहां यत्र-तत्र प्राप्त हुए हैं। अनेक प्राच्यविदों एवं पुरातत्त्वज्ञों का मत है कि प्राचीन काल में जैनधर्म भी उन प्रदेशों में अवश्य पहुंचा था। तिव्वत, कपिशा (अफगानिस्तान), गान्धार (तक्षशिला और कन्दहार), ईरान, ईराक, अरब, तुर्की, मध्य एशिया आदि में जैनधर्म के किसी-किसी रूप में पहुंचने के चिन्ह प्राप्त होते हैं। इनका नहीं, चीन देश के “ताओ” आदि प्राचीन धर्मरूपों पर जैनधर्म का प्रभाव लक्षित होता है। चीन के उत्तरकालीन साहित्य पर जैनधर्म की छाप तथा जैन प्रभाव के सूचक संकेत मिलते हैं। प्राचीन यूनान के पाइथागोरस एवं एपोलोनियस जैसे शाकाहारी व आत्मवादी दार्शनिकों पर भी जैनधर्म का प्रभाव स्पष्ट रहा है और यह तब तक संभव नहीं है, जब तक वे किसी जैन साधु-सन्त के सम्पर्क में न आए हों। इस प्रकार जैनधर्म की प्राचीनता व ऐतिहासिकता के सूत्र देश-देशान्तरी में कई रूपों में उपलब्ध होते हैं जिनका भलीभांति अध्ययन व विवेचन इस युग की मुख्य मांग कही जा सकती है।

□ □

(पृ० ४ का शेषांश)

भाग में अनेक लमूह सामिषहारी पाये जाते हैं, इतर धर्मों वाले नवन जैन मुनियों के प्रति विरक्ति भी प्रदर्शित करते हैं, तथापि प्रायः सर्वत्र ही जैनधर्म, उसके अनुयायी एवं धर्मायतन आदि अल्पाधिक पाये जाते रहे हैं। दिगम्बर मुनियों का प्रायः निर्वाध बिहार भी सर्वत्र होता रहा है। शुद्ध सात्विक अहिंसक जैन विचारधारा और जैनचर्या, विशेषकर जैन साधुओं की चर्या के नियमों की कठोरता अवश्य ही जैनधर्म के व्यापक प्रचार में बाधक रही है, किन्तु सर्वोपरि कारण इतर परम्पराओं के अनुयायियों का धार्मिक विद्वेष तथा उनके सत्ताधारी प्रश्रयदाताओं द्वारा किए गए भीषण धार्मिक अत्याचार ही हैं। लंका का बट्टगामिनी, पांड्यमदुरा का सग्वदर, पल्लवकांची का अय्यर और मद्रास वर्मन रामानुज के श्रीवैष्णव, वासव के लिंगायत या वीरशैव किस किसने जैनधर्म का उच्छेद करने के अमानुषिक प्रयास नहीं किए। अन्य विरोधी शक्तियां एवं विविध कारण भी कार्य करते रहे।

यों, लगभग ५० वर्ष पूर्व स्व. ब्र. सीतल प्रसाद जो हूँका गये थे, वहां उन्होंने कुछ काल निवास भी किया था,

और जैनधर्म एवं दर्शन पर सार्वजनिक भाषण भी दिये थे। व्यापारार्थ भी छुट-पुट जैन वहां जाते-आते रहते हैं, शायद कुछ-एक वहां बस भी गये हैं। बौद्ध, ईसाई, मुसलमानों आदि जैसा मिशन से धर्म प्रचार तो जनों में प्रायः कभी रहा नहीं—वह उसकी प्रकृति के अनुकूल नहीं है। एक बौद्ध देश का पुरातत्त्व विभाग, वहां प्रतिद्वन्द्वी जैनधर्म का कोई पुरातत्त्व मिलता भी है तो उसमें की दिल्चस्पी क्यों लेने लगा—उसके कार्यकर्त्ता ईमानदार भी हों तो अनभिज्ञता तथा जैन एवं बौद्ध परम्पराओं के अनेक सादृश्यों के कारण जैन पुरावशेषों की चीन्हा भी प्रायः दुष्कर है। फिर प्रायः गत २००० वर्ष में ध्वस्त ही तो हुआ है, कोई भी जैन निर्माण शायद नहीं हुआ। जो जैन अवशेष रहे भी होंगे, उन्हें बौद्ध मन्दिरों, विहारों आदि में तथा जनता द्वारा अपने भवनों आदि में इस्तेमाल कर लिया होगा। इसके अतिरिक्त, किसी विशेषज्ञ टीम द्वारा श्रीलंका का जैनावशेषों एवं चिन्हों को खोजने के लिए कोई सर्वेक्षण भी नहीं हुआ है। इस दिशा में कोई ठोस प्रयास किया जाय तो बहुत कुछ सामग्री मिलने की सम्भावना है।

□ □

गुप्त सम्राट् रामगुप्त जैनधर्मानुरागी था ?

□ कुन्दनलाल जैन प्रिन्सिपल

गुप्तकाल प्राचीन भारतीय इतिहास का स्वर्णयुग माना जाता है। इस वश में चन्द्रगुप्त प्रथम, समुद्र गुप्त, रामगुप्त (काचगुप्त) उसका भाई चन्द्रगुप्त द्वितीय, स्कन्दगुप्त आदि बड़े प्रतापी और बलशाली बुद्धिमान शासक हुए थे।

अकेले चन्द्रगुप्त द्वितीय ने ही अपने सैन्यबल एवं बुद्धिशीलता से शको एवं हूणों जैसे महान विजेताओं के दात खट्टे कर दिए थे। गुप्तकाल अपने साहित्य, संगीत, शिक्षा कला आदि की अविद्वद्धि के लिए इतिहास में विख्यात है।

इसी वश के स्थापक सम्राट चन्द्रगुप्त प्रथम के पुत्र सम्राट समुद्रगुप्त के दो पुत्र हुए प्रथम रामगुप्त जो काचगुप्त के नाम से भी प्रसिद्ध था द्वितीय चन्द्रगुप्त द्वितीय जो चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसी चन्द्रगुप्त का बड़ा भाई रामगुप्त (काचगुप्त) था जिसे जन श्रुतियों ने इतिहास में कायर और डरपोक प्रसिद्ध कर दिया और जो शकों से पराजित हो अपनी पत्नी ध्रुव स्वामिनी को शकों को समर्पित करने के लिए तैयार हो गया था पर इसका अनुज चन्द्रगुप्त द्वितीय यह सब कुछ सहन न कर सका और उसने गुप्तवंश की मर्यादा संरक्षण हेतु स्वयं ध्रुवस्वामिनी का रूप धारण कर शक-राज को पराजित किया था और अपने कुल की मर्यादा बचाई थी।

रामगुप्त को कायर और डरपोक सिद्ध करने के पीछे एक बड़ा भारी ऐतिहासिक षड्यन्त्र रहा है जो इतिहास के विद्वानों को अब अनुभव होने लगा है। क्योंकि रामगुप्त की कायरता व डरपोकपने को सिद्ध करने के लिए अभी काई ठोस ऐतिहासिक अभिलेख उपलब्ध नहीं हुए हैं, सब से पहले ११ वीं सदी के प्रसिद्ध ऐतिहासिक नाटककार श्री विशाखदत्त ने 'देवी चन्द्रगुप्तम्' नाटक लिखकर इस षड्यन्त्र को उभारा है। और राम गुप्त को पृष्ठ भूमि में धकेल दिया।

यद्यपि आधुनिक प्रसिद्ध इतिहासकार डा० अल्टेकर और डा० मजूमदार ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ "The Vakata-ka Gupta age" में स्पष्ट रूप से निषेध कर दिया है। कि जब तक इस तरह के कोई अभिलेखात्मक प्रमाण उपलब्ध नहीं हो जाते तब तक इस चर्चा को यही रोक दिया जावे। सच्चाई तो यह है कि श्री विशाखदत्त अपने चरित्रनायक चन्द्रगुप्त से इतने अधिक प्रभावित दिखाई देते हैं कि वे उसकी छवि की उज्ज्वलता तब तक नहीं उभार पाते हैं जब तक कि उसके अनुज की हीनता न प्रकट कर दें, इसीलिए साहित्य की ओट में वे रामगुप्त को कायर और डरपोक लिख गए।

यथार्थता यह है कि जब देवी ध्रुवस्वामिनी का स्वयंवर हुआ तो वह चन्द्रगुप्त द्वितीय पर आसक्त थी और उसी को वरण करना चाहती थी पर राजगद्दी पर उस समय रामगुप्त (काचगुप्त) विराजमान था, अतः उसका (ध्रुव देवी) विवाह राम गुप्त से कर दिया गया, बस इसी तीखातीखी में रामगुप्त को बदनाम करने का अवसर मिल गया और कालान्तर में 'देवी चन्द्रगुप्तम्' के रूप में विशाखदत्त इस ऐतिहासिक झूठ को तथ्य के प्रवर्तक सिद्ध हुए। जिससे राम गुप्त हीन चरित्र और चन्द्रगुप्त द्वितीय श्रेष्ठ चरित्र वाला चित्रित हुआ और विवाह की ईर्ष्या से प्रज्वलित चन्द्रगुप्त ने अपने अग्रज रामगुप्त (काचगुप्त) का बध कर दिया जिससे आगे के लिए कोई प्रमाण ही अविशिष्ट न रहें।

सन् १९५० में विदिशा से प्राप्त सिक्को में राम गुप्त का चित्र अंकित है और उसे 'महाराजाधिराज' की पदवी से अलंकृत किया गया है। सन् १९६५ में विदिशा के दुजना गांव में बुलडोजर चलाते हुए जमीन से खुदाई में तीन तीर्थंकरों चन्द्रप्रभ पुष्पदन्त और पद्म प्रभु की प्रतिमाएं उपलब्ध हुई हैं यद्यपि इन प्रतिमाओं में सांछन (चिन्ह)

नहीं उकेरे जाते थे, चिन्ह उकेरने की परम्परा बाद में प्रचलित हुई है। इन तीनों प्रतिमाओं की, जिनका मूल निम्न प्रकार है, महाराजाधिराज श्री रामगुप्त के उपदेश से गोलकान्त के पुत्र चेल ने सर्पसेन के शिष्य और उनके प्रशिष्य द्वारा प्रतिष्ठित कराई गई थी — तीनों मूर्ति लेख निम्न प्रकार है :—

श्री चन्द्रप्रभु की प्रतिमा

१. भगवतोऽर्हतः चन्द्रप्रभस्य प्रतिमेयं कारिता महाराजाधिराज श्री रामगुप्तेन उपदेशात् पाणिपात्रिक चन्द्र-क्षमणाचार्य क्षमण श्रमण प्रशिष्याचार्य सर्पसेन क्षमण शिष्यस्य गोलकान्तस्य सत्पुत्रस्य चेतलक्षमणस्येति ।

श्री पुष्पदन्त की प्रतिमा

२. भगवतोऽर्हतः पुष्पदन्तस्य प्रतिमेयं कारिता महाराजाधिराज श्री रामगुप्तेन उपदेशात् पाणिपात्रिक चन्द्र-क्षमणाचार्य क्षमण श्रमण प्रशिष्य अपूर्ण ।

श्री पद्मप्रभु की प्रतिमा

३. भगवतोऽर्हतः पद्मप्रभस्य प्रतिमेयं कारिता महाराजाधिराज श्री राम गुप्तेन उपदेशात् पाणि पात्रिक अपूर्ण ।

उपर्युक्त प्रमिमाएँ विदिशा के संग्रहालय में सुरक्षित हैं ।

उपर्युक्त तीनों मूर्ति लेखों की भाषा एक सी ही है केवल चन्द्र प्रभु भगवान के मूर्ति लेख को छोड़कर शेष दो लेख खण्डित हैं । पर यह सुनिश्चित है कि ये प्रतिमाएँ महाराजाधिराज रामगुप्त के उपदेश से प्रतिष्ठित कराई गई थी इससे सम्राट रामगुप्त का जैन धर्म के प्रति अनुराग और सद्भाव स्पष्ट प्रतीत होता है । हो सकता है जैनधर्म के प्रति अनुराग की यह भावना वंश परम्परा में ही चली आ रही हो ।

उपर्युक्त तथ्यों से सम्राट रामगुप्त की हीनता एवं कायरता का सर्वथा निषेध हो जाता है । यह तो कोई राजनैतिक या ऐतिहासिक षड्यन्त्र रहा है जिसने रामगुप्त की छवि धूमिल कर दी और यह षड्यन्त्र ११ वीं सदी के बाद प्रचलित हुआ जिसे परवर्ती विद्वानों ने आंख मीचकर स्वीकार लिया । ११ वीं सदी से पूर्व ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिलता है और अब विदिशा से प्राप्त मूर्तियों एवं सिक्कों से इस षड्यन्त्र का सर्वथा भडाफोड़ ही हो जाता है और रामगुप्त एक श्रेष्ठ गुप्त सम्राट सिद्ध होता है । निष्पक्ष इतिहासकारों को इस तथ्य की पुष्टि कर प्राचीन षड्यन्त्र का सर्वथा निराकरण करना कराना चाहिए । इतिहास में प्रायः भूलें प्रचलित हो जाती हैं जो कालान्तर में स्पष्ट प्रमाण मिलने पर सुधार ली जाती हैं । अतः इन भूलों को भी सुधारना चाहिए ।

विश्वामनगर-शाहदरा
दिल्ली-११००३२

‘अनेकान्त’ के स्वामित्व सम्बन्धी विवरण

प्रकाशन स्थान—वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

प्रकाशक—वीर सेवा मन्दिर के निमित्त श्री रत्नत्रयधारी जैन, ८ जनपथ लेन, नई दिल्ली

राष्ट्रीयता—भारतीय

प्रकाशन अवधि—त्रैमासिक

सम्पादक—श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, वीर सेवा मन्दिर २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

राष्ट्रीयता—भारतीय

स्वामित्व—वीर सेवा मन्दिर २१, दरियागंज, नई दिल्ली-२

मैं रत्नत्रयधारी जैन, एतद् द्वारा घोषित करता हूँ कि मेरी पूर्ण जानकारी एवं विश्वास के अनुसार

उपर्युक्त विवरण सत्य है ।

रत्नत्रयधारी जैन
प्रकाशक

क्षणभंगवाद और अनेकान्त

□ अशोककुमार जैन एम० ए०, शास्त्री

क्षणभंगवाद बौद्धदर्शन का सबसे बड़ा सिद्धान्त है। संसार के समस्त पदार्थ क्षणिक हैं वे प्रतिक्षण बदलते रहते हैं, विश्व में कुछ भी स्थिर नहीं है, चारों ओर परिवर्तन ही परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है, हमें अपने शरीर पर ही विश्वास नहीं है, जीवन का कोई ठिकाना नहीं है, इत्यादि भावनाओं के कारण क्षणभंगवाद का आविर्भाव हुआ है। वैसे तो प्रत्येक दर्शन (भग) नाश को मानता है, किन्तु बौद्ध दर्शन की यह विशेषता है कि कोई भी वस्तु एक क्षण ही ठहरती है और दूसरे क्षण में वह वही नहीं रहती, किन्तु दूसरी हो जाती है अर्थात् वस्तु का प्रत्येक क्षण में स्वाभाविक नाश होता रहता है। तर्क के आधार पर क्षणिकत्व की सिद्धि इस प्रकार की गई है—‘सर्वे क्षणिकं सत्त्वात्’ अर्थात् सब पदार्थ क्षणिक हैं, सत् होने से। सत् वह है जो अर्थ क्रिया (कुछ काम) करे।^१ बौद्ध कह रहे हैं कि इस ढंग की कई व्याप्तियां बनी हुई हैं कि जो जो सत् है वे सभी क्षणिक हैं अर्थात् नित्य नहीं है अथवा जो जो सत् है वह सभी प्रकारों करके एक दूसरे से विलक्षण हैं अर्थात् कोई भी किसी के सदृश नहीं है। उससे अतिरिक्त अन्य स्थानों में सतपने का व्याघात् हो जाने से अर्थ क्रिया की क्षति है। सम्पूर्ण सत् पदार्थ क्षण में समूह चूल नाश हो जाना स्वभाव वाले है यानी एक क्षण में ही उत्पन्न होकर आत्मलाभ करते हुए द्वितीय क्षण में बिना कारण ही ध्वन को प्राप्त हो जाते हैं तथा प्रतिक्षण नवीन-नवीन उत्पन्न हो रहे पदार्थ सर्व ही प्रकारों से परस्पर में विलक्षण हैं। कोई किसी के सदृश नहीं। सूर्य चन्द्रमा, आत्मा, सर्वज्ञप्रत्यक्ष, परमात्मा आदि पदार्थों के भी उत्तर-उत्तर होने वाले असंख्य परिणाम सदृश नहीं हैं, विभिन्न हैं, इस प्रकार बौद्ध मानते हैं।^२ अब यह देखना है कि अर्थ क्रिया नित्य पदार्थ में हो सकती है या नहीं। बौद्ध दर्शन का कहना कि नित्य वस्तु में अर्थ क्रिया हो ही नहीं सकती क्यों कि नित्य

वस्तु न तो युगपद् अर्थ क्रिया करती है और न क्रम से। नित्य वस्तु यदि युगपद् अर्थ क्रिया करती है तो संसार के समस्त पदार्थों को एक साथ, एक समय में ही उत्पन्न हो जाना चाहिए और ऐसा होने पर आगे के समय में नित्य वस्तु को कुछ भी काम करने का शेष नहीं बचेगा। अतः वह अर्थ क्रिया के अभाव में अवस्तु हो जायगी। इस प्रकार नित्य में युगपद् अर्थ क्रिया नहीं बनती है। नित्य वस्तु क्रम से भी अर्थ क्रिया नहीं कर सकती तो यह प्रश्न उपस्थित होता है कि सहकारी कारण उसमें कुछ विशेषता उत्पन्न करते हैं या नहीं? यदि सहकारी कारण नित्य में कुछ विशेषता उत्पन्न करते हैं तो वह नित्य नहीं रह सकती और यदि सहकारी कारण नित्य में कुछ भी विशेषता उत्पन्न नहीं करते तो सहकारी कारणों के मिलने पर भी वह पहल की तरह कार्य नहीं कर सकेगी। दूसरी बात यह भी है कि नित्य स्वयं समर्थ है अतः उसे सहकारी कारणों की कोई अपेक्षा भी नहीं होगी फिर क्यों न वह एक समय में ही सब काम कर देगी। इस प्रकार नित्य पदार्थ में न तो युगपद् अर्थ क्रिया हो सकती है और न क्रम से। अर्थ क्रिया के अभाव में वह सत् भी नहीं कहला सकता इसलिए जो सत् है वह नियम से क्षणिक है। क्षणिक ही अर्थ क्रिया कर सकता है। यही क्षणभंगवाद है। क्षणभग के कारण ही बौद्धदर्शन विनाश को निरहेतुक मानता है। प्रत्येक क्षण में विनाश दृश्य होना है किसी दूसरे के द्वारा नहीं।^३ घट का जो विनाश दण्ड के द्वारा होता हुआ देखा जाता है वह घट का विनाश नहीं, किन्तु कपाल की उत्पत्ति है।^४

उत्तरपक्ष—बौद्धों के अनुसार सर्वपदार्थ क्षणिक हैं कोई भी पदार्थ दो क्षण नहीं टहलता, एक क्षण ही पदार्थ का अस्तित्व रहता है। इस प्रकार का अनित्यत्वैकान्त प्रत्यक्ष से सिद्ध नहीं होता है। प्रत्यक्ष से तो स्थिर अर्थ

की प्रतिपत्ति होती है बौद्ध यदि अनित्यत्वैकान्त की सिद्धि अनुमान से करना चाहें तो बौद्धों के यहाँ अनुमान भी नहीं बन सकता है। साध्य और साधन में अविनाभाव सम्बन्ध का ज्ञान होने पर साधन के ज्ञान से जो साध्य का ज्ञान होता है वह अनुमान है। धूम साधन है और वह्नि साध्य है। उनमें असा ज्ञान करना कि जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ वह्नि होती है और जहाँ वह्नि नहीं होती वहाँ धूम भी नहीं होता इस प्रकार के ज्ञान का नाम अविनाभाव का ज्ञान है। धूम और वह्नि में अविनाभाव का ज्ञान हो जाने पर पर्वत में धूम को देखकर वह्नि का ज्ञान करना अनुमान है किन्तु बौद्धों के यहाँ अविनाभाव का ज्ञान किसी प्रमाण से नहीं हो सकता है। प्रत्यक्ष से तो साध्य और साधन में अविनाभाव का ज्ञान हो नहीं सकता क्योंकि बौद्ध प्रत्यक्ष को निर्विकल्पक (अनिश्चयात्मक) मानते हैं। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के द्वारा अविनाभाव का ज्ञान कैसे संभव हो सकता है। जो किसी बात का निश्चय ही नहीं करता। वह अविनयभाव को कैसे जानेगा। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के बाद एक सविकल्पक प्रत्यक्ष भी होता है जिसको बौद्ध भ्रान्त मानते हैं। वह भी अविनयभाव का ज्ञान नहीं कर सकता। क्योंकि उसका विषय भी वही है जो निर्विकल्पक का विषय है जब निर्विकल्पक अविनाभाव को नहीं जानता है तो सविकल्पक को कैसे जान सकता है। दूसरी बात यह भी है कि प्रत्यक्ष पास के अर्थ को ही जानता है। उसमें इतनी समर्थ्य नहीं है कि वह संसार के समस्त साध्य और साधनों का ज्ञान कर सके अतः प्रत्यक्ष के द्वारा अविनाभाव का ज्ञान संभव नहीं है।

अनुमान के द्वारा भी अविनाभाव का ज्ञान संभव नहीं है 'पर्वतोऽयं वह्निमान धूमवत्वात्' इस अनुमान में जो अविनाभाव है उसका ज्ञान इसी अनुमान से होगा या दूसरे अनुमान से यदि दूसरे अनुमान से इस अनुमान के अविनाभाव का ज्ञान होगा तो दूसरे अनुमान में अविनयभाव का ज्ञान तीसरे से और तीसरे में अविनाभाव का ज्ञान चौथे अनुमान से होगा इस प्रकार अनवस्था दूषण आ जाता है। यदि इसी अनुमान से हम अज्ञान के अविनाभाव का ज्ञान किया जाता है तो ऐसा मानने में अन्यो-

न्याय्य दोष आता है क्योंकि अविनाभाव का ज्ञान हो जाने पर अनुमान होगा और अनुमान के उत्पन्न होने पर अविनाभाव का ज्ञान होगा। इस प्रकार बौद्धों के यहाँ किसी भी प्रमाण से अविनाभाव का ज्ञान न हो सकने के कारण अनुमान प्रमाण सिद्ध नहीं होता है इसलिए अनुमान प्रमाण से भी अनित्यत्वैकान्त की सिद्धि नहीं होती है।

क्षणिकात्मवाद में हेतु बनता ही नहीं है क्योंकि हेतु को यदि सत् रूप माना जाय—सत् रूप ही पूर्वचित्तक्षण उत्तरचित्तक्षण का हेतु है ऐसा स्वीकार किया जाय तो इससे विभव का प्रसंग आता है अर्थात् एकक्षणवर्ती चित्त में चित्तान्तर की उत्पत्ति होने पर उस चित्तान्तर के कार्य की भी उसी क्षण उत्पत्ति होगी और इस तरह सकलचित्त और चैतक्षणो के एकक्षणवर्ती हो जाने पर सकल जगत् व्यापी चित्त प्रकारो की युगपत् सिद्धि ठहरेगी और ऐसा होने से जिसे क्षणिक कहा जाता है वह विभुत्व रूप ही है, सर्व व्यापक ही है यह कैसे निवारण किया जा सकता है। इसके सिवाय एकक्षणवर्ती सत् चित्त के पूर्वकाल तथा उत्तरकाल में जगत् चित्तशून्य ठहरता है और सन्तान निर्वाणरूप जो विभवमोक्ष है वह सबके अनुपाय (बिना प्रयत्न के ही) सिद्ध होता है और इसलिए सत् हेतु नहीं बनता (इस दोष से बचने के लिए) यदि हेतु को असत् ही कहा जाय तो अकस्मात् बिना किसी कारण के ही) कार्योत्पत्ति का प्रसंग आयेगा और इसलिए असत् हेतु भी नहीं बनता।^१ यदि पदार्थ को प्रलयस्वभावरूप आकस्मिक माना जाय—यह कहा जाय कि जिस प्रकार बौद्ध मतानुसार बिना किसी दूसरे कारण के ही प्रलय (विनाश) आकस्मिक होता है, पदार्थ प्रलयस्वभावरूप है उसी प्रकार कार्य का उत्पादन भी बिना कारण के ही आकस्मिक होता है तो इससे कृतकर्म के भोग का प्रणाम ठहरेगा—पूर्वचित्त न जा शुभ अथवा अशुभ कर्म किये उसके फल का भोगी वह न रहेगा और इससे किये हुए कर्म को करने वाले के लिए निष्फल कहना होगा और अकृत कर्म के फल को भोगने का प्रसंग आयगा जिस उत्तरभावी चित्त ने कर्म किया ही नहीं उसे अपने पूर्वचित्त द्वारा किये हुये कर्म का फल भोगना पड़ेगा क्योंकि क्षणिकात्मवाद में कोई भी कर्म का कर्ता चित्त उत्तरक्षण में अवस्थित नहीं रहता किन्तु फल

की परम्परा चलती है। साथ ही कर्म भी असंचित-अविचारित टहरेगा, क्योंकि जिस चित्त ने कार्य करने का विचार किया उसका उसी क्षण निरन्वय विनाश हो जाने से और विचार न करने वाले उत्तरवर्ती चित्त के द्वारा उसके सम्पन्न होने से उसे उत्तरवर्ती चित्त का अविचारित कार्य ही कहना होगा। पदार्थ के प्रलय स्वभावरूप क्षणिक होने पर कोई मार्ग भी युक्त नहीं रहेगा।^१ क्षणिक एक चित्त में बन्ध और मोक्ष भी नहीं बनते।^२ शास्ता और शिष्यादि के स्वभाव-स्वरूप की भी कोई व्यवस्था नहीं बनती।^३

बौद्धों की यह कल्पना भी उचित नहीं जान पड़ती कि अनेक वस्तुएँ एक ही कार्य को जन्म देने में समर्थ हैं क्योंकि इन अनेक वस्तुओं में अनेकता रहती है जब कि इस अनेकता का प्रस्तुत कार्यगत एकता के साथ विरोध है। कारण सामग्री की अंगभूत सभी वस्तुओं पर निर्भर रहते हुए अस्तित्व में आने वाला कार्य एक कैसे कहा जा सकता है क्योंकि एक वस्तु वह होती है जिसमें एक स्वभावता रहती है जब कि अनेक वस्तुओं से उत्पन्न होने वाली वस्तु में एकस्वभावता रह नहीं सकती। कारण-सामग्री की अंगभूत वस्तुएँ अनेक इसीलिए हैं कि उनके स्वभाव परस्पर भिन्न हैं ऐसी दशा में इन्हीं (अनेक) वस्तुओं की सामर्थ्य के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाली वस्तु एकरूप कैसे हो सकती है। जो कार्य एकवस्तु की सामर्थ्य के फलस्वरूप उत्पन्न होता है वह किसी दूसरी वस्तु से भी उत्पन्न हो यह संभव नहीं; क्योंकि उस दशा में उक्त दो वस्तुएँ परस्पर अभिन्न हो जायेंगी और यदि ये वस्तुएँ परस्पर भिन्न रहेंगी तो यह कार्य भी दो रूपों वाला हो जाएगा। किन्हीं वस्तुओं के सम्बन्ध में यह कहना कि कसी कार्य विशेष को जन्म देने में वे सभी समर्थ हैं तभी युक्तसंगत है जब इनमें से प्रत्येक वस्तु उक्त कार्य को जन्म देने में समर्थ हो क्योंकि सबकी सामर्थ्य 'प्रत्येक की सामर्थ्य' के बिना संभव नहीं। दो वस्तुओं को एक ही ज्ञान का विषय बनाये बिना उनके बीच कार्यकारणभाव की कल्पना करना युक्तिसंगत नहीं लेकिन बौद्धों के अनु-

सार दो वस्तुएँ एक ही ज्ञान का विषय हो नहीं सकती। एक ही क्षण तक टहरने वाले और अंशों से रहित निरात्म भाव में भी क्रम और यौगपद्य नहीं ठहरते हैं तथा अपने अर्थ क्रिया भी नहीं होती है अर्थात् कूटस्थ के समान निःस्वभाव क्षणिक पदार्थ में भी क्रम और यौगपद्य तथा अर्थक्रिया का होना विरुद्ध हो रहे हैं क्योंकि ये अनेकधर्मात्मक पदार्थ में पाये जाते हैं जिस कारण वह बौद्धों का सत्त्व हेतु विपक्ष में वृत्ति होने से अनैकान्तिक (व्यभिचारी) है अर्थात् एकान्त साध्यवाद से विपरीत में वृत्ति कर रहा वह हेतु विरुद्ध है।

सभी प्रकार मूल से ही दूसरे क्षण में नाश होने वाले पदार्थ में वास्तविक रूप से क्रम और अक्रम नहीं बनते हैं। क्रम तो कालान्तरस्थायी पदार्थ में बनता है और अक्रम यानी एक साथ कई कार्यों का करना भी कुछ देर तक टहरने वाले पदार्थ में सम्भवता है। तिस कारण अक्रम के असम्भव होने पर ज्ञानमात्र हो जाना इस अपनी निज की अर्थक्रिया की भी भला कैसे व्यवस्था हो सकेगी? जिससे कि उस सर्वथा क्षणिक से निवृत्ति को प्राप्त हो रहा सत्ता सत्त्व हेतु अनेकान्तस्वरूप कथंचित् क्षणिक पदार्थ में स्थिति को प्राप्त करके उस क्षणिकपन से विरुद्ध नहीं होता।^४ सत्त्व हेतु से कथंचित् क्षणिकपन और न्यारे-न्यारे पदार्थों में कथंचित् सदृश्यपना सिद्ध हो जाने से निर्वाध हो गई सदृश्यपन और एकपन को विषय करने वाली प्रत्यभिज्ञा नाम की प्रतीति पदार्थों के सर्वथा नित्यपन अथवा क्षणिकपन के एकान्त को नष्ट कर देती है और पदार्थों को उत्पाद, व्यय, धीव्यरूप परिणाम का साधन करा देती है। ऐसे अनेकान्तरूप और परिणामी उस पदार्थ में भला वह प्रत्यभिज्ञान कैसे नहीं होगा? अर्थात् अवश्य होगा। परिणाम नहीं होने वाले कूटस्थ और निरक्ष एकान्त क्षणिक पदार्थों की सिद्धि नहीं हो सकी है। कथंचित् नित्य, परिणामी, अनेकधर्मात्मक वस्तुभूत अर्थ में प्रत्यभिज्ञान प्रमाण का विषयपना है।^५

संदर्भ-सूची

१. अर्थ क्रिया सामर्थ्य लक्षणत्वाद् वस्तुनः ।

—न्यायविन्दु पृ० १७

२. यत्सत्सर्वं क्षणिकं सर्वथैव विलक्षणं ।

ततोऽन्यत्र प्रतीचातात्मत्वस्यार्थक्रियाक्षतेः ॥

अर्थक्रिया क्षतिस्तत्रक्रमवृत्तिविरोधतः ।

तद्विरोधस्ततो न शस्यान्यापेक्षा विधाततः ॥

इतीय व्यापका दृष्टिर्नित्यत्वं हन्ति वस्तुनः ।

सादृश्यं च ततः संज्ञा बाधिकेत्यपि दुर्घटम् ॥

क्षणप्रध्वंसिनः संतः सर्वथैव विलक्षणः ।

इति व्याप्तेरसिद्धत्वाद्प्रकृष्टार्थशकिनाम् ॥

तत्त्वार्थं श्लोक वातिकालंकार, तृ० खंड पृ० २३०-३२

३. तस्मादनश्वरत्वे कदाचिदपि नाशायोगात्, दृष्टत्वाच्च

नाशस्य, नश्वरमेव तद्वस्तु स्वहेतोरुपजातमङ्गी कर्त-

व्यम् । तस्मादुत्पन्नमात्रमेव विनश्यति उत्पत्ति क्षण

एवं सत्वात् ।

—तर्कभाषा पृ० १६

४. प्रो० उदयचन्द जैन : आप्तमीमांसा-तत्त्वदीपिका
पृ० ३८ ।५. प्रो० उदयचन्द जैन : आप्तमीमांसा तत्त्वदीपिका
पृ० ८६-९० ।

६. नैवास्ति हेतुः क्षणिकात्मवादे,

न सन्नमन्वा विभवादकस्मात् ।

नाशोदयैकक्षणता च दुष्टा,

सन्तान-भिन्न क्षणयोरभावात् ॥

—युक्त्यनुशासन १३

७. कृतप्रणाशाकृतकर्मभोगी स्याताम-

सञ्चेतितकर्म च स्यात् ।

आकस्मिकैऽर्थे प्रलयस्वभावे मार्गो न

युक्ती वधकश्च न स्यात् ॥

—युक्त्यनुशासन १४

८. वही—१५

९. वही—१७

१०. प्रभूतानां च नैकत्र साध्वी सामर्थ्यकल्पना ।

तेषां प्रभूत भावेन तदेकत्व विरोधतः ॥

तान शेषान् प्रतीत्येह भवदेकं कथं भवेत् ।

एकस्वभावमेकं यत् तत्तु नानेकभावतः ॥

यतो भिन्नस्वभावत्वे सति तेषामनेकतः ।

तावत् सामर्थ्यजत्वे च कुतस्तस्यैकरूपता ॥

यज्जायते प्रतीत्यैक सामर्थ्यं नान्यतो हि तत् ।

तद्योरभिन्नतापत्तेर्भेदे भेदस्तयोरपि ॥

प्रत्येकं तस्य सद्भावे युक्त्युक्तएवभावता ।

न हि तत्सर्वं सामर्थ्यं तत्प्रत्येकत्ववर्जितम् ॥

उभयोर्ग्रहणभावे न तथाभावकल्पनम् ।

तयोर्न्याय्यं न चैकेन द्वयोर्ग्रहणमस्ति व ॥

हरिभद्र : शास्त्रवार्तासमुच्चय ३०६, ३०७, ३०८,

३०९, ३११, ३२१ ।

११. क्षणिकेऽपि विरुध्येते भावेनशे क्रमाक्रमौ ।

स्वार्थ क्रिया च सत्त्वं च ततोऽनेकान्तवृत्तितत् ॥७०॥

तत्त्वार्थं श्लोकवातिकालंकार पृ० २३३-३४ तृ० खंड

१२ निहन्ति सर्वथैकांतं साध्येत्परिणामिन ।

भवेत्तम न भावे तत्प्रत्यभिज्ञा कथंचन् ॥७१॥

तत्त्वार्थं श्लोक वातिकालंकार पृ० २३४ खण्ड

मेरा यह दृढ़तम विश्वास हो गया है कि धनिक वर्ग ने पंडित वर्ग को बिल्कुल ही पराजित कर दिया है। यदि उनको कोई बात अपनी प्रकृति के अनुकूल न रहे तब वे शीघ्र ही शास्त्र विहित पदार्थ को भी अग्न्यथा कहलाने की चेष्टा करते हैं।

—वर्णोवाणी २०-६-१९५१

गतांक से आगे :

आचार्य कुन्दकुन्द की जैन दर्शन को देन

□ डा० साजचन्द जैन, बंशानी

४. अत्मा के तीन भेद: बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा—

आचार्य कुन्दकुन्द के मोक्षवादुड (मोक्षप्राप्ति) में आत्मा के तीन भेद उपलब्ध होते हैं—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा।^१ अत्मा के इस प्रकार के भेद कुन्दकुन्दाचार्य के पूर्ववर्ती जैन वाङ्मय में दृष्टि गोचर नहीं होते हैं। अतः यह भी उनकी एक अभूतपूर्व देन है। कुन्दकुन्दाचार्य के उत्तरवर्ती आचार्यों ने इनका अनुकरण कर आत्मा के उपर्युक्त भेदों का विवेचन किया है।^२

बहिरात्मा का स्वरूप—इन्द्रियो को आत्मा मानना बहिरात्मा है। बाह्य पदार्थों में जिसका मन आसक्त है, इन्द्रियरूपी द्वार से जो अपने स्वरूप से भ्रष्ट (च्युत) हो गया है, जो अपने शरीर को आत्मा मानता है और उसका ध्यान करना है, ऐसा मूढ़ दृष्टि वाला बहिरात्मा कहलाता है।^३ जो आवश्यक कर्म में रहित है, अन्तर्जल्प और बाह्यजल्प में वर्तता है और ध्यान रहित है वह बहिरात्मा है।^४

अन्तरात्मा—जो आत्मा का सकल्प करता है, आवश्यक कर्म से युक्त, जो जल्पो में वर्तता है, धर्म-ध्यान और शुक्ल-ध्यान में परिणत है वह अन्तरात्मा कहलाता है।

परमात्मा—जो आत्मा कर्म कलक से विमुक्त है, मूल शरीर और इन्द्रियो से रहित है, केवलज्ञानमय है, विशुद्ध है, परमपद में स्थित है, परम जिन है, मोक्ष देने वाला अविनाशी सिद्ध है,^५ समस्त दोषों से रहित है, केवल ज्ञान आदि परम वैभव से युक्त है परमात्मा कहलाता है।^६ परमात्मा ज्ञाती, शिव, परमेष्ठि, सर्वज्ञ, विष्णु चतुर्मुख तथा बुद्ध भी कहलाता है।^७ परमतत्त्व जन्म, जरा और मरण से रहित है, उत्कृष्ट, अष्टकर्मों से वर्जित, शुद्ध ज्ञानादि चार गुण रूप स्वभाव वाला, अक्षय, अविनाशी, अछेय,

अव्याबाध, अनिन्द्रिय, अनुपम, पाप-पुण्य से युक्त, पुनरागमन से रहित, नित्य, अचल और अनालम्ब है।^८ आचार्य कुन्दकुन्द के पूर्व आत्मा के उपर्युक्त तीन भेदों का निरूपण आचारांगादि अग साहित्य में भी उपलब्ध नहीं होता है।

५. त्रिदिध चेतना

आत्मा चेतना रूप है अर्थात् चेतना आत्मा का स्वरूप है। चेतना को अनुभूति, उपलब्धि और वेदना भी कहते हैं आचार्य कुन्दकुन्द ने तीन प्रकार की चेतना का उल्लेख किया है। चेतना के इस प्रकार के भेदों का उल्लेख अर्ध-मागधी आगम में उपलब्ध नहीं है। आचार्य ने बतलाया है कि आत्मा परिणामी है और वह चेतना रूप परिणमन करता है।^९ इस दृष्टि से चेतना निम्नांकित तीन प्रकार की है।^{१०}—

१) ज्ञान चेतना, २) कर्म चेतना, और ३) कर्मफल चेतना।

स्व-पर भेदपूर्वक जीवादि पदार्थों को जानना अर्थात् ज्ञानभाव रूप परिणमन करना ज्ञान चेतना है। आत्मा ने (शुभ-अशुभ कार्य करते समय) जो भाव किए हैं वह भाव-कर्म है, जो अनेक प्रकार के हैं। इसे कर्म चेतना कहते हैं, कर्मजन्य सुख-दुख का अनुभव करना कर्मफल चेतना है।^{११}

चेतना की अपेक्षा सम्पूर्ण जीवराशि उपर्युक्त तीन भागों में विभाजित है।^{१२} जिनके ज्ञानावरणादि समस्त कर्म नष्ट हो गये हैं और जो प्रमुख रूप से ज्ञानरूप परिणमन करते हैं उनके ज्ञानचेतना होती है। यह चेतना केवलज्ञानी और सिद्धों के होती है।

जो जीव प्रमुख रूप से केवल कर्म-फलों का अनुभव करते हैं वे कर्म-फल चेतना युक्त जीव कहलाते हैं। पृथ्वी-काय आदि स्थावर जीवों के कर्मफल चेतना होती है। जो इन्द्रियादि अस जीवों के कर्मचेतना होती है।

६. उपयोगवाद

आचार्य कुन्दकुन्द के प्रवचनसार के ज्ञानाधिकार में उपयोग सिद्धान्त का जो विवेचन मिलता है वह आचार्य-गादि आगमों में दृष्टिगोचर नहीं होता है। चेतना की परिणति विशेष उपयोग कहलाता है। उपयोग चैतन्य को छोड़कर अन्यत्र नहीं रहता इसलिए उपयोग चैतन्य का अन्वयी परिणाम कहलाता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने आगम ग्रन्थों की तरह आत्मा को उपयोग स्वरूप और ज्ञान-दर्शन रूप बतलाया है। लेकिन आचार्य कुन्दकुन्द ने आत्मा के परिणमन की अपेक्षा उपयोग के तीन भेद बतलाये हैं—
(१) अशुभोपयोग, (२) शुभोपयोग, (३) शुद्धोपयोग। पचास्ति काय और भाव पाहुड़ में उन्होंने बतलाया है कि भाव तीन प्रकार के होते हैं—(१) शुभ, (२) अशुभ और (३) शुद्ध।

शुभ अशुभ अनुष्ठानों के करने से क्रमशः शुभ भाव और अशुभ भाव होते हैं। जब आत्मा शुभ और अशुभ अनुष्ठानों के विकल्पों से रहित निर्विकल्प रूप हो जाता है तो उसके शुद्ध भाव होता है। अतः शुभ भाव रूप से परिणमन करने से आत्मा शुभोपयोगी, अशुभ भाव से युक्त होने से अशुभोपयोग वाला और शुद्ध भावों से युक्त होने से आत्मा शुद्धोपयोगी कहलाता है। शुभ, अशुभ और शुद्ध रूप अनुष्ठान करने से होने वाले शुभोपयोग, अशुभोपयोग और शुद्धोपयोग के स्वरूप, उनके फल और हेय-उपादेय का सूक्ष्म और विशद विवेचन प्रवचनसार में उल्लेख है।

१. शुभोपयोग

प्रशस्त राग शुभ भाव कहलाता है। पचास्ति काय में अरहन्त सिद्ध और साधुओं में भक्ति रखना शुभ राग रूप धर्म में प्रवृत्ति होना तथा गुरुओं के अनुकूल चलना प्रशस्त राग कहा है। अतः प्रशस्तराग से युक्त होना शुभोपयोग कहलाता है। प्रवचनसार में उन्होंने शुभोपयोग का लक्षण बतलाते हुए कहा है कि देव, शास्त्र, गुरु की पूजा करना, दान देना, अहिंसादि पांच महाव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रत का निर्दोष रूप से पालन करना, उपवास आदि करना शुभोपयोग कहलाता है। श्रेयाधिकार में भी कहा है कि जो अरहन्त को जानता है, सिद्धों तथा अनगारों अर्थात् मुनियों के प्रति श्रद्धा करता है और जीवों में अनुकम्पा

रखता है उसके शुभोपयोग होता है। यह उपयोग चतुर्थ-गुणस्थान से छठे गुणस्थान तक के जीवों के तारतम्यरूप से होता है। शुभोपयोग से पुण्य का संचय होता है।

शुभोपयोग का फल

शुभोपयोग के प्रभाव से शुभोपयोगी जीव उत्तम तिर्यच उत्तम मनुष्य तथा उत्तम देव होता है और आयु पर्यन्त अनेक प्रकार के उत्तम सुखों को भोगता है। आचार्य ने यह भी कहा कि शुभोपयोग से युक्त आत्मा को स्वर्ग के सुखों की प्राप्ति होती है।

अशुभोपयोग

अशुभोपयोग अशुभ-भावों अर्थात् मोह, द्वेष और अप्र-शस्तराग से होता है। इन्द्रिय विषय स्पर्शनादि और क्रोधादि कषाय में परिणत होना, मिथ्या शास्त्र सुनना, पर के लिए द्रष्ट काम भोग की चिन्ता से युक्त होना, दृष्टों की संगत करना, और दुर्चर्या करना अर्थात् परनिन्दा करना, हिंसादि पाप करने में उग्र होना और उन्मार्गी होना अर्थात् सर्वज्ञ कथित मार्ग से उल्टे मार्ग को अपनाना अशुभोपयोग कहलाता है।

अशुभोपयोग अशुभ परिणामों से होता है। अतः यह पाप का कारण है। अशुभोपयोग से युक्त आत्मा कुमनुष्य तिर्यच और नारकी होकर अनन्त दुखों से दुःखित होकर ससार में भ्रमण करता रहता है। प्रवचनसार के टीका-कार के अनुसार मिथ्यात्व, सासादन और मिथ के गुण-स्थानों के जीवों के अशुभोपयोग होता है।

शुभोपयोग और अशुभोपयोग में अन्तर

अशुभोपयोग और शुभोपयोग दोनों अशुद्ध परिणामों से होते हैं इसलिए ये दोनों अशुद्धोपयोग कहलाते हैं। लेकिन शुभोपयोग पुण्य का कारण है और इससे इन्द्र, नरेन्द्र चक्रवर्ती एवं स्वर्गों के सुखों तक उपलब्धि हो सकती है। क्योंकि शुभोपयोग शुभ अनुष्ठानों से होता है। अतः व्यवहार नय की अपेक्षा धर्म है। इसलिए शुभोपयोग उपादेय है। इसके विपरीत अशुभोपयोग अशुभ अशुभ अनुष्ठानों के करने से होता है। इसलिए यह एक मात्र दुःख का कारण है। व्यवहार नय की दृष्टि से भी धर्म का अंग न होने के कारण सर्वथा हेय है।

शुद्धोपयोग

अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित रहना शुद्धोपयोग है। शुभोपयोग और अशुभोपयोग से रहित निर्विकल्प स्थिति शुद्धोपयोगी की है। जिस समय जीव पर-पदार्थों में न राग करता है और न द्वेष करता है अर्थात् उससे सर्वथा उदासीन हो जाता है।^{१४} और निर्विकल्प होकर शुद्ध आत्मा का चिन्तन करने लगता है। यह मोह-ओभ-विहीन आत्मा की साम्य अवस्था ही शुद्धोपयोग है। कहा भी है—“अशुभ-योग से रहित और शुभोपयोग में राग न रखने वाला (अशुभयोग और शुभोपयोग से रहित) और शुभ एवं अशुभ पदार्थों में मध्यस्थ स्व-पर-विवेकी जीव ज्ञान स्वरूप शुद्ध आत्मा का अनुभव करता है।”^{१५}

शुद्धोपयोग को पद्मनन्दि ने साम्य, स्वस्वास्थ्य, समाधि योग, चित्तनिरोध कहा है।^{१६} जयसेन ने प्रवचनसार की तात्पर्य-वृत्ति में उत्सर्ग मार्ग, निश्चय नय, सर्वपरित्याग, संयम, वीतराग चारित्र और शुद्धोपयोग को एकार्थक कहा है।^{१७} अतः शुद्धोपयोगी वह कहलाता है जिसने समस्त शास्त्रों का भलीभाँति पूर्वक अध्ययन कर लिया है, संयम और तप से युक्त है, वीतराग है और सुख-दुःख में समभाव रखता है।^{१८}

शुद्धोपयोग का फल

शुद्धोपयोग युक्त आत्मा को निर्वाण का सुख मिलता है। क्योंकि शुद्धोपयोग पुण्य-पाप का कारण नहीं है। निर्वाण सुख की विशेषता है कि वह सातिशय, आत्म-जन्य, विषयातीत, अनुपमेय, अनन्त और निरन्तर बाधा-रहित होता है।

शुद्धोपयोग अप्रमत्त नाभक सातवें गुणस्थान से क्षीण कषाय नामक बारहवें गुण-स्थान तक के जीवों के तारतम्य रूप से होता है। संयोग केवली और अयोगकेवलीजिन होना शुद्धोपयोग का फल है। शुद्धोपयोग के प्रभाव से आत्मा के ज्ञानावरणादि घातिया कर्मों का क्षय हो जाने से शुद्धोपयोगी के केवलज्ञान हो जाता है। अतः वह केवली कहलाने लगता है। केवली तीन कालवर्षों समस्त द्रव्यों और उनकी पर्यायों को जानने लगता है इसलिए वह सर्वज्ञ कहलाने लगता है।^{१९}

शुद्धोपयोग ही उपादेय है

यद्यपि अशुभोपयोग की अपेक्षा शुभोपयोग उपादेय है। लेकिन शुभोपयोग भी संसार का कारणभूत होने के कारण शुभोपयोग भी छोड़ने योग्य है। शुभोपयोग पुण्य उत्पन्न करता है, पुण्य सोने की बेड़ी के समान है, जो जीव को बन्धन में बाँधता है।^{२०} अतः यह मोक्ष का साक्षात् कारण नहीं है।^{२१} अशुभोपयोग की तरह शुभोपयोग से भी स्वाभाविक सुख की प्राप्ति नहीं होती। इसके विपरीत शुभोपयोगजन्य सुख इन्द्रियजन्य, पराधीन, बाधायुक्त, कर्म-बन्धन का कारण, क्षयिक और विषम होने से दुःख रूप ही होना है।^{२२} शुभोपयोगी विषयो में तृष्णा रखता हुआ उनमें रमण करते हैं। विषय-जन्य सुखाभास है सुख नहीं। अतः मनुष्य तिर्यच, नारकी और देव सभी देहजन्य दुःखों से पीड़ित रहते हैं।^{२३} अतः शुभोपयोग भी अशुभोपयोग की तरह त्यागने योग्य है शुद्धोपयोग से शरीरजन्य दुःख नहीं होते हैं और स्वाभाविक सुख मिलता है, संवर एवं मोक्ष का साक्षात् कारण है।^{२४} इसलिए यह उपादेय है। यही कारण है कि आचार्य ने संसारी जीवों को शुद्धोपयोग ग्रहण करने की प्रेरणा दी है।

ज्ञान-विमर्श

आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में ज्ञान मीमांसा बहुत ही महत्त्वपूर्ण मानी गई है। प्रवचनसार, पञ्चास्तिकाय आदि आध्यात्मिक ग्रन्थों में ज्ञान जीव का स्वरूप, स्वभाव और सार बतलाया गया है।^{२५} जो जानता है वह ज्ञान है। ज्ञान के द्वारा ही समस्त पदार्थों को जान सकते हैं। पदार्थों का ज्ञान हो जाने पर ही मोक्षमार्ग के लक्षभूत शुद्ध आत्मा की प्राप्ति हो सकती है।^{२६} ज्ञान सर्वव्यापक^{२७} स्व-पर प्रकाशक रूप कहा गया है।

ज्ञान के भेद

आचार्य कुन्दकुन्द ने शुद्धज्ञान केवलज्ञान को प्राप्त करना जीवन का लक्ष्य बतलाया है। यह सामान्य ज्ञान कर्म की अपेक्षा आठ प्रकार का बतलाया है—

आभिनिबोध, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, केवलज्ञान, कुमतिज्ञान, कुभ्रुत और विभंगज्ञान।^{२८}

स्वभावज्ञान और विभावज्ञान

अर्धमागधी भागनों में स्वभावज्ञान और विभावज्ञान

की चर्चा उपलब्ध नहीं है। ज्ञान को स्वभावज्ञान और विभावज्ञान इन दो निकायो में विभाजित कर जैनदर्शन को अपूर्व चिन्तन प्रदान किया है।^{११} प्रवचनसार में जिस केवल ज्ञान को क्षायिकज्ञान कहा गया है वही नियमसार में स्वभावज्ञान है। विभाव ज्ञान को पुनः दो भागों में विभाजित किया है—सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान।^{१२}

सम्यग्ज्ञान

आचार्य ने संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रहित ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कह कर मति आदि चार ज्ञानों को सम्यग्ज्ञान बतलाया है।^{१३}

मिथ्याज्ञान

मिथ्याज्ञान अज्ञान रूप होता है। इसके तीन भेद किए गए हैं—कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान और कुअवधिज्ञान।

परोक्ष और प्रत्यक्षज्ञान

आचार्य कुन्दकुन्द ने ज्ञान का विभाजन प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से भी किया है। उन्होंने इन्द्रियो और प्रकाश को पर कह कर इनसे उत्पन्न होने वाले ज्ञान को परोक्ष कहा है।^{१४} नियमसार में आचार्य कहते हैं कि जो अनेक प्रकार के गुण-पर्यायों से युक्त समस्त द्रव्यों को नहीं देखता है वह उसे परोक्ष दृष्टि कहते हैं।^{१५} इस विभाजन के अन्तर्गत मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान को रखा गया है।

जो ज्ञान आत्मा से उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्षज्ञान कहलाता है।^{१६} आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है कि मूर्त, अमूर्त चेतन, अचेतन एवं स्व और पर द्रव्यों को देखने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष और अतीन्द्रियज्ञान कहलाता है।^{१७} प्रवचनसार में भी यही कहा गया है। प्रत्यक्षज्ञान की उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार प्रत्यक्ष के अन्तर्गत केवल ज्ञान को ही रखा गया है।

(घ) ज्ञान की स्व पर प्रकाशता

ज्ञान स्व-प्रकाशक है या पर-प्रकाशक या स्व-पर प्रकाशक है इसका समाधान अर्धमागधी आगम में उपलब्ध नहीं है। आचार्य कुन्दकुन्द ने ज्ञान को स्व-पर प्रकाशक स्वरूप बतलाकर उपर्युक्त शंका का समाधान नियमसार में किया है। यह उनकी अभूतपूर्व देन मानी गई है।

उन्होंने कहा कि ज्ञान को पर-प्रकाशक और दर्शन को

स्व-प्रकाशक मानकर आत्मा को स्व-पर प्रकाशक मानना ठीक नहीं है।^{१८} क्योंकि ऐसी मान्यता में निम्नांकित दोष आते हैं—

१—ज्ञान को परप्रकाशक और दर्शन को स्वप्रकाशक मानने से ज्ञान और दर्शन भिन्न-भिन्न हो जायेगे। क्योंकि दर्शन पर-द्रव्य को नहीं जानेगा।^{१९}

२—दूसरा दोष यह है कि दर्शन आत्मा से भिन्न सिद्ध होगा क्योंकि आत्मा पर का भी प्रकाशक है लेकिन दर्शन पर-प्रकाशक नहीं है।^{२०}

३—जैन धर्म में ज्ञान-दर्शन और आत्मा भिन्न नहीं है। इसलिए ऐसा मानना चाहिए कि व्यवहार नय की अपेक्षा ज्ञान पर-प्रकाशक है, इसलिए दर्शन और आत्मा भी पर-प्रकाशक है।^{२१} निश्चयनय की अपेक्षा ज्ञान स्व-प्रकाशक है, इसलिए आत्मा और दर्शन भी स्वप्रकाशक है।^{२२} यदि यह माना जाय कि ज्ञान लोक-अलोक ज्ञेय को जानता है और स्वद्रव्य आत्मा को नहीं जानता, तो ऐसा कहना ठीक नहीं है।^{२३} क्योंकि ज्ञान जीव का स्वरूप है इसलिए वह आत्मा को जानता है। यदि ज्ञान आत्मा को न जाने तो ज्ञान आत्मा से भिन्न हो जाएगा। आत्मा ज्ञान है और ज्ञान आत्मा है इसलिए ज्ञान स्व-पर प्रकाशक है।^{२४}

(ङ) ज्ञान से जानने का तात्पर्य

आचार्य कुन्दकुन्द ने इस बात की निश्चय और व्यवहार नय के द्वारा व्याख्या की है कि ज्ञान से ज्ञेय को जानने का तात्पर्य क्या है?

ज्ञानो और ज्ञेय में ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध है

आचार्य ने बतलाया है कि ज्ञानी (आत्मा) ज्ञान स्वरूप है और अर्थ ज्ञेय स्वरूप है। अर्थात् स्वरूप की अपेक्षा दोनों भिन्न-भिन्न और स्वतन्त्र है। जिस प्रकार चक्षु-मूर्तिक पदार्थों से अलग रहकर उन्हें जान लेती है अर्थात् चक्षु न ती मूर्तिक पदार्थों में प्रविष्ट होती है और न मूर्तिक पदार्थ चक्षु में घुसते हैं। दोनों स्वतन्त्र रहते हैं।^{२५} फिर भी चक्षु उन मूर्तिक पदार्थों को जान लेता है और मूर्तिक पदार्थ अपने स्वरूप को जना देते हैं। उसी प्रकार ज्ञानी और ज्ञेय दोनों के स्वतन्त्र रहने पर भी ज्ञानी पदार्थों अर्थात् ज्ञेयों में घुसे बिना भी उन्हें जान लेता है और ज्ञेय ज्ञानी में प्रविष्ट हुए

बिना अपने को जना देते हैं। इस प्रकार निश्चयन की अपेक्षा ज्ञेय और ज्ञानी दोनों स्वतन्त्र हैं और उनमें ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध है।

व्यवहार से ज्ञान पदार्थों में है

व्यवहार नय की अपेक्षा ज्ञानी ज्ञेयों में प्रविष्ट होता है। ज्ञेयों में ज्ञानी उसी प्रकार रहता है जैसे पदार्थों में दृष्टि रहती है। इस बात को उदाहरण देकर समझाया गया है। जिस प्रकार दूध में नीलमणि रत्न डालने से वह अपनी प्रतिमा से अर्थात् नीली आभा से दूध के रूप को ढक करके उसे नीला कर देता है उसी प्रकार ज्ञान ज्ञेय पदार्थों में रहता है।^{१६} कहने का तात्पर्य यह है कि दूध में नीलमणि स्वयं व्याप्त नहीं होता फिर भी वह दूध उसकी नील आभा के कारण नीला हो जाता है। उसी प्रकार ज्ञान वास्तव में ज्ञेय में नहीं होता है फिर भी अपनी विचित्र ज्ञायक शक्ति से पदार्थों को जान लेता है इसलिए कहा जाता है कि ज्ञेय अर्थात् पदार्थों में ज्ञान है।

ज्ञेय ज्ञान में रहता है

जिम प्रकार व्यवहार नय से ज्ञान पदार्थों में रहता है उसी प्रकार यह भी मानना चाहिए कि ज्ञान में पदार्थ रहते हैं। यदि पदार्थ ज्ञान में नहीं रहता है, ऐसा माना जाय तो ज्ञान सर्वव्यापक कैसे कहा जायेगा? चूँकि ज्ञान सर्वव्यापक है, ज्ञेय लोक-अलोक है, इसलिए अर्थ ज्ञान में रहते हैं, यह सिद्ध है।^{१७}

दर्शन

दर्शन का सामान्य अर्थ देखना होता है।^{१८} पचास्ति-काय में जीवादि तत्त्वों के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा गया है।^{१९}

स्वभाव और विभाव दर्शन

नियमसार में दर्शन का वर्गीकरण दो प्रकार से किया गया है^{२०}—

१—स्वभाव दर्शन—केवलदर्शन

२—विभाव दर्शन—चक्षुदर्शन, अचक्षु एवं अवधि-दर्शन।

ज्ञान दर्शन का योगपद्य

आचार्य कुन्दकुन्द ने केवली के ज्ञान और दर्शन को योगपद्य होना बतलाया है। नियमसार में वे कहते हैं कि

जिस प्रकार सूर्य का ताप और प्रकाश एक साथ होता है उसी प्रकार केवलज्ञानी का ज्ञान और दर्शन एक साथ होता है।

आचार्य सिद्धसेन ने इस सिद्धान्त की तार्किक रूप से सम्पुष्टि की है।

सर्वज्ञता का सिद्धान्त

सर्वज्ञता की जो व्याख्या प्रवचनसार में कुन्दकुन्द ने की वह इनके पूर्व किसी भी अर्धमागधी आगम में दृष्टि-गोचर नहीं होती है। जीव या आत्मा स्वभाव से ज्ञान स्वरूप है। ज्ञान उसका स्वाभाविक गुण है इसलिए वह ज्ञाता कहलाता है। हमारे शब्दों में ज्ञान आत्मा से अभिन्न है। इसलिए आत्मा को ज्ञाता कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि ज्ञान आत्मा से भिन्न है और ज्ञान के संयोग से वह ज्ञाता हो जाता है।^{२१} आत्मा स्वभाव से ज्ञाता होता है। ज्ञान गुण आत्मा ही है और यह आत्मा के बिना अन्यत्र नहीं रहता। इसलिए ज्ञान आत्मा है। लेकिन आत्मा ज्ञान गुण स्वरूप एवं अन्य सुखादि गुण रूप भी है।^{२२} आत्मा ज्ञान प्रमाण है^{२३} उससे कम या अधिक नहीं है। यदि आत्मा को ज्ञान के बराबर न माना जाय तो आत्मा को उससे कम या अधिक मानना पड़ेगा। यदि ज्ञान आत्मा से कम है; ऐसा माना जाय तो ज्ञान अचेतन हो जाएगा और वह कुछ भी नहीं जान सकेगा। यदि ऐसी मान्यता हो कि आत्मा ज्ञान से बड़ा है तो आत्मा ज्ञान के बिना कुछ नहीं जान सकेगा।^{२४} इसलिए सिद्ध है कि ज्ञान आत्मा का अभिन्न स्वाभाविक गुण है। इसलिए आत्मा स्वभाव से ज्ञाता है। वह दीपक की तरह स्वयं और पर-पदार्थों को जानता है।

लेकिन अनादि काल से यम जीव पुद्गल कर्मों से मलीन है।^{२५} इसलिए उनकी स्वाभाविक ज्ञान शक्ति रुक जाती है, अन. उनकी स्वाभाविक शक्ति का प्रकाश रुक जाता है। सांसारिक जीव स्वयं प्रतिगुणस्थान प्रयत्न करता हुआ बारहवें गुण स्थान में घाति का कर्म-ज्ञानावरण, दर्शनावरण अन्तराय और मोहनीय रूरी रज को सर्वथा समूल नष्ट कर देता है तो वह समस्त पदार्थों को जानने लगता है।^{२६} तब वह अपने स्वाभाविक स्वरूप को प्राप्त करके स्वयं ही सर्वज्ञ, सम्पूर्ण लोक के अतिरिक्तियों का पूज्य स्वयम्भू हो जाता है।^{२७} घाति का कर्मों के नाश हो जाने से उसके

अनन्त वीर्य, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन रूप तेज के प्रकट हो जाने से अतीन्द्रिय होता हुआ ज्ञान और सुख रूप परिणमन करने लगता है।^{१०} सर्वज्ञ का ज्ञान इन्द्रियाधीन न होने के कारण और स्वयं आत्मजन्य होने के कारण केवली अतीन्द्रिय कहलाने लगता है। केवलज्ञान अतीत, अनागत और वर्तमान काल सम्बन्धी समस्त द्रव्यों की पर्यायों को जानता है इसलिए उसके कुछ भी परोक्ष नहीं होता है।^{११} अतीन्द्रियज्ञान सप्रदेशी, अप्रदेशी, मूर्त, अमूर्त अनुत्पन्न और विनष्ट पर्यायों को जानता है।^{१२} सर्वज्ञ का ज्ञान क्षायिक कहलाता है क्योंकि वह कर्मों के क्षय से होता है। इसलिए कुन्दकुन्द ने कहा है कि सर्वज्ञ का क्षायिक ज्ञान त्रिकालवर्ती द्रव्यों और उनकी पर्यायों को एक साथ जानता है।^{१३} यदि वह तीन लोक में स्थित त्रिकालिक द्रव्यो और उनकी पर्यायों को युगपद न जानकर क्रमशः जाने तो सर्वज्ञ एक द्रव्य को भी उसकी समस्त पर्यायों सहित नहीं जान सकेगा^{१४} जो अनन्त पर्यायों सहित एक (आत्मा) द्रव्य को नहीं जानता है तो वह अनन्त द्रव्य को युगपद कैसे जानेगा? अर्थात् वह सर्वज्ञ कैसे कहलायेगा?^{१५} दूसरी बात यह भी है कि यदि सर्वज्ञ का ज्ञान अर्थों की अपेक्षा करके क्रमः उत्पन्न होता है तो इसका अर्थ यह हुआ कि कोई ज्ञान नित्य, क्षायिक और सर्व-विषयक (सर्वगत) नहीं हो सकेगा^{१६} सर्वज्ञ के ज्ञान का माहात्म्य यही है कि वह तीन लोक में स्थित त्रिकालवर्ती विभिन्न प्रकार के समस्त पदार्थों को सदैव एक साथ जानता है।^{१७}

सर्वज्ञ समस्त द्रव्यों की भूतकालीन, भविष्यत-कालीन और वर्तमान-कालीन पर्यायों को भेद सहित वर्तमान-कालीन पर्यायों की तरह स्पष्ट रूप से प्रत्यक्ष ही जान लेता है।^{१८} सर्वज्ञ के ज्ञान की दिव्यता तो यही है कि वह उत्पन्न और विनष्ट पर्यायों को प्रत्यक्ष रूप से जान लेता है।^{१९}

पुद्गल द्रव्य

आचार्य कुन्दकुन्द ने पुद्गल द्रव्य का विवेचन पञ्चास्तिकाय, नियमसार और प्रवचनसार में किया है। उनका द्रव्य विवेचन अभूतपूर्व है। पुद्गल को उत्तराध्ययन की तरह स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण वाला भूतिक कहा है।^{२०} तत्त्वार्थसूत्रक र उमास्वामी ने भी पुद्गल का लक्षण यही कहा है। पञ्चास्तिकाय में कुन्दकुन्द ने बादर और सूक्ष्म

रूप से परिणमन करने वाले स्कन्ध को पुद्गल कहा है। अर्थात् बढ़ने और घटने का नाम पुद्गल है। लेकिन नियम सार में पुद्गल की व्याख्या निश्चय और व्यवहार-नय के द्वारा की गई है। उनका मत है कि निश्चयनय की दृष्टि से परमाणु ही पुद्गलद्रव्य द्रव्य कहलाता है और व्यवहार-नय की अपेक्षा स्कन्ध पुद्गलद्रव्य कहलाता है।^{२१} पुद्गल की यह व्याख्या किसी भी अर्धमागधी आगम में उपलब्ध नहीं है।

पुद्गल की पर्याय

आचार्य ने पुद्गल की दो पर्यायें बतलाई हैं—स्वभाव पर्याय और विभाव पर्याय। परमाणु का अन्य निरपेक्ष परिणमन स्वभाव पर्याय कहलाती है और परमाणु का स्कन्ध रूप परिणमन विभाव पर्याय है।^{२२}

पुद्गल के भेद

पञ्चास्तिकाय में पुद्गल के निम्न कित चार भेद बतलाये गये हैं—^{२३}

१. स्कन्ध (खंघ)—अनन्त समस्त परमाणुओं का पिंड।
२. स्कंध देश (खंघदेश)—स्कन्ध का आधा भाग।
३. स्कन्धप्रदेश (खंघपदेश)—स्कन्ध का चौथाई भाग।
४. परमाणु (परमाणु)—अविभागी।

नियमसार ८५ में पुद्गल दो प्रकार का बतलाया गया है—(१) स्कन्ध और (२) परमाणु।

पुद्गल स्कन्ध

आचार्य ने पुद्गल स्कन्ध छह प्रकार का बतलाया है—^{२४}

१. अतिस्थूलस्थूल (अइस्थूलथूल)—पृथ्वी, पर्वत आदि जो तोड़ने पर टूट जाएं लेकिन पुनः मिलाने पर मिल न सकें।
२. स्थूल (थूल)—घी, जल, तेल आदि जो काटने पर भी स्वयं आपस में मिल जायें।
३. सूक्ष्मस्थूल—छाया, आतप आदि जो देखने में स्थूल लगें किन्तु जिन्हें पकड़ा, काट ना जा सके।
४. सूक्ष्म स्थूल—चक्षु इन्द्रिय के अलावा शेष चार इन्द्रियों के विषय—रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द।

सूक्ष्म—कर्मवर्गणा रूप होने योग्य स्कन्ध सूक्ष्म हैं जिन्हें इन्द्रियों से ग्रहण नहीं किया जा सकता है।

६. अति सूक्ष्म—कर्मवर्गणा रूप न होने योग्य स्कन्ध अति सूक्ष्म हैं ।

परमाणु सिद्धान्त

आचार्य कुन्दकुन्द का परमाणु-सिद्धान्त भी अनुपम है । नियमसार^{१८}, प्रवचनसार^{१९} और पंचास्तिकाय^{२०} में परमाणु का स्वरूप निम्नांकित बतलाया गया है—

१. जिसका आप ही आदि, आप ही मध्य है और आप ही अन्त है, वह परमाणु कहलाता है ।
२. जो इन्द्रिय द्वारा ग्रहण नहीं किया जाता है ।
३. जो अविभागी है ।^{२१}
४. स्कन्धों का अन्तिम अंश (भाग) परमाणु है ।^{२२}
५. परमाणु शाश्वत (नित्य) है ।
६. अशब्द है, लेकिन शब्द का कारण है ।^{२३}
७. परमाणु एक प्रदेशी अर्थात् प्रदेश मात्र है ।
८. परमाणु मूर्तिक है ।
९. परमाणु अप्रदेशी है ।
१०. परमाणु में स्निग्ध और रूक्ष गुण होते हैं ।^{२४}
११. परमाणु में एक रस, एक गन्ध, एक रूप और दो स्पर्श होते हैं । ऐसा परमाणु स्वभाव गुण वाला परमाणु कहलाता है ।^{२५}
१२. द्वयणुक में अनेक रसादि वाला परमाणु विभाग गुण वाला कहलाता है ।
१३. परमाणु पृथ्वी आदि चार धातुओं का कारण और कार्य है ।^{२६}
१४. परमाणु परिणामी है । तात्पर्य यह है कि स्पर्शादि गुण के भेदों से षट्गुणी हानि-वृद्धि होती रहती है ।
१५. परमाणु नित्य है ।
१६. परमाणु अनवकाशी नहीं है अर्थात् परमाणु वर्णादि गुणों को अवकाश देता है ।

१७. परमाणु सावकाशी नहीं है अर्थात् दो आदि प्रदेश वाला नहीं होने से उसमें जगह नहीं है ।

१८. एक प्रदेश से ही स्कन्धों का भेदक है ।

१९. स्कन्धों का कर्ता है ।

२०. परमाणु काल और संख्या का भेद करने वाला है ।^{२७}

२१. स्कन्ध से भिन्न है ।

२२. स्निग्ध और रूक्ष गुणों के कारण एक परमाणु दूसरे परमाणु से मिलकर दो-तीन प्रदेश वाला हो जाता है ।

२३. परमाणु परिणमन स्वभाव होने से उसके स्निग्ध और रूक्ष एक अविभागी प्रतिच्छेद से लेकर बढ़ते-बढ़ते अनन्त अविभागी प्रतिच्छेद वाले तक हो जाते हैं ।^{२८}

२४. परमाणु के स्निग्ध गुण हो अथवा रूक्ष गुण हों, समान संख्यक (दो, चार, छह आदि) अथवा विषम संख्यक (तीन, पांच, आदि) गुण वाले परमाणुओं में से दो गुण अधिक होने पर दोनों परमाणुओं का आपस में वध होता है । लेकिन एक स्निग्ध अथवा एक रूक्ष गुण वाले परमाणु का किसी परमाणु के साथ बन्ध नहीं होता है ।^{२९}

आचार्य कुन्दकुन्द के पाहुडों में निहित तत्त्व मीमांसा और ज्ञानमीमांसा के कतिपय मूलभूत सिद्धान्तों का सक्षिप्त विवेचन किया । आचारांग आदि विद्यमान अर्धभागधी आगमों में उपर्युक्त सिद्धान्त दृष्टिगोचर नहीं होते हैं । इस दृष्टि से आचार्य कुन्दकुन्द की जैन दर्शन को एक अनुपम देन कही जा सकती है । निबन्ध का कलेवर बढ़ जाने के भय से यहाँ उनके द्वारा प्रतिपादित आचार मीमांसा का विवेचन नहीं प्रस्तुत कर सका हूँ । आचार्य कुन्दकुन्द के उत्तरवर्ती जैनाचार्यों ने उनके सिद्धान्तों का पोषण और संवर्धन किया है ।

सन्दर्भ-सूची

१. मोक्षपाहुड, गा० ४
२. (क) पूज्यपादाचार्य . समाधिसतक ।
(ख) शुभचन्दे : ज्ञानार्णव, अधिकार ३२
(ग) योगेन्दु : परमात्म प्रकाश, १।११ इत्यादि
३. मो० पा०, गा० ५, ८-११
४. नि० सा०, गा० १४६-१५१
५. मा० पा०, गा० ५-६

६. नि० सा०, गा० ७

७. नाणी सिव परमेष्ठी सव्वण्हू चउमुहो बुद्धो ।

अप्पो वि य परमप्पो कम्मविमुक्को य होइ फुडं ॥

भाषपाहुड, गा० १५०

८. नियमसार, गा० १७६-७७

९. अप्पा परिणामप्पा परिणामो णाणकम्मफलभावी ।

प्र० सा०, २।३३

१०. परिणमदि चेयणाए आदा पुण चेदणा तिघाभिमदा ।
सा पुण णाणे कम्मे फलम्मि वा कम्मणो भणिदा ॥
प्र० सा० २।३१
११. णाणं अट्ठवियप्पो कम्म.....। प्र० सा०, २।३२
१२. पं० का०, गा० ३८-३९
१३. प्रवचनसार ज्ञेयतत्त्वाधिकार, गा० ६३
१४. भावपाहुड, गा० ७६ । और भी द्रष्टव्य—पं० का०
गा० १३१-२३६
१५. जीवो परिणमदि जदा सुहेण असुहेण वा सुहा असुहो ।
सुहेण तदा सुहो हवदि हि परिणामसम्भावो ॥
प्र० सा०, ज्ञानाधिकार, गा० ९
१६. पं० का ९, गा० १३६
१७. प्र० सा०, ज्ञानाधिकार, गा० ६९
१८. प्रवचनसार, ज्ञेयतत्त्वाधिकार, गा० ६९
१९. जुत्तो सुहेण आदा तिरियो वा माणुसो वा देवो वा ।
भूदो तावदि कालं वहदि सुहं इदियं विविहं ॥
वही, १।७०
२०. पावदि—सुहावजुत्तो वा सग्सुहं ॥ वही, १।११
२१. विसयक्साओगाढो दुस्सुदिदुच्चित्तदुट्ठगोट्ठिजुदो ।
उग्गो उम्मत्तपरो उवओगो जस्स सो असुहो ॥
प्र० सा०, गा २।६६
२२. असुहो वा तच्च पावं । वही, गा० २।३४
२३. वही, गा० १।१२
२४. जयसेनाचार्य, प्र० सा० तात्पर्यटीका, गा० ९, पृ० ९-१०
२५. तत्तत्कारिणस्सवस्याप्यभावादत्तत्तदेय एवायमशुभोपयो-
योग इति । अमृतचन्द्रसूरि : प्र० सा० तत्त्वप्रदीपिका
वृत्ति, गा० १२, पृ० १३
२६. एवं विदियत्थो जो दब्बेसु ण रागमेदि दोसं वा उव-
ओगविसुद्धो । प्र० सा०, गा० १।७८
२७. वही, २।६७ । और भी द्रष्टव्य गा० ६८-८०
२८. पंच विंशतिका, गा० ४।६४
२९. प्र० सा० तात्पर्यवृत्ति टीका, ३।३०, पृ० २८७
३०. प्र० सा० १।१४
३१. प्र० सा०, गा १।१५-२१
३२. समयसार, गा० १४५-४६
३३. विस्तृत रूप से द्रष्टव्य पंचास्तिकाय, गा० १७५-१७१

३४. सपरं बाधासहियं विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं ।।
जं इदियेहि लद्धं तंसोवख दुक्खोव तत् ॥ प्र० स०,
गा० १।७६
३५. द्रष्टव्य, प्र० सा०, १।७१-७७
३६. क-उवओगविसुद्धो सो छवेदि दंहुव्वं दुक्खं ।
ख- सुहेण लहइ सिद्धिं...। बारसाणुपेक्खा । गा० २४
एवं ६४
- ग- वही, गा० १।२०
३७. (क) जीव सहावं णाणं...। पं० का०, गा० १५४
(ख) णाणं णरस्य सारो...। दर्शन पाहुड, गा० ३१
(ग) णाणं पुरिसस्स हवदि...। बोध पाहुड, गा० २१
३८. (क) जो जाणदि सो णाणं—। प्र० सा० ३।३५
(ख) णाणेण लहदि लक्खं तम्हा णाणं च णायव्वं ।
बोध पाहुड,
(ग) णाणेण लहदि लक्खं मोक्खमग्गस्स । वही, २१
३९. द्रष्टव्य प्र० सा० ज्ञानाधिकार
४०. पंचा० काय, गा० ४१
४१. नियमसार; गा०, ११
४२. वही, गा० १९
४३. वही, गा० ११
४४. वही, गा० ११
४५. प्रवचनसार, १।५८
४६. नियमसार, गा० १६८
४७. प्रवचनसार, गा० १।५८
४८. नियमसार, गा० १७९
४९. प्रवचनसार, गा० १।५४, ५०-६०
५०. नि० सा०, गा० १६१
५१. वही, गा० १६२
५२. (क) वही, वा० १७३
५३. (ख) वही, गा० १६४
५४. वही, गा० १६५
५५. वही, गा० १६६
५६. णाणं जीवसरुव तम्हा जाणेह अप्पगं अप्पा ।
अप्पाण ण वि जाणदि अप्पादो होदि विदिरित्तं ॥
अप्पाण विणु णाण णाणं विणु अप्पगो ण संदेहो ।
तम्हा सपरपयासं णाणं तह दंसणं होदि ।
वही, गा० १७०.७१

५७. प्र० सा०, गा० ११२८
 ५८. वही, गा० ११२९-३०
 ५९. यदि ते ण संति णाणे ण होदि सव्वगय ।
 सव्वगय वा णाणं कहं ण णाणट्ठिया अट्ठा ।
 प्र० सा० ११३०
 ६०. ज पिच्छइ त च दसण भणिय । चरित्त पा०, गा० ३
 ६१. सम्मत्तसद्दहणं —। प० का० गा० १०७
 ६२. नियमसार, गा० १३-१४
 ६३. ण हवदि णाणेण जाणगो आदा । प्र० सा०
 ६४. णाणं अप्प त्ति मद वट्ठदि णाणविणा ण अप्पाण ।
 तम्हा णाण अप्पा अप्पा णाण व अप्पण वा ॥
 वही, गा० ११२७
 ६५. आदा णाणपमाण **। वही, गा० ११२३
 ६६. वही, गा० ११२४-२६
 ६७. वही, गा० २१२९
 ६८. उवओग विसुद्धो जो विगदावरणं नारायमोहरओ ।
 भूदो सममेवादा जादि परणेयभूदाण । प्र० मा० १११५
 ६९. तह सो लद्धसहावो सव्वण्हू सव्वलोगपदिमहिदो ।
 भूदो सयमेवादा हवदि सयभु त्ति णिट्ठिठो ॥ वही, १११६
 ७०. पक्खीणघादिकम्मो अणंनवखीरिओ अधिक नेजो ।
 जादो अदिदिओ सो णाणसोक्ख च परिणमदि ॥
 वही, गा० १११९
 ७१. वही, गा० ११२२
 ७२. वही, गा० ११४१
 ७३. प्र० सा० ११४७
 ७४. वही, गा० ११४८
 ७५. वही, गा० ११४९
 ७६. वही, गा० ११५०

७७. वही, गा० ११५१
 ७८. वही, गा० ११३७-३८
 ७९. वही, गा० ११३९
 ८०. प्र० सार, गा २, ४० । तुलना करें—उत्तराध्ययन सूत्र,
 २८।१२
 ८१. पंचास्तिकाय, गा० ७६
 ८२. नियमसार, गा० २९
 ८३. वही, गा० २८
 ८४. पंचास्तिकाय, गा० ७४-७५, एवं गा० ७९
 ८५. वही, गा० २०
 ८६. (क) नियमसार, गा० २१-२४, (ख) प० काय—
 गा० ७६
 ८७. गा० २५-२७
 ८८. गा० २१७१
 ८९. गा० ७७-७९
 ९०. नियमसार, गा० २६
 ९१. प० का०, गा० ७७
 ९२. वही, गा० ८१
 ९३. प्रवचनसार, गा० २१७१
 ९४. द्रष्टव्य—नियमसार, गा० २७, प० काय, गा० ८१
 ९५. नियमसार, गा० २५ एवं प० काय, गा० ७८
 ९६. प० का०, गा० ८०
 ९७. प्रवचनसार, गा० २१७२
 ९८. णिद्धा वा लुक्खा वा अणुपरिणमा समा वा विसमा वा ।
 समदो दुराधिगा जदि बज्जति हि आदिपरहीणा ।
 णिद्धत्तणेण दुगुणो चदुगुणणिद्धेण बंधमणुहवदि ।
 लुक्खेण वा तिगुणिदो अणु वज्जदि पच्चगुणजुत्तो ॥
 वही, गा० २१७३-७४

(पृष्ठ २८ का शेषांश)

के प्रकाशन में श्वे० समाज से कही आश्वासन मिल गया होगा और वे ऐसा कर गये पर सौभाग्य कहिए या दुर्भाग्य प्रकाशन हुआ दिगम्बर समिति द्वारा, दिगंबरों ने ही बि० मान्यताओं पर कुठाराघात किया ।

इत प्रकार यदि यही स्थिति रही तो भविष्य में दिगम्बरत्व का क्या होगा ? क्या कभी किसी ने इस प्रश्न पर गंभीरता से चिन्तन मनन एवं विचार विमर्श किया है मेरा आशय किसी वर्ग विशेष से राग द्वेष का नहीं है मैं तो इतिहास का विद्यार्थी हूँ और ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में ही मेरी यह कल्पना है कि आगामी हजार पांच सौ वर्षों में दिगम्बरत्व का सर्वथा लोप हो जावेगा और श्वेताम्बरत्व ही जैनधर्म रह जावेगा और दिगम्बरत्व का उतना विशाल बाह्यमय सर्वथा उपेक्षणीय हो जावेगा । आज भी विदेशों में जैन धर्म के नाम पर श्वेताम्बरत्व का ही प्रचार हो रहा

है दिगम्बरी परम्पराओं, मान्यताओं, विवेचनाओं, गवेषणाओं एवं मिद्धान्तों से लोग सर्वथा अपरिचित हैं, इसमें किसी का दोष नहीं है इस सबके लिए सम्पूर्ण दिगम्बर समाज उत्तरदायी है । समय रहते यदि इस ओर ध्यान न दिया गया तो दिगम्बरत्व सर्वथा लुप्त हो जावेगा । आज बा० नृगलकिशोर जी मुख्तार बा० छोटेलाल जी प्रभृति महानुभाव होते तो वे इस शिथिलाचार को किञ्चिन्मात्र भी सहन न करते और डके की चोट से इन सबकी बखिया उधेड़ देते । पर आज के जैन पत्रकार, जिनका कार्य शिथिलाचार को रोकने के लिए समाज को इस दिशा में प्रेरित करना होना चाहिए था, वे स्वयं किसी न किसी खेमेबाद का शिकार हैं और शिथिलाचार का पोषण कर रहे हैं ।

अस्तु—

जो जो बेसी बीतराग ने सो सो होसी बीरा रे ।

जैनधर्म-दर्शन में आराधक की अवधारणा

□ डा० गुलाबचन्द जैन

आराधक का चरम लक्ष्य मोक्ष-प्राप्ति होता है। इसके लिए वह जीवन पर्यन्त सतत साधना करता है। आचार्य वट्टकेर ने इसके स्वरूप को बतलाते हुए लिखा है—आराधक निर्मोह, अहंकार रहित, क्रोधादिक कषायों से दूर पचेन्द्रियो का निग्रह करने वाला, परीषहादिक को सम्मान पूर्वक सहन करने वाला तथा सम्यग्दर्शन से युक्त होता है इन गुणों से युक्त होकर वह समाधि पूर्वक प्राणों का त्याग करता है।^१ आ० देवसेन के अनुसार—जो पुरुष कषायों से रहित हो, भग्न सम्यग्दृष्टि, सम्यग्ज्ञान का धारक, बाह्य व आभ्यन्तर दोनों प्रकार के परिग्रह से रहित हो, ससार के सुख से पराङ्मुख, विरागी, औपशमिक सम्यग्दर्शन का धारक हो, सभी तपों का तपनेवाला, आत्म स्वभाव में लीन, पर पदार्थों से जायमान सुख से रहित और रागद्वेष से विनिर्मुक्त हो वह मरणपर्यन्त आराधक कहा जाता है।^१ ओषनिर्युक्ति में लिखा है जो पांचो इन्द्रियों से गुप्त हैं अर्थात् उन्हें अपने आधोन रखता है, मन आदि तीनों करणों में सावधान है, तथा तप, नियम व समय में सलग्न है, वह आराधक कहलाता है।^१

भेद :—दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य और तप इन चार प्रकार की आराधनाओं के भेद से आराधक के भी चार भेद हो जाते हैं।^१ जो इस प्रकार है :—

- (१) **दर्शनाराधक**—उपशम तथा वेदक सम्यग्दर्शन के पात्र निर्मल परिणाम वाले तथा उनके योग्य गुणों वाले जीव सम्यक्त्व (दर्शन) के आराधक होते हैं।
- (२) **ज्ञानाराधक**—मति आदि छद्मस्थ ज्ञान युक्त तथा उनके योग्य गुण वाले तथा सुविशुद्ध परिणाम वाले ज्ञानाराधक कहलाते हैं।
- (३) **चारित्र्याराधक**—देश विरत आदि नष्ट कषाय वाले, बढ़ती हुई शुभ लेश्या वाले तथा शील गुण से विभाजित चारित्र्याराधक कहलाते हैं।

(४) **तपाराधक**—देश विरत आदि नष्ट कषाय वाले अपने अनुरूप उत्तम आचरण वाले, शुद्ध चित्त युक्त तपाराधक कहलाते हैं।

जो आराधक कषाय रहित, जितेन्द्रिय निर्भय व चारित्र्याचरण करने में तत्पर है उनका प्रात्यख्यान सुख पूर्वक सम्पन्न होता है। इस प्रकार जो आराधक शरीर त्याग के काल में प्रत्याख्यान करता है उसकी आहारादिक चार संज्ञाओं में विल्कुल अभिलाषा नहीं रहती है। धैर्यवान् ऐसे उस क्षपक को आराधना का उत्तम फल अर्थात् मोक्ष प्राप्त होता है।^१

लेश्या के आश्रय से आराधक के भेद—

लेश्या की दृष्टि से आराधक के उत्तम, मध्यम और जघन्य तीन भेद होते हैं।^१—

उत्कृष्ट, रक्षक—जो क्षपक शुक्ल लेश्या के उत्कृष्ट अंश रूप से परिणत होकर मरण करता है वह नियम से उत्कृष्ट आराधक होता है। क्षायिक सम्यक्त्व, यथाख्यात चरित्र और क्षायोपशमिक ज्ञान की आराधना करके क्षीण मोह होता है और वह बारहवां गुणस्थानवर्ती क्षीणमोह होने के पश्चात् अर्हन्त होता है।

मध्यमाराधक—शुक्ल लेश्या के शेष मध्यम और जघन्य अंश तथा पचलेश्या के उत्कृष्ट मध्यम और जघन्य अंश रूप से परिणत होकर मरण करने वाला क्षपक मध्यम आराधक होता है।

जघन्याराधक—तेजोलेश्या के अंश रूप से परिणत होकर यदि मरण करता है तो वह जघन्य आराधक होता है।

जो क्षपक जिस लेश्यारूप से परिणत होकर मरण करता है वह उसी लेश्यावाले स्वर्ग में उसी लेश्यावाला ही देव होता है। जो पीत, पद्म और शुक्ल लेश्या को भी छोड़कर लेश्या रहित अयोग्य अवस्था को प्राप्त होता

है वह सम्पूर्ण केवल ज्ञान और केवल दर्शन से युक्त होकर आयु का क्षय होने पर मोक्ष प्राप्त करता है। वह समस्त कर्म लेने के चने जाने से विशुद्ध होता है तथा समस्त क्लेशों से छूट जाता है।^१

समाधि का इच्छुक, निर्यातकार्य की खोज में जाता हुआ क्षपक निम्न चार कारणों से भी आराधक होता है—

१. 'मन, वचन, काय के विकल्परूप रत्नत्रय में लगे अति-चारों की, आलोचना के दोषों को त्यागकर मैं सम्यग् रूप से गुरु से निवेदन कलंगा' ऐसा संकल्प करके जो गुरु के समीप जाने के लिए निकला है, यदि वह मार्ग में ही अपनी बोलने की शक्ति खो बैठे तो वह आराधक होता है।
२. अपने दोषों की आलोचना करने का संकल्प करके जो गुरु के पास जाने को लिए निकला है वह यदि मार्ग में ही मरण को प्राप्त हो जाए, तो वह आराधक होता है।
३. अपने दोषों की आलोचना करने का संकल्प करके जो गुरु के पास जाने को निकला है, यदि आचार्य बोलने में असमर्थ हों तो भी वह आराधक है।
४. जो गुरु के सन्मुख अपना अपराध निवेदन करने के लिए निकला है, यदि आचार्य मरण को प्राप्त हो जाए, तो भी वह आराधक है।

आराधक क्षपक को प्रसंशा—क्षपक श्रेणी पर चढ़ने वाला जीव चरित्र मोहनीय का अन्तरकरण करने पर क्षपक कहलाता है।^२ धवला में लिखा है जो जीव

कर्म क्षपण में व्यापार करते हैं उन्हें क्षपक कहते हैं।^३ ऐसे क्षपक जिन्होंने संव के मध्य में प्रतिज्ञा करके चार प्रकार आराधना रूप की पताका को ग्रहण किया है वे शूरवीर और पूज्य हैं। जिन्होंने भगवती आराधना का पूरी तरह से पालन किया वे पुण्यशाली और ज्ञानी हैं और उन्होंने जो प्राप्त करने योग्य था, उसे प्राप्त कर लिया। जिन्होंने सम्पूर्ण भगवती आराधना का आराधन किया उन महानुभावों ने लोक में क्या नहीं प्राप्त किया अर्थात् प्राप्त करने योग्य सब प्राप्त कर लिया।^४

क्षपक की तीर्थ से उपमा—क्षपक एक तीर्थ हैं क्योंकि संसार से पार उतारने में निमित्त है। उसमें स्नान करने से पाप कर्म रूखी मल दूर होता है। अतः जो दर्शक समस्त आदर भक्ति के साथ उस महातीर्थ में स्नान करते हैं वे भी कृतकृत्य होते हैं। तथा वे सौभाग्य शाली हैं। यदि तपस्वियों के द्वारा सेवित पहाड़ नदी आदि प्रदेश तीर्थ होते हैं तो तपस्यारूप की राशि क्षपक स्वयं तीर्थ क्यों नहीं है। यदि प्राचीन प्रतिमाओं की वन्दना करने वालों को पुण्य होता है तो क्षपक की वन्दना करने वालों को विपुल पुण्य क्यों नहीं प्राप्त होगा? जो तीव्र भक्ति पूर्वक क्षपक की सेवा करता है उसकी भी सम्पूर्ण आराधना सफल होती है।^५

अध्यापक, शा० उ० मा० विद्यालय
छोटे डोंगर, बस्तर (म० प्र०)
पिन ४९४-६६१

संदर्भ-सूची

१. मूलाचार २।६०३
२. आराधनासार १७।१६
३. ओषनिर्युक्ति ३८१, पृ० २५०
४. आराधना समुच्चय २२४-२२५
५. मूलाचार २।१०४-१०५
६. भगवती आराधना १६१२-१६१५ जीवराज ग्रंथमाला, शोलापुर संस्करण

७. वही १६१६-१६१७
८. भगवती आराधना ४०५-४०६
९. कसाय पाहुड़ १।१, १८।पृ० ३४७
१०. धवला १।१. १, २७।पृ० २२४
११. भगवती आराधना १६६५-१६६७
१२. वही २०००-२००३

बीज में वृक्ष की संभावना

□ वक्ता, श्री बाबूलाल जैन

संसार में जितनी आत्माएं हैं, चैतन्य है, वे सब परमात्मा बनने के बीज हैं। सब आत्माओं में परमात्मा बनने की शक्ति विद्यमान है। यह सबसे बड़ी स्वतंत्रता है यह सबसे बड़ी महान् स्वतंत्रता की घोषणा है कि हरेक व्यक्ति ही नहीं, हरेक जीवात्मा में परमात्मा बनने का उनका जन्मसिद्ध अधिकार है। वह परमात्मा बन सकता है वह God-सुखा-परब्रह्म भगवान, परमात्मा बन सकता है उससे कुछ भी कम रहने की बात नहीं है। अगर कुछ भी कम रहने की बात रही तो आत्मा फिर एक जाति की नहीं दो जाति की हो जायेगी।

जैसे बीज में वृक्ष बनने की शक्ति विद्यमान है उसको मौका मिले तो वह वृक्ष बन जाता है। परन्तु आत्मा बीजरूप परमात्मा है उसे मौके मिलने की बात नहीं वह तो निज में इनीसीमिटी में लेने वाला है इसलिए उसे मौका मिलने की बात नहीं है। उमे ब्रह्म बनने की जिज्ञासा उत्पन्न करने की बात है उसको चुनाव करना है कि मुझे परमात्मा बनना है उसे कुछ भी कम नहीं रहना है यह उसका चुनाव है। जानवर बनना भी उसका चुनाव है मनुष्य बनना भी उसका चुनाव है और परमात्मा बनना भी उसका चुनाव है। परमात्मा बनना उसकी पूर्णता है उसका विकास है और पशुता उसका ह्रास है। चुनाव उसी का है।

व्यवहार में यह कहा जाता है कि मनुष्य ही परमात्मा बन सकता है। इसका मतलब यह नहीं है कि पशु डाइरेक्ट परमात्मा नहीं बन सकता वह अपना विकास करने लगेगा तो मनुष्य बनेगा और वहां से परमात्मा बन जायेगा। इसका अर्थ यह भी है—“कि जिसमें पशुता है जिसमें मानवता ही नहीं वह परमात्मा कैसे बने इससे तो क्रम का उलंघन हो जायेगा।” बीज अभी अंकुर ही नहीं बना वृक्ष कैसे बन जायेगा।

मनुष्य चोराहे पर खड़ा है और उसके चारों तरफ रास्ते गये हैं। उसे चुनाव करना है कौनसा रास्ता, क्या बनने का रास्ता पकड़ना है। कहते हैं कि तू अपने को इतना ऊंचा उठा सकता है कि ऊंचाई की चरम सीमा तक उठ सकता है तू इतना गिर सकता है कि निचाई की चरम सीमा को छू जाये। अभी जहां खड़ा है वह भी तेरा ही चुनाव था। चुनाव करते ही वैसा हो जाये यह बात नहीं है चुनाव कर और उस रूप होने का पुरुषार्थ कर। अगर पूरा पुरुषार्थ हुआ तो तू वैसा हो सकता है। वैसा बनने की स्वयम् भावना तेरे में है। अगर दूसरे बीज वृक्ष बन सकते हैं तो तू भी बन सकता है तू भी उसी जाति का है। जो बने है वह भी तेरी जाति के थे।

एक वृक्ष पर दो आम लगे हैं एक पक गया है एक कच्चा है। कच्चा कह रहा है पक्के से, कि तू भी पहले मेरे जैसा कच्चा आम था, केरी था। तू केरी से ही आम बना है मेरे में भी आम बनने की शक्ति विद्यमान है मैं भी आम बन कर रहूंगा। मैं भी उसी वृक्ष का फल हूं उसी जाति का हूं जिसका तू है। तेरे मेरे में कोई फरक नहीं है फरक इतना ही है तेरा विकास पूर्ण हो गया है और मेरे में पूर्ण विकास करने की शक्ति विद्यमान है। मैं तेरे जैसा हो जाऊंगा। जब साधक साध्य के सामने जाकर, जब भक्त भगवान के सामने जाकर अपने को बीजरूप और साध्य को फलरूप देखता है तो फल बनने की प्यास जागृत होती है। जब यह समझता है कि मैं भी ऐसा बन सकता हूं तब वह श्रद्धा में तो वैसा बन गया, मात्र प्रवृत्ति में बनना रहा है। वह अपने आपको ऐसा देखता है जैसे ऐसा हो ही गया। जब तक अपने में पड़ी हुई बीजरूप शक्ति को नहीं पहचानता था तब तक पामर था। जब शक्ति को पहचाना तो उस रूप हुआ सा ही अनुभव करने लगा। जिस रोज बीजरूप भगवान को जान लेता है वही (शेष आचरण पृ० ३ पर)

दिगम्बरत्व का क्या होगा ?

■ कुन्दनलाल जैन प्रिन्सिपल

आज जनतंत्र का युग है, जिसका काम जोड़ना है तोड़ना नहीं। जैनधर्म के जहाँ तक प्राचीनतम प्रमाण मिलते हैं वह भी लिच्छवियों के गणराज्य का युग था। लोगो में जहाँ विचारों की विभिन्नता होती थी वहाँ पारस्परिक सोहार्द भी रहता था। भ० महावीर के निर्वाण के कुछ ही वर्षों बाद जैनधर्म दो शाखाओं में विभाजित हो गया।

यद्यपि भारतवर्ष के सांस्कृतिक इतिहास में श्रमण सस्कृति का महत्वपूर्ण योगदान रहा है जो वैदिक सस्कृति के विकल्प के रूप में विकसित हुई थी और विगत ढाई हजार से अधिक वर्षों से भारतीय दर्शनों को प्रभावित करती रही। आज भी श्रमण सस्कृति की दोनों धाराएँ जैन और बौद्ध भारतीय इतिहास को विशिष्ट रूप से रेखांकित कर रही हैं।

प्रकृति का कुछ नियम सा है तथा इतिहास भी साक्षी है कि जब भी कोई धर्म समाज या सम्प्रदाय विकास की चरम परणति पर पहुँचते हैं तो उनमें विखंडन या विभाजन प्रारम्भ हो जाता है, इसी नियम या परम्परा वश जैनधर्म भी दिगम्बर और श्वेतावर दो धाराओं में विभक्त हुआ। आचार्य भद्रबाहु के नेतृत्व में दिगम्बर दक्षिण में तथा आचार्य स्थूलभद्र के नेतृत्व में श्वेताम्बरत्व उत्तर-पश्चिम में बड़े जोरो से विकसित एवं प्रफुल्लित हुआ। दोनों ही सम्प्रदायों में बड़े-बड़े उच्चकोटि के दिग्गज बिद्वान हुए और उत्कृष्ट शास्त्रों की सर्जना हुई और धीरे-धीरे कुछ मौलिक सैद्धान्तिक मत भेदों की सर्जना होती गई। यह सब भ० महावीर ने नहीं सिखाया था अपितु परवर्ती आचार्यों मुनियों एवं विद्वानों की विचक्षण बुद्धि वैभव का कौशल था कि दोनों धारायें दृढ़ से दृढतर होती गई और वट वृक्ष की भाँति विशाल मजबूत होती रही। इन दोनों धाराओं की कुछ उपधारायें भी प्रवर्तित हुई। बीच के काल में कुछ वैमनस्य भी फैला। अस्तु

भ० महावीर की २५सौवीं निर्वाण शताब्दी के अवसर पर प्रयास भी हुए कि जैनियों की सभी धारायें उप-धारायें सम्मिलित होकर जैनधर्म की एक विशाल विस्तृत एवं अगाध जैन गंगाधारा बन जावे पर यह सब कुछ न हो सका। फिर भी कुछ सीमा तक परस्पर बिस्कुल क्षीण रूप से नजदीक तो हुए ही फिर भी कटुता तो बनी ही रही। अस्तु, यहाँ मुझे दिगम्बर सम्प्रदाय में जो कुछ शिथिलाचार फैल रहा है उस पर कुछ टिप्पणी करनी है।

यद्यपि नैतिक दुर्बलता, चारित्रिक पतन, भ्रष्टता एवं शिथिलाचार सभी समाजों, धर्मों में व्याप्त है यहाँ तक कि सम्पूर्ण देश और विश्व भी इन दुर्बलताओं से नहीं बच पा रहे हैं अतः किसी तरह का उपालभ कुछ तर्क संगत तो नहीं ज़रूरता पर जब ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य पर कुठाराघात की नीबट आ जाय तो फिर मन बिलबिलाता तो है ही।

यह सब बड़े खेद और लज्जा का विषय है तथा भ० महावीर की वाणी को कलंकित करना है। खाद्य पदार्थों में मिलावट, घी में चर्बी मिलाना, टैक्सों की चोरी करना, कालाधन जोड़ना, झूठे बिल बनवाना, रेलवे तथा जीवन-बीमा निगम आदि संस्थाओं से जाली Claim वसूलना आदि। जहाँ जैन श्रावक पक्ष को दुर्बलता एवं शिथिलता की उजागर करते हैं वही ये ही श्रावक मुनि वर्ग को भी शिथिल होने में सहयोग देते हैं। उपर्युक्त भ्रष्टताओं में जैन लोग अग्रणी होते जा रहे हैं। अभी सुना है कि दिल्ली के तथा कथित कुछ जैन करोड़ पतियों ने रगून और हांगकांग से बादाम, पिस्ता, किसमिस आदि मूखे फलों के करोड़ों रूपयों के झूठे बिल बनवाये और जहाजों में मेवों की जगह भूसा भरवाकर उन जहाजों को डुबवा दिया तथा L. I. C. से हरजाना वसूलना चाहा पर विदेशी गुप्तचरों की सतर्कता से उनकी जालसाजी का भडाफोड हो गया और अब वे कानून की गिरफ्त में हैं। चर्बी कांड में तो जैन व्यापार

ने ही सारे जैनियों का मस्तक नीचा कर दिया और जैन-धर्म की छवि धूमिल कर दी।

ऐसे ही तथा कथित भ्रष्ट जैनियों के आल में हमारा कुछ त्यागी वर्ग भी फंसा हुआ है। दिगम्बरों में त्यागी जन भी शिथिल होते जा रहे हैं। लगता है कि कालान्तर में त्यागी व साधु मार्ग ही समाप्त न हो जावे। वैसे आज दि० मुनियों की गिनती अंगुलियों पर गिनने लायक रह गई है मुश्किल से सौ सवा सौ ही हों तो कोई अत्युक्ति न होगी उनमें भी कषाय, एवं शिथिलाचार व्याप्त हैं। जिससे लोगों का उनके प्रति आदरभाव भी कम होता जा रहा है यहां तक दूसरे लोग भी दिगम्बर साधु के दिगम्बरत्व का उपहास करते हैं। यदि यही स्थिति चालू रही तो कालान्तर में कोई भी दि० साधु न रहेंगे और जो कुछ क्षुल्लक या ऐलक बनेंगे वे सबस्त्र होंगे तो निश्चय ही श्वे० विद्वानों को यह कहने में तनिक भी संकोच न रहेगा कि दिगम्बरत्व स्वयं में कुछ नहीं अपितु श्वेताम्बरत्व की ही शाखा है यह परिकल्पना मैं अब से भविष्य में दो चार शताब्दी बाद की कर रहा हूं। जब कि कोई दिगम्बर दिखेगा ही नहीं। जरा दूर दृष्टि से संवत् ३००० की कल्पना कीजिए उस समय जब कोई दिगम्बर होगा ही नहीं तो फिर दिगम्बरत्व के अस्तित्व में क्या तर्क और प्रमाण प्रस्तुत किए जा सकेंगे, केवल प्राचीन साहित्य और इतिहास ही दिगम्बरत्व का प्रतीक रह जावेगा। अतः इस दिशा में विद्वानों एवं समाज सेवियों को कुछ सोचना एवं उपाय खोजना चाहिए। जैन साधु भी इस दिशा में आत्मालोचन करे और भविष्य में दिगम्बरत्व लुप्त न हो जावे इस संबंध में कुछ गवेषणात्मक विवेचना करें।

अभी प्रसिद्ध कथा शिल्पी श्री वीरेन्द्र कुमार जैन जो स्वयं दिगम्बरी है का 'अनुत्तर योगी' एक वृहत उपन्यास प्रकाशित हुआ है अभी हाल में सम्भवतः पाचवां भाग प्रकाशित होना है, इसे इन्दौर की दिगम्बर समाज द्वारा स्थापित "महावीर निर्वाण शताब्दी समिति" द्वारा लाखों रुपये खर्च करके प्रकाशित किया जा रहा है। यद्यपि यह एक हल्क ग्रंथ है कोई सैद्धान्तिक विवेचना एवं गवेषणा से परिपूर्ण कोई महत्पूर्ण शास्त्र नहीं है पर इसमें दिगम्बर विरोधी कुछ सैद्धान्तिक विवेचना की है या उद्धरण दिए

हैं जैसे भगवान महावीर के कानों में (जो कि बज्रवृषभ नाराच संहनन के धारी थे) शलाका ठोकना, स्त्री की मुक्ति सबस्त्र मुक्ति आदि दि० सैद्धान्तिक विरोध की बातें अंकित की गई है वे निश्चय ही समादरणीय नहीं हैं। और जब ग्रंथ मुनि श्री विद्यानन्द जी महाराज (जो दि० साधु हैं) को समर्पित हो।

'तीर्थंकर' मासिक पत्रिका के विद्वान सम्पादक डा० नेमीचन्द जी जैन द्वारा श्री वीरेन्द्रकुमार जी से लिए साक्षात्कार में जिन बातों का उल्लेख है निश्चय ही वे दिगम्बरत्व की सीमा के प्रतिकूल हैं। यह साक्षात्कार 'तीर्थंकर' के वर्ष १२ के अंक में प्रकाशित है। ऐसा लगता है कि श्री वीरेन्द्र जी को भ० महावीर के जीवन सबन्धी छोटे-छोटे प्रकरणों को उजागर करने की लालसा सता रही होगी जिनके कि उल्लेख श्वे० साहित्य की चूर्ण, निशी-यिका, आगम आदि ग्रंथों में ही उपलब्ध होते हैं। दि० में नहीं। मैं समझता हूं कि उनकी इच्छा महात्मा बुद्ध के जीवन की बारीकियों के भाँति, जिनका कि उल्लेख जातक कथाओं, त्रिपिटकों सुस्त आदि ग्रंथों में उपलब्ध होता है, उसी तरह भ० महावीर के जीवन की बारीकियों को प्रकाश में लाने की होगी, पर ऐसे विवादास्पद उपन्यास को लिखने से पूर्व उन्हें दोनों सम्प्रदायों के साहित्य और सिद्धान्त का गहन अध्ययन जरूरी था जिससे किसी का अगुली उठाने की जुर्रत न पड़ती। अभी विगत वर्ष प्रसिद्ध कथा शिल्पी, हिन्दी के मूर्धन्य साहित्यकार, शरद बाबू के चित्तेरे श्री विष्णु प्रभाकर जी ने बाहुबली के ऊपर एक नाटक लिखा था जिसे भारतीय ज्ञानपीठ ने प्रकाशित किया है उस नाटक को श्री विष्णु जी ने इतनी कुशलता और चतुराई एवं दोनों सम्प्रदायों की विचारधाराओं का गहन अध्ययन कर लिखा कि दि० या श्वे० किसी को भी कही भी कुछ अंगुली उठाने या आलोचना करने की जगह नहीं छोड़ी, दोनों ही वर्ग उससे पूर्णतया सतुष्ट हैं। यद्यपि विष्णु जी जैनी नहीं हैं फिर भी उन्होंने किसी भी वर्ग के किसी विवादग्रस्त मसले को छुआ ही नहीं जबकि श्री वीरेन्द्र जी जैनी हैं और दिगम्बरी हैं फिर भी विवाद-ग्रस्त मसलों की वे उपेक्षा न कर सके और एकांगी पक्ष को प्रबल बना गये, ऐसा लगता है कि उन्हें अपनी कृति (शेष पृ० २३ पर)

विचारणीय-प्रसंग

‘अनुत्तरयोगी-तीर्थंकर महावीर’ (उपन्यास)

□ पद्मचन्द्र शास्त्री, नई दिल्ली

रचना की पृष्ठभूमि : (लेखक की ज़बानी) :

पद्मभूषण पं० सुमतिबाई जी ने कहा—आप मुनि विद्यानन्द जी महाराज से मिलिए। वे एक मात्र ऐसे व्यक्ति हैं जो संप्रदाय निरपेक्ष रूप में लिखवाना चाहेंगे। महाराज श्री महावीर जी में विराज रहे हैं, मैं परिचय पत्र लिखे देती हूँ। हम श्री महावीर जी पहुँचे। महाराज श्री को पत्र दिया उन्होंने वह पत्र पढ़ लिया और एकान्त में मिलने के लिए कहा। जब मैं उनसे मिलने गया तो उन्होंने मेरा कन्धा पकड़कर कहा—आपके लिए परिचय पत्र की क्या जरूरत है मैं तो आपको खोज ही रहा हूँ। आपकी कलम मुझे चाहिए उपन्यास लिखने के लिए। मेने कहा उपन्यास नहीं लिखूंगा, महाकाव्य लिखूंगा। महाकाव्य के रूप में वह गाथा ज्यादा सफल होगी, ज्यादा आकर्षित करेगी। महाराज श्री ने कहा लिखिए तो आप उपन्यास ही, मैं काव्य भी लिखवा लूंगा। “अनुत्तर योगी” का जन्म श्री महावीर जी में हुआ यों कहिए कि “अनुत्तर योगी का गर्भधारण हुआ, गर्भाधान हुआ वही यह निर्णय लिया गया। फिर इन्दौर से बाबूलाल जी पाटौदी आए उनके साथ फिर श्री वीर निर्वाण ग्रन्थ प्रकाशन समिति के अन्तर्गत अनुबन्धित करने का प्रस्ताव हुआ।” डा० नेमीचन्द्र जी ने प्रूफ रीडिंग में काफी मदद की। केवल प्रूफ रीडिंग में ही मदद नहीं की है। बल्कि “अनुत्तर योगी” का जो स्वरूप है, उसके कलेवर में, मुद्रण में जो सारा परिष्कार किया, उसका जो (फॉर्मेट) में चाहता था, पत्राचार के द्वारा मिलना बहुत कम होता था, आपने (डा० सा० ने) मुझे पूरा-पूरा ग्रहण कर लिया, भीतर से, प्रथम खण्ड से ही.....मेरी कल्पना को साकार किया है।”

—तीर्थंकर वर्ष १२ अंक ७ के अंश : साभार।

लेखक के उक्त बिखरे उद्गारों से स्पष्ट है कि दिगम्बर क्षेत्र (श्री महावीर जी) में दिगम्बर मुनि श्री की भावनानुरूप (जन्मन) दिगम्बर लेखक द्वारा ‘अनुत्तर योगी’—तीर्थंकर महावीर (उपन्यास) का निर्माण हुआ और इन्दौर की (दि० जैन) ग्रन्थ प्रकाशन समिति से प्रकाशित हुआ—सभी ‘प्रसंग दिगम्बरी’ हैं। अभी तक प्रकाशित हुए चार भागों की कुल पृष्ठ संख्या १५४७ और मूल्य ११०-०० रुपए है। पाचवां भाग लेखनाधीन है। इतने बृहद उपन्यास में प्रभूत द्रव्य का व्यय (दिगम्बर-धर्मावलम्बियों द्वारा) हो जाना साधारण सी बात है।

ग्रंथ के कुछ प्रसंग (जो दि० परम्परा के सर्वथा विपरीत हैं) :

जब हमने अनेकान्त में समालोचना करने की दृष्टि से उक्त ग्रंथ को पढ़ा तो बड़ा धक्का लगा। हमने ग्रंथ में महावीर के मुख से कहलाए गये निम्न स्थल देखे—

१. “एक सुन्दर चाँदी की चोकी वहाँ अतिथि के पड़-गाहन को प्रस्तुत थी। मैंने उस पर पग धारण किया।” (भाग २ पृ० ६)
२. “सर्वार्थसिद्धि जैसी आत्मोन्नति की उर्ध्वश्रेणियों पर आरुढ़ होकर भी कभी-कभी आत्माएं नारकी और निर्यंच योनियों तक में आ पड़ती हैं।”

(भाग २ पृ० ५१)

३. “उस हवेली के द्वार पर कोई द्वारापेक्षण करता नहीं खड़ा है। आतिथ्य भाव से शून्य है वह भवन। ठीक उसी के सम्मुख खड़े होकर श्रमण ने पाणिपात्र पमार दिया। गवाक्ष पर बैठे नवीन श्रेष्ठि ने लक्ष्मी के मद से उद्ण्ड ग्रीवा उठाकर अपनी दासी को आदेश दिया :—

किंचना, इस भिक्षुक को भिक्षा देकर तुरन्त विदा कर

हैं। दासी भीतर जाकर काष्ठ के भाजन में कुलमाष घ्राण्य ले आई और श्रमण (महावीर) के फँसे कर-पात्र में उसे अवज्ञा के भाव से डाल दिया।”

(भाग २ पृष्ठ १५२)

४. “ना कुछ समय में ही ग्वाला कही से कास की एक सलाई तोड़ लाया। उसके दो टुकड़े किए। फिर निपट निर्दय भाव से उसने श्रमण के दोनों कानों में वे सलाईयां देहिचक खोस दी। तदुपरान्त पत्थर उठाकर उन्हें दोनों ओर से ठोकने लगा।”

(भाग २ पृ० २१२)

५. (सलाईयां ठुकी और वेदना की अवस्था में) ‘सिद्धार्थ बणिक के द्वार पर अंजुली पमार दी है’…… ‘विपुन केशर, मेवा, द्राक्ष से मधुर और सुगन्धित पयस उसने मेरे कर-पात्र में डाल दिया है। उसके घूट कण्ठ से नीचे उतारने में जो कष्ट हो रहा है, वह पास ही खड़े श्रेष्ठि के परममित्र खरक वैद्य ने लक्ष्य कर लिया।”

(भाग २ पृष्ठ २१४)

६. “सिद्धार्थ और खरक वैद्य आवश्यक औपधि उपचार के साधन लेकर उद्यान में दौड़े आए हैं। मेरे शरीर को पचासन में ही ज्यों का त्यों उठाकर एक तेल की कुण्डी में बिठा दिया गया है।……फिर दो व्यक्तियों ने……संढासियां लेकर, दोनों कानों के शूलो पर पकड़ बैठाकर एक साथ उन्हें पूरी शक्ति से खींचा।……उस क्षण बरबस ही मेरे मुख से एक भयकर चीख निकल पड़ी। ऐसी वेदना की अनुभूति हुई, जैसे कोई बज्रवाण ब्रह्माण्ड के हृदय को भेदकर मेरे आर पार निकल गया हो।” (भाग २ पृ० २१५)
७. “कांटों और डालो के खूप जाने के कारण अमह्य वेदना से शरीर टीसने लगता है।”

(भाग २ पृष्ठ १०)

८. “चम्पा पट्टव कर अपने पांचों शिष्यों (साल, महा-साल, गागली, पिठर और स्त्री यशोमती) सहित श्री गौतम समवशरण मे यों आते दिखाई पड़े जैसे वे पांच सूर्यों के बीच खिने एक सहस्रार कमल की तरह चल रहे हैं। पांचों शिष्यों ने गुरु को प्रणाम कर, आदेश चाहा। गौतम उन्हें श्री मण्डप में प्रभु के समक्ष

लिवा ले गए फिर आदेश दिया कि—आयुष्यमान मुमुक्षुओं, श्री भगवान का वन्दन करो। वे पांचों गुरु आशा पालन को उद्यत हुए कि हठात् शास्ता महा-वीर की वर्जना सुनाई पड़ी—केवली की आशातना न करो, गौतम ! ये पांचों केवलज्ञानी अर्हन्त हो गए हैं। अर्हन्त, अर्हन्त का वन्दन नहीं करते।”

(भाग ४ पृ० २८४-२८५)

इसी प्रकार बहुत से प्रसंग दिगम्बरों के आगमों के विपरीत हैं, जिन्हें भावी पीढ़ी प्रमाण रूप में प्रस्तुत करेगी और अनायास ही दिगम्बर के विपरीत मार्ग की पुष्टि होगी। हमने ऐसे ही कतिपय प्रसंगों के आधार पर प्रकाशन संस्था से बिनती की, कि वे ग्रंथ में दिगम्बर सिद्धान्तों (कथानकों) के विपरीत आए प्रसंगों का स्पष्टीकरण करें कराएं। तथाहि—

भाग २ पृष्ठ ६ पंक्ति ३-४ क्या दि० मुनि चाँदी की चौकी पर चरण रख सकता है ?

भाग २ पृ० ५१ प. २०-२१ क्या सर्वार्थसिद्धि का जीव नरक, त्रियंचगति में जा सकता है ?

भाग २ पृ. १५२ प. १२-१८ क्या द्वारापेक्षण बिना, दासी के द्वारा अवज्ञापूर्वक दिया आहार मुनि ले सकता है ?

भाग २ पृ. २१२ पं. २५-३० वज्रवृषभनाराच सहनन में कीले ठुक सकते हैं क्या ?

भाग २ पृ. २१४ पं. २५-४६ क्या मुनि उपसर्ग दशा में आहार को जा सकते हैं ?

भाग २ पृ. २१५ प. २८-३५ तेल की कुण्डी में बिठाकर मर्दन किया जाना और मुख से चीख निकलना महावीर में संभव है क्या ?

भाग २ पृ. १० प. २३-२५ असह्य वेदना से शरीर टीसना महावीर में कैसे ठीक है ?

भाग ४ पृ० १६० प० २३-२७
समवशरण (केवली अवस्था) में उपसर्ग (तेजोलेण्या का) दिगम्बरों में मान्य है ?

भाग ४ पृ० १६० पं० २८ समवशरण में हाहाकार संभव है क्या ?

- भाग ४ पृ० २८४ प० २१- १. यशोमती स्त्री का अर्हन्त होना क्या स्त्री और सवस्त्र मुक्ति की संपुष्टि नहीं ?
२. क्या दिगम्बर महावीर गणधर को वर्जना करेंगे ? या गणधर पाँचों के अर्हन्त होने को न जान सके होंगे ?

इसी प्रकार के बहुत से अन्य प्रश्नों का निराकरण करना पड़ेगा। हमारा भाव था कि—

विज्ञ पुरुष भली भाँति जानते हैं कि अकलक प्रभृति दि० पूर्वाचार्यों ने आगमों को कैसी-कैसी विपरीत परिस्थितियों में सरक्षित और प्रचारित किया है इस युग में भी हमारे विद्वानों को “सजद” जैसे शब्द के सवध में पुनरीक्षण करना पड़ा था और आज भी “सत” आदि शब्दों के प्रासंगिक अर्थ विचारणीय बने हुए हैं। आज कही आगम के मूल शब्दरूप बदले जा रहे हैं और कहीं शब्दार्थ। यदि शोध के नाम पर आगम के मूल शब्द रूपों, अर्थों या भावों में परिवर्तन लाने का प्रयास इसी भाँति होता रहा या आगमों के मन्तव्यों के विपरीत अन्य नवीन ग्रन्थों का प्रकाशन और प्रचार होता रहा तो दिगम्बरों के आगमों के मूल मन्तव्य और महापुरुषों के दिगम्बर मान्य जीवन और अर्थ्य लोगों की दृष्टि से ओझा हो जाएँगे तथा लोग दिगम्बर आचार-विचार से भी ही हो जाएँगे।

‘अनुत्तर योगी तीर्थंकर महावीर’ संप्रदाय-निरपेक्ष के नाम पर तैयार ऐसी ही रचना है, जिसमें जाने-अनजाने मात्र सौष्ठव के मिस, दिगम्बर सिद्धान्तों के विपरीत ऐसा बहुत कुछ बन पड़ा है जो भविष्य में दिगम्बरों के विरुद्ध प्रमाण रूप में प्रस्तुत किया जा सकेगा। यतः—इस ग्रन्थ के निर्माण में सभी दि० स्तम्भों का प्रमुख हाथ है।

संप्रदायातीत दृष्टि का अर्थ किसी के सिद्धान्तों की काट नहीं, अपितु बहिरंग अन्तरंग दोनों मार्गों में समन्वय है। लोग बहिरंग साम्प्रदायिक चिह्नों से तो चिपके रहे और अन्तरंग सिद्धान्तों की काट करे ये कैसी संप्रदायातीत दृष्टि है ? क्या संप्रदायातीत दृष्टि पेश करने के लिए दिगम्बर मुनि वस्त्र पहिनना और वस्त्र वाले दिगम्बर

वेश धारण करना स्वीकार करेंगे ? या वे मिलकर एक चर्या आदि को स्वीकार करेंगे ?

समाज के नेता और लेखक प्रभृति जरा सोचें, कि वे यश और अर्थ अर्जन को प्रमुखता देने के लिए लोगों को भरमाना पसन्द करेंगे या दिगम्बर आगमों और उनके मन्तव्यों की सु-क्षा का मार्ग पसन्द करेंगे ?

उक्त ग्रन्थ ‘मन्त्रदृष्टा पूज्य श्री विद्यानन्द स्वामी’ को समर्पित होने से ही हम सा नहीं समझते कि ऐसे विरुद्ध स्थलों को स्वामी जी की स्वीकृति होगी। वे दिगम्बरों के श्रद्धास्पद गुरु हैं, दिगम्बर सिद्धान्त, चर्या आदि पर वे कभी आँच न आने देंगे। वे तो दिगम्बर धर्म सस्था के संरक्षणार्थ अनशनादि तक के पञ्च-धर हैं। हमारी धारणा है कि यदि मुनि श्री विद्यानन्द जी को विरुद्ध-स्थलों को पढ़ाया वा दिखाया होता तो वे विसंगत प्रसंग न होते।

लेखक को हम क्या कहें ? वे तो सिद्ध-हस्त प्रसिद्ध लेखक हैं। उन्होंने भाषा-मौम्य और लम्बी कथा के लक्ष्य में सैद्धान्तिक विसंगतियों के उभार को किनारे रख दिया। फिर वे यह कह भी चुके हैं कि “दि० और श्वे० आगम तथा इतिहास में उल्लेख नथों का चुनाव मैंने निरान्त अपनी मृजनात्मक आयुष्प्रकृता के अनुसार किया है।” उक्त अनुबन्ध प्रकाशकों को स्वीकार हुआ प्रतीत होता है जो भावी पीढ़ी को विचलित करने में कारण बनेगा।

क्या अनुत्तर-योगी धर्म-ग्रंथ नहीं है ?

कहा जा रहा है ‘अनुत्तर-योगी’ धर्मग्रंथ नहीं है—यह काव्यमय उपन्यास है और उपन्यास में कल्पना की छूट है, आदि। पर, इससे क्या हम ऐसा मान लें कि चारों पुरुषार्थों में यह रचना ‘अर्थ पुरुषार्थ’ मात्र का फल है। यतः इसे धर्म-पुरुषार्थ तो माना नहीं जा रहा और काम और मोक्ष पुरुषार्थ से इसे सर्वथा वर्जित रखा गया है यतः इनकी पुष्टि भी ग्रन्थ से नहीं होती।

हम यह मानते हैं कि कवि और लेखक को अपने रचना में कल्पना की स्वतन्त्रता है पर, किसी प्रसंग में भी कल्पना वस्तु स्थिति की पुष्टि से विरुद्ध नहीं होनी चाहिए। अपितु वस्तु-स्थिति को स्पष्ट करने में सहायी

होनी चाहिए। फिर, जब महावीर जीवन के कुछ प्रसंगों और आगम के कुछ सिद्धान्तों में पंथ-भेद हो और ग्रन्थ का निर्माण दिगम्बर संस्था द्वारा संप्रदाय-निरपेक्ष दृष्टि से कराया गया हो तब तो विरोध-परिहार और भी आवश्यक है जो ग्रंथ में नहीं हुआ, अपितु दि० सिद्धान्तों के विरुद्ध काफी कुछ लिखा गया है।

लेखक का बारम्बार निर्देश होने पर भी और यह विदित होने पर भी कि लेखक इसमें अधिक उपयोग श्वेताम्बर-मान्यताओं का कर रहा है। दिगम्बर प्रकाशन समिति और सम्बन्धित व्यक्तियों का यह कर्तव्य था कि वे संप्रदाय-निरपेक्ष ग्रंथ में से ऐसे प्रसंगों को हटाने का संकेत देते जिनसे दिगम्बरों के सिद्धान्तों का खंडन होता हो।

स्मरण रहे—सभी पाठक अन्तिम निर्देशिका, परिशिष्ट, परिप्रेक्षिका आदि पढ़ने के अभ्यासी नहीं होते। कई तो पूरा ग्रंथ भी नहीं पढ़ते। ऐसे में ग्रंथ के मुखपृष्ठों पर भी मोटे टाइप में लिखा देना चाहिए था कि—कथानक में श्वेताम्बर-मान्यताओं का बाहुल्य है और सैद्धान्तिक स्थलों में दिगम्बर-श्वेताम्बर मतभेद भी है उस पर ध्यान न दिया जाय आदि। फिर, ऐसे प्रकाशन की आवश्यकता ही क्या आ पड़ी थी। इसके प्रकाशन के बिना ही दि० प्रकाशन-समिति उद्देश्य-पूर्ति कर रही थी। ये उल्टा दुष्प्रचार ही हुआ है। हमने समणसुत भी पढ़ा है उसमें विरोध को नहीं छुआ गया—‘अनुत्तर योगी’ का स्तर भी वैसा ही अविरोधी होना चाहिए था।

ये सब हम इसलिए लिख रहे हैं कि आज जनता की रुचि आगम के पठन-पाठन में दिन पर दिन कम होती जा रही है। विशेषकर नई-पिढ़ी के बाल-युवा सभी का ध्यान प्रकाशित नवीन पुस्तकों और पत्रिकाओं पर ही रहता है—वे उन्हीं के आधार पर अपनी श्रद्धा और ज्ञान को पुष्ट करते हैं, उनकी दृष्टि यह भी नहीं होती कि ये किस श्रेणी का साहित्य है। ऐसे में विपरीत श्रद्धान के अवसर

अधिक हो सकते हैं—जिनका निराकरण होना चाहिए था।

पाठक विचारें कि यदि कहीं किसी सरकारी स्कूली पाठ्यक्रम में कोई विरोधी बात लिख दी जाती है तब हम ही उसका विरोध करते हैं कि यह बात हमारे सिद्धान्त के विरुद्ध क्यों लिखी गई? यह प्रकाशन तो दिगम्बरों के द्वारा दिगम्बर सिद्धान्तों का स्वयं ही घात है। उक्त सभी प्रसंग पाठकों के समक्ष सम्मत्यर्थ प्रस्तुत हैं। कृपया पाठक अपनी सम्मति भेजकर अनुग्रहीत करें। हम उसी के आधार पर “ग्रंथ समीक्षा” करेंगे। यतः ग्रन्थ हमें समीक्षार्थ प्राप्त है। और बीरसेवा मन्दिर कार्यकारिणी ने भी हमें यह कार्य सौंपा है। हाँ,

अन्त में हम उन सभी दि० संस्थाओं से, और विद्वानों से कर-बद्ध निवेदन करते हैं कि वे जहाँ बाहरी रूपों और टीप-टायप पर विशेष दृष्टि रखते हों—वहाँ आगम के मूल तथ्यों को सुरक्षित रखने पर भी विशेष बल दें। व्यवहार बदलने वाला है—पर आगम में वर्णित मूल तत्व सदा एक रूप और अपरिवर्तनशील है—उनकी रक्षा से ही दिगम्बर-रत्न की रक्षा होगी बाहरी आडम्बर या जय-जयकार से नहीं। बीर नि० ग्र० प्रकाशन समिति से भी हमारी कर-बद्ध प्रार्थना है कि वह दिगम्बर सिद्धान्तों के संरक्षण और प्रचार में सरसेठ हुकुम चन्द जी साहब की मर्यादाओं को कायम रख इन्दौर के नाम और सेठ साहब के संकल्प को अधुण रखे। यतः—वर्तमान काल में इस क्षेत्र में शीत-राग देव का सर्वथा अभाव है और परम दिगम्बर गुरुओं का समागम भी यदा-कदा होता है। ऐसे में श्रावकों और जिज्ञासुओं को आगम-मात्र का सहारा है; उसके हार्द को सुरक्षित रखने और तदनुकूल साहित्य को प्रकाशित करने कराने से ही दिगम्बर धर्म की रक्षा है। समिति सतत जागरूक रहे ऐसी हमारी भावना है।

बीर सेवा मन्दिर
नई-दिल्ली

साहित्य-समीक्षा

भारतीय धर्म एवं अहिंसा :

लेखक : सिद्धान्ताचार्य प० कैलाशचन्द्र शास्त्री, वाराणसी
प्रकाशक : श्री राजकृष्ण जैन चैरी० ट्रस्ट, दरियागज दिल्ली
साइज : २३ × ३६ × १६ पेज २१६, मूल्य : २५ रु० ।

विद्वद्भर सिद्धान्ताचार्य प० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री की यह पुस्तक 'भारतीय धर्म और अहिंसा' अनेक अर्थों में एक विशिष्ट और विलक्षण कृति है, अहिंसा, भारतीय विचार पद्धति, और विशेषकर जैन दर्शन तथा जैन जीवन चर्या का मूलभूत सिद्धान्त है। इस विषय पर अनेक पुस्तकें लिखी गई हैं। जैनधर्म से सम्बन्धित कोई भी सम्मेलन हो, कोई भी आयोजन या सगोष्ठी हो जिसमें किसी भी वक्ता को धर्म या दर्शन पर कुछ बोलना हो, अहिंसा की धुरी पर ही उसके विचारों का चक्र घूमेगा। इसी बीज पर विषय का पादप पनपेगा, पल्लवित और पुष्पित होगा। महान् आचार्यों ने अहिंसा पर जो चिन्तन किया है, मन वचनकाय की भूमिका पर इसे प्रस्थापित करके आश्रव, बन्ध और निर्जरा का जो व्यापक ससार रचा है, वह विश्व के समग्र दर्शन शास्त्र, मनोविज्ञान और समाज शास्त्रीय अध्ययन में अपूर्व और अद्भुत है कि भारतीय प्रज्ञा इससे गौरवान्वित हुई है। बड़ी बात यह कि अहिंसा-चिन्तन के इतने बड़े प्रसार के जीवन के साथ जोड़ने की कला भी जैन तीर्थंकरों और आचार्यों की देन है। अहिंसा के विचार और व्यवहार को गहरी छाप अन्य धर्म-प्रवर्तकों के चिन्तन और जीवन निर्देश में प्रतिबिम्बित है। ऋग्वेद के ऋषियों की ऋचाओं से लेकर गांधी अरविन्द और बिनोबा के वचनों प्रवचनों तक यह परंपरा चली है। अहिंसा-दर्शन राजनीति में सत्याग्रह के रूप में अवतरित हुआ और उसने इतिहास में चमत्कार उत्पन्न किया। अहिंसा के चिन्तन और प्रतिपादन में हिंसा स्वभाव आता है, किन्तु अब तक हिंसा के विद्रूप की लोमहर्षक, प्राणों को हिला देने वाली छवि आखों से भोझल रखी गई

है। कारण यह कि इससे अनेक धार्मिक सम्प्रदायों के ऋषियों और महापुरुषों की छवि धूमिल होती है। 'धूमिल' शब्द तो बहुत शिष्ट है—वास्तव में उनके द्वारा प्रतिपादित हिंसक विधान मुख पर कालिख पोत देता है।

सिद्धान्ताचार्य पंडित कैलाशचन्द्र जी ने अहिंसा के कल्याणकारी स्वरूप को तो दर्शाया ही है, उनका मुख्य विषय और ध्येय भी यही है, किन्तु उन्होंने साहस के साथ उन बोभत्स सदमों को और क्रियाकांड तथा विधि-विधान की उन कुत्सित छवियों को उकेरा है जहां मनुष्य पशु से भी नीचे उतरकर इसी दुनिया में, इसी मानव समाज में नर्क को सगरीर उतार लाता है।

पंडितजी ने जब यह व्याख्यान श्री राजकृष्ण जैन चेरिटेबल ट्रस्ट द्वारा दिल्ली विश्वविद्यालय के अन्तर्गत स्थापित श्री राजकृष्ण जैन स्मृति व्याख्यान माला में विश्वविद्यालय के मंच से विद्वानों और बौद्धिक वर्ग के सामने प्रस्तुत किया तो श्रोताओं में बैठे-बैठे मैं इतना बेचैन हो गया कि मैंने चाहा कि कहूँ—पंडित जी, इस प्रसंग को बन्द कर दें। मुझे डर था कि विवाद उठ खड़ा होगा और उस कर्मकाण्ड तथा विधिविधान को अपनी धार्मिक परम्परा का अंग मानने वाले विरोध करेंगे और कहेंगे कि जो प्रतीकों और अलंकारों में कही गई है, उसे पंडित जी स्थूल शाब्दिक अर्थों में प्रस्तुत करके धार्मिक परम्परा की निंदा कर रहे हैं। किन्तु किसी एक भी विद्वान, एक भी श्रोता ने चू नहीं की। कोई करता भी कैसे क्योंकि एक-दो सदम हों तो प्रतीक खोजने का मानसिक श्रम किया जावे, यहाँ तो हिंसा के कुत्सित व्यापार की एक पूरी परम्परा और कड़ी से कड़ी जोड़ने वाले सदमों की एक पूरी शृंखला ही सामने आ गई। क्या किया जाये। पंडित जी ने विषय के प्रति न्याय करने के लिए कितना अध्ययन किया है, प्रमाण जुटाने में कितना श्रम किया है—देख सुनकर आश्चर्य होता है ! रोगटे खड़े कर देने वाले चित्रों

का चितेरा किस प्रकार वाणी का कलाकार बनकर प्रणम्य हो जाता है, यह पं० जी ने अपने व्याख्यान की उन दो संध्याओं में प्रमाणित कर दिया।

मैं समझता हूँ जब पंडित जी ने व्याख्यान का विषय निश्चित किया—‘भारतीय धर्म और अहिंसा’ तब उनके मन में विषय की सीमा इतनी ही रही होगी कि यह प्रतिपादित किया जाये कि आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभनाथ के युग में अहिंसा का जो स्वरूप निर्धारित हुआ उसका ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य क्या था और फिर अहिंसा का स्वरूप वैदिक धर्म में पौराणिक युग की श्रमण सस्कृति में तथा बौद्ध धर्म में वह क्या रहा। किन्तु जब वह अपना भाषण लिखने बैठे तो अहिंसा के सदर्थ को आधुनिक युग के चिन्तन, समस्याओं, प्रश्नों को जीवन-पद्धति और सामाजिक परिप्रक्ष्य से जोड़कर व्याख्यायित करने की आवश्यकता को वह दृष्टि से ओझल नहीं कर सके। यही कारण है कि अहिंसा पर लिखी जाने वाली पुस्तकों में यह अद्यतन और अद्वितीय है। ‘मासाहार और शाकाहार,’ ‘औषधि-उपचार और अहिंसा,’ ‘गांधी जी और अहिंसा,’ ‘विश्वशान्ति और अहिंसा,’ ‘अहिंसा और वीरता में भेद,’ अहिंसा और शास्त्रीय दण्ड विधान,’ आदि अनेक विषयों को मौलिक ढंग से उठाया है और अहिंसा के दृष्टिकोण को प्रतिपादित किया है। तात्पर्य यह है कि विद्वानों में पंडित कैलाशचन्द्र जी ऐसे हैं जिनका शास्त्रीय ज्ञान गहराई में तो विशिष्ट है ही, पंडित जी आधुनिक जीवन की समस्याओं से भी साक्षात्कार करते हैं और इसीलिए उनकी जैन दर्शन की व्याख्या आधुनिक युग के जिज्ञासुओं और श्रोताओं को आकर्षित करती है।

जैनधर्म में अहिंसा का स्वरूप क्या है—महाव्रत और अणुव्रत की भूमिका तथा स्वरूप क्या है, हिंसा के १०८ प्रकार क्या है आदि अनेक विषयों को सुबोध ढंग से समझाया गया है। विस्तार के साथ-साथ सारसंक्षेप भी देते गये हैं ताकि विवेचन हृदयगम हो जाये। जैनी अहिंसा के मूल सिद्धान्त (पृष्ठ १४१), गांधी जी द्वारा प्रतिपादित

अहिंसा के सिद्धान्त (पृष्ठ १५४), जैनधर्म और बौद्ध धर्म की अहिंसा में तात्त्विक दृष्टिकोण का भेद (पृष्ठ ८६) आदि प्रसंग सार्थक हैं।

पुस्तक की शैली के विषय में दो शब्द कहना आवश्यक है। पंडित जी में यह कला है कि वह दुरूह से दुरूह विषय को सुलझा कर सामने रख देते हैं। पुस्तक में स्थान-स्थान पर रोचक कथा-प्रसंग पाठक को प्रमुदित करते हैं। पंडित जी का अध्ययन इतना व्यापक है कि वेद, पुराण, उपनिषद्, महाभारत के सदर्थ सहजता से जुड़ते चले जाते हैं। उत्तर-रामचरित का वह प्रसंग यथा स्थान जुड़ गया है जहाँ वाल्मीकि के आश्रम में महर्षि वशिष्ठ के पधारने पर उनके सत्कार में बछिया का वध किया गया है। वहाँ और दो शिष्यों का वार्तालाप चलता है :

‘हां।’

“अच्छा, वशिष्ठ ऋषि आये हैं ?”

“हां ?”

“मैंने तो समझा कि कोई व्याघ्र या भेड़िया आया है।”

“अरे क्या बकते हो।”

“उसने आते ही बेचारी कल्याणिका गौ को खा डाला।”

नाटक का यह अंश पंडित जी की शैली के कारण जीवित और सटीक हो गया है।

विद्वत्ता का गुण बौद्धिकता माना जाता रहा है। पं० कैलाशचन्द्र जी ने ‘इसमें रोचकता’ का आयाम जोड़कर भी बौद्धिकता को अक्षुण्ण रखा है।

यह पुस्तक ऐसी है कि इसका अनुवाद यदि भारतीय भाषाओं में और विदेशी भाषाओं में किया जाये तो सांस्कृतिक जगत को पंडित जी की यह देन व्यापक रूप से प्रबुद्ध, प्रेरित और उपकृत करेगी।

—लक्ष्मीचन्द्र जैन
निदेशक, भारतीय ज्ञानपीठ
नई दिल्ली

जरा-सोचिए

१. नेता के विचार और हम ?

१. मैं सत्य कहता हूँ, बिल्कुल शुद्ध हृदय से कि मुझे लेकर कोई (अमृत) स्नोहोत्सव मने—इस पक्ष में मैं नहीं हूँ। मैं नहीं चाहता, इसे लोग इस या उस तरह मनावे। मैंने तो अपने दिल्ली-बम्बई के मित्रों और सहयोगियों से निवेदन किया है कि वे मुझे अपनी शुभ कामनाये दे, यही मेरा पाथेय है।

२. हमें कुछ आदर्श स्थापित करने होंगे। पौत्र चिन्ता की शादी हुई जितना भी देना चाहा सब स्कार कर दिया। इसी प्रकार दूसरे बच्चों की शादी जब होगी, मेरा मन है, उन सब में भी हम कुछ नहीं लेंगे।

३. केवल प्रचार-प्रसार से काम नहीं चलेगा, वस्तुन हमें स्वयं कुछ जिम्मेदारी उठानी चाहिए कम से कम उम्र क्षेत्र में जिनमें कि हमारा विश्वास है।

४. आज हमारे यहाँ तनाव, पागलपन, कलह, राग-द्वेष बहुत बढ़ गये हैं।

५. मेरे हिसाब से, जो अप्रमत्त (शिथिलाचारी नहीं) शास्त्रोक्त मुनियों के प्रति भक्ति-भाव रखता है, वह मुनि-भक्त है।

६. मुनि वह बने जिसे शास्त्र का सम्यक्ज्ञान हो और तदनुसार असदिग्ध आचरण की तैयारी हो।

७. आज मुनियों को आहार देने की प्रक्रिया काफी जटिल और व्ययसाध्य बन गयी है। मामूली आदमी आहार देने की हिम्मत नहीं कर पा रहा है।

८. हमारे दादा जी कहा करते थे, पण्डित जी आये हैं बेटा ! इनके पैर पड़ो ! इनके लिए खाना खुद परोसकर लाओ। आज यह बात नहीं है। अब कोई किसी के पैर नहीं पड़ता। नौकर, या ब्राह्मण खाना परोसता है। जो सम्मान-सत्कार की भावना थी, वह लुप्त हो गई है।

—श्री साहू श्रेयांसप्रसाद जैन के उद्गार
(‘तीर्थंकर’ से साभार)

२. चोर जगा रहे हैं ?

चोरी क्यों होती है और किसकी होती है ? ये सोचने की बात है। जिन-भगवान् बीतराग हैं, मन्दिर और मंदिर के उपकरण सभी उनके नहीं। ये तो शुभ-रागियों द्वारा शुभ-रागभाव में निमित्त रागियों के भवन हैं और उनके बहुमूल्य भौतिक उपकरण भी रागियों के ही। जिन-शासन में बीतराग-भाव की महिमा है और बीतरागभाव के साधन जुटाने के उपदेश।

अब परम्परा कुछ ऐसी बनती जा रही है कि लोग मन्दिरों और मूर्तियों में भौतिक सम्पदा देखने-दिखाने के अभ्यासी बन रहे हैं—वे सासारिक विभूति का मोह छोड़ने के स्थान पर, बीतराग-भाव की प्राप्ति में साधनभूत-मन्दिरों, मूर्तियों में सासारिक विभूति देखने लगे हैं। कोई चादी, मोने और हीरे की मूर्तियाँ बनवाते हैं तो कोई बहुमूल्य छत्र-चमर सिंहासन आदि। और यह सब होता है नाम, ख्याति, यश और प्रतिष्ठा के लिए—लोग चाहते हैं नाम लिखामा आदि। यह मार्ग सर्वथा त्याज्य है।

जब लोगो ने राग-त्याग के बीतरागी उपदेश की अवहेलना की तब चोरो ने थप्पड़ मारकर उन्हें सचेत किया और वे मार्ग पर आने का मजबूर होने लगे हैं। अब वे कह रहे हैं—

सादा मन्दिर में सादा मूर्ति, वह भी विनाश पाषाण-निमित्त होनी चाहिए—जिससे बीतरागता मिलके।

लोगों की इस प्रक्रिया से क्या हम ऐसा मान लें कि जिन्होंने बीतरागता की अवहेलना की उन्हें चोरो ने थप्पड़ मारकर सीधे मार्ग पर लाने का उपाय ढूँढा है। असली बात क्या है ? जरा सोचिए ? और यह भी सोचिए कि लोगो को सादगी और बीतरागता की ओर डालने के अन्य उपाय क्या हैं ?

३. 'प्रचार बातों से या आचरण से ?

दिगम्बरत्व वस्तु का स्वरूप—धर्म है और इसका भाव नग्नत्व से है। जब कोई वस्तु आवरण अर्थात् चिकार

रहित निर्मल स्वरूप में प्रकट होती है तब उसका वह रूप दिगम्बरी होता है और दिगम्बरी रूप को प्रकट करने के मार्ग अथवा सिद्धान्तों का अवलम्बन लेने वाला दिगम्बर मार्गी कहलाता है। जैन तीर्थंकरों ने इसी मार्ग का अवलम्बन ले स्वयं दिगम्बरत्व की प्राप्ति की और इसी मार्ग को दूसरों के लिए उजागर किया। जो लोग दिगम्बर-रूप अथवा दिगम्बर मार्ग को सम्प्रदाय की सजा देते हैं, वे भ्रम में हैं। यतः—सम्प्रदाय पूर्वाग्रहों से—पर-विकल्पो से प्रेरित—मलिनमार्ग है और दिगम्बरत्व वस्तु के निर्मल-स्वाभाविक स्वरूप की प्राप्ति का मार्ग। फलतः ऐसा समझना चाहिए कि जब कही सम्प्रदायातीत दृष्टि का नाम लिया जाय तब वहाँ वस्तु का स्वरूप अथवा दिगम्बरत्व ही लक्ष्य है और इसी लक्ष्य प्राप्ति का आदर्श मार्ग तीर्थंकरों का मार्ग है, इसे ही धारण करना चाहिए।

लोग वर्षों से शोध-खोज की बातें करते हैं, इतिहासों में तत्कालीन वेष-भूषा रीति-रिवाज आदि का अध्ययन करते हैं, मिट्टी पाषाणों कलाकृतियों में तीर्थंकरत्व धर्म और दिगम्बरत्व की प्राचीनता खोजते हैं। और तो और ऐसे लोग भी, जिन्हें पेय-अपेय, खाद्य-अखाद्य और सामिष निरामिष का तनिक विचार नहीं, जो स्वयं जैनानुकूल देवदर्शन, पूजन, स्वाध्याय आदि से सर्वथा अछूते हैं, जिन्हें सांसारिक विषय वासना, कीर्ति के साधन जुटाने से फुरसत नहीं, वे दिगम्बरत्व के अनुरूप जैन की शोध खोज और प्रचार-प्रसार की बातें करते हैं।

ध्यान रहना चाहिए कि किसी सभा सोसायटी की सदस्यता या अधिकारीपने से, ऊपरी ग्रन्थ-ज्ञान होने से अथवा मीटिंगों में खुले बाहरी मंचों पर भाषण झाड़ने से कुछ भी हाथ आने का नहीं, उल्टा दृष्टप्रचार ही होगा। यदि वास्तविक दर्द है तो दिगम्बरत्व के अनुरूप क्रिया के आचरण को, अपने जीवन में उतारना होगा। जब हम क्रिया-रूप में स्वयं परिणत होंगे—तब बिना प्रयत्न के ही प्रचार होने लगेगा। पूज्यवर्णी गणेश प्रसाद जी के शब्दों में—‘यदि हम अपने सिद्धान्त पर आढ़ हो जावें—उसी के अनुसार प्रवृत्ति करने लगे तो अन्य लोग हमारे सिद्धान्त को अच्छी तरह हृदयगत कर लेंगे। परन्तु हम लोग अपने सिद्धान्तों को अपने आचरण या प्रवृत्ति से तो दिखाते नहीं,

केवल शब्दों द्वारा बतलाने का प्रयत्न करते हैं—उसका प्रभाव लोगों पर नहीं पड़ता।—जरा सोचिए असलियत क्या है ?

४. भूल जो आज भी दुहराई जा रही है !

समाचारों से स्पष्ट है कि १५० वर्ष पूर्व एक भूल किन्ही दि० जैन भट्टारक महाराज ने कुम्भोज पहाड़ी का एक मन्दिर, मन्दिरमार्गी श्वेताम्बरों को देकर की; बाद में पहाड़ी पर उन्हें धर्मशाला बनाने दी। जिसका दुष्परिणाम आज उभर कर सामने आया और फल-स्वरूप बाहुबली की मूर्ति पर पत्थर फेंके गए और त्याग के मूर्त रूप, तपस्वी ज्ञान प्रसारक ६२ वर्षीय वृद्ध दिगम्बर मुनि समन्तभद्र महाराज का अपमान हुआ। जिसके निराकरणार्थ मुनि श्री विद्यानन्द जी महाराज को अनशन व अन्न-त्याग करना पड़ा है और सारी दि० समाज संतप्त और चिन्तित है। अन्य तीर्थों पर तो वर्षों से विवाद चलते ही रहे हैं। आज भी दि० जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी को उन्हीं में उलझे रहना पड़ रहा है। ऐसे में सावधानी की आवश्यकता है।

हमारा मन्तव्य है कि हम देश और प्रान्त की अखण्डता, सामाजिक सद्व्यवहार और सदाचार के प्रचार प्रसार के मामले में सभी पंथ-सम्प्रदायों से कन्धे से कन्धा भिड़ाकर चलें—एक दूसरे का सहयोग करें। पर धर्म संबंधी सैद्धान्तिक और आचार-विचार मूलक सद्-परम्पराओं को आँच न आने दें, एक में दूसरे के समावेश को प्रश्रय न दें। यदि हम इसमें सावधानी न बरतेंगे तो कालान्तर में किसी की भूल का प्रायश्चित्त किसी दूसरे को इसी भाँति करते रहना पड़ेगा जिस प्रकार भट्टारक महाराज की भूल का परिमार्जन आज हम दिगंबरों के गुह कर्मठमुनि श्री विद्यानन्द जी महाराज को करना पड़ रहा है और दि० समाज चिन्तित है। दि० मन्दिरों में श्वेताम्बरी मूर्ति रखाना, दि० प्रकाशनों में श्वेताम्बरीय बातों—कथानकों का समावेश कराना, तीर्थक्षेत्रों में साक्षेदारी बरतना आदि जैसी भूलें भी इसी जाति की हैं, जिन्हें दुहराया जाना आज भी बन्द नहीं है और जो परम्परा को तो लोप करेगी ही कालान्तर में वे किसी कोर्ट में भी हमें दुखदाई हो सकेंगी।

जरा सोचिए ! इस आपदा को टालने के प्रयत्न कैसे किये जायें ?

—सम्पादक

वीर सेवा मन्दिर के वर्तमान पदाधिकारी तथा कार्यकारिणी समिति के सदस्य

१. साहू श्री अशोककुमार जैन	अध्यक्ष	६, सरदार पटेल मार्ग, नई दिल्ली
२. न्यायमूर्ति श्री मांगीलाल जैन	उपाध्यक्ष	३०, तुगलक क्रीसेण्ट, नई दिल्ली
३. श्री गोकुल प्रसाद जैन	उपाध्यक्ष	२, रामनगर पहाड़गंज, नई दिल्ली
४. श्री सुभाष जैन	महासचिव	१६, दरियागंज, नई दिल्ली
५. श्री चक्रेशकुमार जैन	सचिव	३, दरियागंज, नई दिल्ली
६. श्री बाबूलाल जैन	"	२/१०, दरियागंज, नई दिल्ली
७. श्री नन्हेंमल जैन	कोषाध्यक्ष	७/३५, दरियागंज, नई दिल्ली
८. श्री इन्दर सैन जैन	सदस्य	४, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली
९. श्री ओमप्रकाश जैन एडवोकेट	"	४७४१/२३, दरियागंज, नई दिल्ली
१०. श्री अजित प्रसाद जैन ठेकेदार	"	५-ए/२८, दरियागंज, नई दिल्ली
११. श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन	"	बी-४५/४७, कनाँट प्लेस, नई दिल्ली
१२. श्री भारतभूषण जैन एडवोकेट	"	१, दरियागंज, नई दिल्ली
१३. श्री विमलप्रसाद जैन (डेपू)	"	२१-ए, दरियागंज, नई दिल्ली
१४. श्री अजितप्रसाद जैन	"	२१-ए, दरियागंज, नई दिल्ली
१५. श्री अनिलकुमार जैन	"	२७७०, कुतुब रोड, दिल्ली
१६. श्री रत्नत्रयधारी जैन	"	५, अल्का जनपथ लेन, नई दिल्ली
१७. श्री दिग्दर्शन चरण जैन	"	४६६२/२१, दरियागंज, नई दिल्ली
१८. श्री मल्लिनाथ जैन	"	१, दरियागंज, नई दिल्ली
१९. श्री मदनलाल जैन	"	सी-६-५८, डेवलपमेण्ट एरिया, सफदरजंग, नई दिल्ली
२०. श्री दरयाबसिंह जैन	"	७/२३, दरियागंज, नई दिल्ली-२
२१. श्री नरेन्द्रकुमार जैन	"	४८४१-ए/२४, दरियागंज, नई दिल्ली

(पृष्ठ २६ का शेषांश)

से परमात्मा बनने का पुरुषार्थ जागृत हो जाता है। सबसे बड़ी जरूरत इसके भीतर परमात्मा बनने की प्यास पैदा करना है। परमात्मा के दर्शन करना, शास्त्र का अध्ययन करना इन सबका प्रयोजन उसमें परमात्मा बनने की प्यास पैदा करना है।

हमारे एक तरफ पशुता है एक तरफ परमात्मपना, बीच में हम खड़े हैं अगर इधर बढ़ते हैं तो परमात्मता दूर होती जाती है अगर उधर बढ़ते हैं तो पशुता दूर होती जाती है परमात्मपना नजदीक होने लगता है।

जब यह अपने में बीज देखने लगेगा तो सभी जीवात्मा उसे बीजरूप दिखाई देने लगेंगे। यह फरक हो सकता है कोई कम विकसित है और कोई कुछ ज्यादा। परन्तु बीजपना तो विद्यमान है और जब सभी बीजरूप दिखाई देने लगेंगे तो प्रेम जागृत होगा हिंसा वृत्ति बह जायेगी। वह प्रेम मानव तक ही सीमित नहीं होगा परन्तु जीवमात्र तक फैल जायेगा अथवा कहना चाहिए वह प्रेममय हो जायेगा।

□□

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुस्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द । ...	४ ५०
जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द । ...	६-००
जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह । १३ पत्र ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित । स. पं. परमानन्द शास्त्री । सजिल्द ।	१५ ००
समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति, पं० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित	५-५०
अथर्ववेदगोल और दक्षिण के ग्रन्थ जैन तीर्थ : श्री राजकुण्ड जैन ...	३-००
ग्याय-वीपिका : आ० अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा स० अनु० ।	१०-००
जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द ।	७-००
कलापपाहुडसुत : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण तूणिमूत्र लिखे । सम्पादक पं० हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री । उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में । पृष्ठ कागज और कपड़े की पक्की जिल्द । ...	२५-००
जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा श्री रतनलाल कटारिया	७-००
ज्वाणकृत (ध्यानस्तव सहित) : संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री	१२-००
आवक धर्म संहिता : श्री वर्यार्थसिंह सोबिया	५-००
जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : सं० पं० बालचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री	प्रत्येक भाग ४०-००
जिन शासन के कुछ विचारणीय प्रसंग : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, बहुचर्चित सात विषयों पर शास्त्रीय प्रमाणयुक्त तर्कपूर्ण विवेचन । प्राक्कथन : सिद्धान्ताचार्य श्री कैलाशचन्द्र शास्त्री द्वारा लिखित	२-००
Jain Monuments : टी० एन० रामचन्द्रन ...	१५-००
Reality : आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद । बड़े आकार के ३०० पृ., पक्की जिल्द	८ ००

आजीवन सदस्यता शुल्क : १०१.०० रु०

वार्षिक मूल्य : ६) रु०, इस अंक का मूल्य : १ रुपया ५० पैसे

विद्वान् लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र होते हैं । यह आवश्यक नहीं कि सम्पादक-मण्डल लेखक के विचारों से सहमत हो ।

सम्पादक परामर्श मण्डल— डा० ज्योतिप्रसाद जैन, श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, सम्पादक— श्री पद्मचन्द्र शास्त्री
प्रकाशक— रत्नत्रयधारी जैन, वीर सेवा मन्दिर के लिए, कुमार बादस प्रिंटिंग प्रेस के-१२, नवीन शाहदरा,
दिल्ली-३२ से मुद्रित ।